बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रकला

लेखक

डॉ0 श्रीमती मधु श्रीवास्तव

प्रकाशक

उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : मार्च, 2002

प्रतियाँ : 500

मूल्य : रुपया 250/-

चित्रांकन : डॉ0 श्रीमती मधु श्रीवास्तव

प्रकाशक :

निदेशक

उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र

(संस्कृति विभाग, भारत सरकार की एक स्वायत्तशासी संस्था)

14, सी.एस.पी. सिंह मार्ग, इलाहाबाद-211 001

मुद्रक :

आकांक्षा इन्टरप्राइजेज, इलाहाबाद

दूरभाष : 441589

बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रकला - डॉ0 श्रीमती मधु श्रीवास्तव

प्राक्कथन

लोक-चित्रकला की उत्पत्ति हृदय की भावना है। भारतीय चित्रकला में क्षेत्रीय लोक-चित्रकला सदैव मूल्य रूप में विराजमान रही है। क्षेत्रीय लोक-चित्रकला में स्थानीय, जातीय, धार्मिक व सांस्कृतिक तत्वों का समावेश रहता है। लोक जीवन में उसका विशेष स्थान है। लोक चित्रों में जीवन का स्वभाविक आनन्द, रस तथा सार निहित होता है। लोक चित्रकला का नैसर्गिक सौन्दर्य तथा बह्य भाव ही उसे राष्ट्रीय से अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर ले जाने में समर्थ है। इस दृष्टि से बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला अत्यन्त समृद्ध तथा प्रभावशाली है।

बुन्देलखण्ड का इतिहास गौरवमयी है वह वीर भूमि के नाम से विख्यात है। बुन्देलखण्ड के इतिहास तथा साहित्य पर अनेक ग्रंथ प्रकाश में आये हैं। किन्तु कला व संस्कृति से सम्बन्धित साहित्य व प्रदर्शन नगण्य रहा है।

उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र का उद्देश्य सदैव क्षेत्रीय कला व संस्कृति के संरक्षण तथा संवर्द्धन का रहा है। उत्तर मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद की महात्मा गाँधी कला वीथिका में वर्ष 2000 में डॉ0 श्रीमती मधु श्रीवास्तव के लोक चित्रों की प्रदर्शनी के समय मैंने यह अनुभव किया कि बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रकला पर अभिलेखीकरण की आवश्यकता है और डॉ0 मधु श्रीवास्तव द्वारा इस कार्य को सक्षम रूप से सम्पादित किया जा सकता है मुझे प्रसन्नता है कि इसी श्रृंखला में बुन्देली लोक-चित्रकला के अभिलेखीकरण के उद्देश्य से ''बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रकला'' की सचित्र पुस्तक केन्द्र द्वारा प्रकाशित की जा रही है। आशा है डॉ0 मधु श्रीवास्तव द्वारा लिखित यह पुस्तक बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रों की परम्परा को स्वर्णिम भविष्य की ओर ले जायेगी तथा केन्द्र के उद्देश्यों की पूर्ति हेतु सहायक सिद्ध होगी।

नवीन प्रकाश
आई.ए.एस.
निदेशक

संवाद

'सत्यं-शिवं-सुन्दर' के भाव को समाहित किये चित्रकला की जननी लोक-चित्रकला सम्पूर्ण भारत में अतीत से वर्तमान तक जीवनी शक्ति के समान सम्बद्ध है। वह हमारे जीवन के सुख व उल्लास से जुड़कर बिना किसी आश्रय, प्रोत्साहन और अवलम्बन के निरन्तर प्रवाहित हो रही है। उसका स्वच्छंद तथा अटूट स्वरूप हमारी संस्कृति एवं पारंपरिक कलाओं का महत्वपूर्ण पक्ष है। मानव-जीवन में होने वाले सोलह संस्कार रीति-रिवाज एवं तीज त्योहारों पर बनने वाले भूमि व भित्ति चित्र तथा आलेखन लोक चित्रकला के मूर्त पक्ष है।

सम्पूर्ण भारतवर्ष में लोक-चित्रकला का व्यापक स्वरूप देखने को मिलता है। किन्तु प्रत्येक क्षेत्र की अपनी 'लोकात्मकता' होती है जिसका प्रभाव लोक-चित्रों में प्रतिबिम्बित होता है। इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में तीज-त्योहारों तथा जीवन पर्यन्त चलने वाले मांगलिक उत्सवों, अनुष्ठानों आदि अवसरों पर किया जाने वाला चित्रांकन लोक मन की अभिव्यक्ति करता है।

यह अनुभव मुझे 1994 में उ0प्र0 संस्कृति विभाग की ओर से 'बुन्देलखण्ड का लोक जीवन' के सर्वेक्षण कार्य करते समय हुआ कि बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला भी अन्य क्षेत्रों की लोक-चित्रकला के समान समृद्ध है। किन्तु उसे प्रोत्साहन एवं प्रदर्शन के उचित अवसर प्राप्त नहीं हुए जिससे देश-विदेश का कला क्षेत्र उसके सौन्दर्य से अपरिचित हैं। मैंने इसी विचार से लोक चित्रकला हेतु पुनः शोध-सर्वेक्षण किया। वर्ष 1996 में सर्वेक्षण के माध्यम से प्राप्त लोक-चित्रों को मौलिक माध्यमों (चूना, गेरु, गोबर, मिट्टी तथा चूने के रंगों) से बनाकर वर्ष 1998 में प्रदर्शित किया। लोक-चित्रकला पर लगातार शोध आलेख भी लिखे।

अपने समस्त शोध लेखन एवं सर्वेक्षण अनुभवों को संग्रहीत कर ''बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला'' में संजोने का प्रयास किया है।

पुस्तक की संरचना एवं उसकी उपादेयता बनाने में स्व0 श्री शंकरलाल मेहरोत्रा (झांसी), डा0 ज्ञानेन्द्र पाण्डेय प्रभारी निदेशक, आयुर्वेद अनुसंधान केन्द्र, (झांसी), डा0 शुभेष (झांसी), स्व0 श्रीमती पुष्पा ठुकरैल, निदेशिका, श्रीमती रजनी अरजरिया (दतिया), राजकीय संग्राहालय झांसी, डा0 विजय लक्ष्मी दुबे (सागर), श्रीमती शीला श्रीवास्तव (ललितपुर), श्रीमती माधुरी देवी (टीकमगढ़), सुश्री निधिसेन (सागर) ने उपकृत किया।

कला अभिरुचि रखने वाले मेरे पिता श्री चन्द्रभान सिंह एवं मात श्रीमती कुमुदलता तथा बुन्देलखण्ड के मूर्धन्य साहित्यकार मेरे श्वसुर श्री अवधेश जी तथा सास श्रीमती श्री कुंवर के स्नेह और आशीर्वाद से ही मैं यह कार्य पूर्ण कर सकी। पारिवारिक स्वजनों के सहयोग को भी भुलाया नहीं जा सकता।

मेरे जीवन साथी श्री दिनेश जी का मित्रवत व्यवहार तथा आत्म सम्बल देने से और पुत्र अपूर्व एवं पुत्री अंकिता का स्नेहपूर्ण सहयोग ही पुस्तक लेखन जैसे कठिन कार्य को सरल बना सका।

श्री नवीन प्रकाश, निदेशक, उत्तर-मध्य क्षेत्र सांस्कृतिक केन्द्र, इलाहाबाद (उ.प्र.) की मैं विशेष रुप से आभारी हूं, जिन्होंने विषय में रुचि दिखाई तथा पुस्तक लेखन हेतु मुझे प्रोत्साहित किया। पुस्तक का सुन्दर कलेवर प्रदान करने हेतु केन्द्र के डा0 अजय पाण्डेय, प्रशासनिक अधिकारी, श्री अतुल द्विवेदी, कार्यक्रम अधिकारी तथा डा0 लालता प्रसाद द्विवेदी, प्रकाशन अधिकारी की भी मैं आभारी हूँ।

''बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला'' के इस शोध कार्य में जिन सहृदय मित्रों एवं सहयोगियों ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष रूप से मुझे सहयोग दिया उनका आभार। इसी के साथ बुन्देलखण्ड के प्रत्येक ग्राम व शहर में रहने वाली समस्त महिलाओं को मेरा भावपूर्ण आभार जो विभिन्न मांगलिक अवसरों पर लोक चित्रण कर, समृद्ध बुन्देली लोक-चित्रकला की संरक्षक तथा संवाहक बनी हैं।

सुधीजन पाठकों से अनुरोध है कि पुस्तक को सम्पूर्ण न मानकर लोक-चित्रकला सामग्री संकलन का लघु प्रयास मानें। पुस्तक में वृहद बुन्देलखण्ड क्षेत्र को मैंने समग्रता देने का प्रयास किया है। क्षेत्र के प्रत्येक भाग में थोड़ी बहुत भिन्नता के साथ चित्रांकन किया जाता है। यदि आप सबका सहयोग मिला तो विषय संवर्द्धन हेतु प्रयासरत रहूँगी।

बुन्देलखण्ड की लोक-चित्रकला के क्षेत्र में अभी बहुत कार्य तथा संभावना है। आशा है क्षेत्र के मूर्धन्य विद्वान विषय की गम्भीरता तथा महत्व को दृष्टिगत रखकर अपनी लेखन प्रतिभा का प्रयोग करेंगे।

बुन्देली लोक-चित्रकला के सुखद भविष्य आशा सहित।

मधु

डॉ0 (श्रीमती) मधु श्रीवास्तव
380/1, सिविल लाइन्स
बी0 के0 डी0 कालेज के सामने, झाँसी
फोन : (0517) 443474
फैक्स : 0517-331917

दिनांक : 26 मार्च, 2002

अनुक्रमणिका

<u>अध्याय–1</u>

बुन्देलखण्ड का स्वरूप, राजनैतिक परिदृश्य एवं सीमांकन

बुन्देलखण्ड का स्वरूप

वर्तमान में बुन्देलखण्ड के नाम से प्रसिद्ध क्षेत्र का इतिहास अत्यंत प्राचीन है। कालान्तर में इसे अनेक नामों से प्रसिद्धि प्राप्त हुई बुन्देलखण्ड सदा अपनी वीरता, पराक्रम, शौर्य, धार्मिकता और कला के लिये विख्यात रहा है। बुन्देलखण्ड के प्राचीन नाम–चेदि, दशार्ण, आटविक, मध्यदेश, जैजाक भुक्ति रहे हैं। ऐतिहासिकता के आधार पर यह मौर्यकाल, गुप्तकाल, राजा हर्षवर्धन के समय तथा परवर्तीकाल में स्वतंत्र प्रदेश न रहकर किसी प्रदेश विशेष के अंर्तगत रहा है। बुन्देलखण्ड का प्राचीन नाम 'दशार्ण' अर्थात दस नदियों का देश, वे दस नदियाँ क्रमशः केन, धसान, पहूज, बेतवा, सिन्ध, जमुना, नर्मदा, टोंस, जामनेर तथा चम्बल है। नदियों के अतिरिक्त विध्यांचल की पर्वत श्रेणियां भी इस क्षेत्र की ऐतिहासिक गरिमा को बढ़ाती है। विख्यात विध्यांचल पर्वत का वर्णन पौराणिक ग्रन्थों और घटनाओं में आता है।

इसी आधार पर हम यह कह सकते है कि पृथ्वी और प्रकृति के साथ ही बुन्देलखण्ड क्षेत्र का अस्तित्व है। हमारे देश की अमूल्य और प्रामाणिक निधि है वेद–पुराण। उन्हीं के आधार पर हम प्राचीन घटनाओं व्यक्ति व स्थान की प्रामाणिकता का विवेचन करते है। संस्कृति का काल, सत्यता तथा सार्थकता भी उन्हीं मे निहित है।

वैदिक कालीन यजुर्वेद का अभ्युदय यहीं हुआ था इसी कारण यह क्षेत्र "यजुर्होति" कहलाया बाद में अपभ्रंश होकर आर्य संस्कृति में जैजाक भक्ति तथा 'जुझौति' के नाम से प्रतिष्ठित हुआ बुन्देलखण्ड विन्ध्यांचल पर्वत की अनन्त श्रेणियों से आवृत है इस कारण इसे "विन्ध्य इलाखण्ड" के नाम से भी जाना जाता रहा है। संस्कृत में 'इला' का अर्थ है पृथ्वी अर्थात विंध्याचल की श्रृंखलाओं से घिरी पृथ्वी या विंध्य क्षेत्र की पृथ्वी।

कात्यायन, कौटिल्य तथा कालीदास आदि विद्वानों ने अपनी कृतियों में 'दशार्ण' शब्द का उल्लेख किया है। अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने दशार्ण क्षेत्र में पैदा होने वाले हाथियों को उत्तम कहा है।

''दशार्ण त्रवां पराजित''

कात्यायन ने ''वार्तिक सिद्धान्त कौमुदी'' में वर्णित किया है –

''दशार्ण देश नदी च दशार्णा''

यहाँ दशार्ण शब्द का अर्थ है ''दस नदियों वाला'' पुराणों में दशार्ण (धसान) नदी के कारण भी दशार्ण नाम उदधृत किया गया है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की पौराणिक स्थिति का ज्ञान हमें रामायण कालीन घटनाओं में भी मिलता है श्री राम ने अपने वनवास का प्रथम काल चित्रकूट और उसके आस पास के क्षेत्रों में व्यतीत किया था। श्री राम के वनवास का प्रारम्भिक काल बुन्देलखण्ड के सुरम्य प्राकृतिक सुषमा के मध्य अत्यन्त सुख पूर्वक व्यतीत हुआ रामायण में वर्णित है कि जब श्री राम चित्रकूट छोड़कर जाने लगे तब निषाद राज ने यहाँ की महत्ता तथा सुन्दरता का वर्णन कर श्री राम को रोकने का प्रयास किया था।

भगवान शिव ने कालिंजर में कालकूट विषपान कर उसका प्रभाव जीर्ण किया था इसी कारण स्थान का नाम 'कालिंजर' नाम पड़ा। सम्पूर्ण विवरण 'कालिंजर महात्मय' में मिलता है। गरूण पुराण में कालिंजर को महातीर्थ, अग्नि पुराण में परमतीर्थ तथा पद्म पुराण में उत्तम तीर्थ कहा गया है। कालिंजर की पर्वत श्रृंखलाऐं वैदिक कालीन ऋषि मुनियों की तपो भूमि रही हैं। चित्रकूट से आठ मील की दूरी पर कर्बी के पास लालपुर और बागरेही की पर्वत श्रेणियाँ ऋषि वाल्मीकि की तपोभूमि थीं। इसी स्थान पर श्रृषि वाल्मीकि ने रामायण का पाठ लव--कुश को स्वयं सुनाया था। निःसंदेह यह स्थान प्राचीन काल से धार्मिक स्थल रहा है। अयोध्या के राजा अज द्वारा अजय गढ़ भी बुन्देलखण्ड क्षेत्र में स्थापित किया गया था। ऋषि बामदेव का जन्म स्थान और तपोभूमि बुन्देलखण्ड में ही थी जो कालान्तर में बाँदा के नाम से जानी गईं ईस्वी से हजारों वर्ष पूर्व विकसित क्षेत्र तथा पर्वत श्रृंखलाओं का वर्णन वाल्मीकि रामायण में प्राप्त होता है। श्रीकृष्ण के समकालीन शिशुपाल की राजधानी 'चन्देरी' थी। नल दमयंती की गाथा भी इसी क्षेत्र की है। कालपी ऋषि वेद व्यास की तपोभूमि के रूप में आज भी जानी जाती है। दशार्ण के राजा हिरण्यवर्मा की पुत्री का विवाह पांचाल के राजा शिखंडी के साथ हुआ था। ऋषि पाराशर ने 'पाराशन' ग्राम को अपना साधना स्थल बनाया था।

दुराचारी राजा हिरण्यकश्यप ने अपने पुत्र प्रहलाद की प्रभु भक्ति से अप्रसन्न होकर उसे पहाड़ की चोटी से फिकवाया, आग में जीवित जलाने का प्रयत्न किया किन्तु असफल होने पर अंत में अग्नि से तप्त खम्भे से बांध दिया। तब प्रहलाद की रक्षा के लिये भगवान विष्णु ने नृसिंह अवतार लिया। इतिहासकारों और पुरातत्व वेत्ताओं के अनुसार यह घटनाक्रम एरच तथा उसके आस पास के क्षेत्र में हुआ था। कालान्तर में बुन्देलखण्ड हैहय तथा कलचुरी प्रदेश के नाम से विख्यात हुआ। कलचुरी नरेश

राजा कर्णदेव ने केन नदी के किनारे कर्णवारा नामक नगर बसाया था जो आज भी कनवारा के नाम से बांदा के समीप स्थित है। पाल कालीन अभिलेखों से भी हमें ज्ञात होता है कि राजा कर्णदेव ने ही कर्णवती नामक नगर की स्थापना केन नदी के किनारे की थी। जबलपुर के पास से प्राप्त गुप्त कालीन शिला लेखों के आधार पर पन्ना का पूर्व नाम पद्मावती था जो ऋषि दधीचि की कर्म भूमि थी। बुन्देलखण्ड के सुरम्य वन और पर्वत ऋषि बृहस्पति, अंगिरा, परशुराम, द्रोणाचार्य, मारकण्डेय एवं वाल्मीकि आदि की तपस्या स्थली रही है। उन्होने लोक कल्याण की भावना से यहां तपस्या तथा अनेक यज्ञ किये।

महाभारत के वन पर्व में तुंगकारण्य का जो वर्णन है। उसके अनुसार वह स्थान ओरछा से बेतवा के पूर्वी किनारे पर स्थित माना गया है। पुराणों के अनुसार महर्षि सारस्वत ने तुंगारण्य में तपस्या करते हुये अन्य ऋषियों को वेदों का अध्ययन कराया था।

बुन्देलखण्ड की प्रसिद्ध बेतवा नदी है जिसका पौराणिक नाम वेत्रवती है। वेत्रवती नदी का वर्णन बाराह पुराण में मिलता है वे वेत्रासुर की माता हैं। कथानुसार सिंध द्वीप के राजा ने इंद्र को पराजित करने हेतु घोर तपस्या की। तब वरूण की पत्नी वेत्रवती ने प्रगट होकर उन्हें विजय का आर्शीवाद दिया। आर्शीवाद के फलस्वरूप वेत्रवती के पुत्र वेत्रासुर ने इन्द्र को पराजित किया।

टीकमगढ़ स्थित कुण्डेश्वर नामक स्थल में भगवान शिव प्रगट हुये थे। श्रीमद् भागवत के दशम स्कन्ध के अनुसार राजा वाणासुर की पुत्री उषा ने जब देवी पार्वती के आर्शीवाद से कृष्ण के पौत्र अनिरूद्ध को पतिरूप में माना तब पाणिग्रहण के अवसर पर उषा ने भगवान शंकर से प्रगट होने की प्रार्थना की, फलस्वरूप कुण्डेश्वर (भगवान शिव) प्रगट हुये।

उपरोक्त समस्त पौराणिक तथ्यों के आधार पर बुन्देलखण्ड का अस्तित्व अति प्राचीन है। परिस्थितियों के अनुसार नाम तथा स्वरूप परिवर्तित होते रहे हैं।

''बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला'' के विषयान्तर्गत हम बुन्देलखण्ड के पौराणिक इतिहास की प्राभाणिकता को ही केन्द्र–बिन्दु मानेंगें। चूंकि लोक–चित्रकला जन–सामान्य की आस्था विश्वास और धार्मिकता पर आधारित होती है। इस कारण उसके चित्रण में आकृति प्रतीक और माध्यम आदि का अलग–अलग महत्व होता है। पौराणिक घटनाक्रम और धार्मिक ग्रन्थ ही उन्हें प्रामाणिकता प्रदान करते हैं। यही प्रामाणिकता ही आदिकाल से वर्तमान तक लोक–चित्रण को जीवित रखे हैं।

राजनैतिक परिदृश्य

किसी भी क्षेत्र से जुड़े विषय पर विवेचना करने से पूर्व अनेक बिन्दुओं पर क्रम वार ध्यान देना आवश्यक है। उन प्रमुख बिन्दुओं मे से क्षेत्र का राजनैतिक परिदृश्य परम आवश्यक है। क्रमशः कौन–कौन शासक हुये तथा उनके शासन काल में हुये परिवर्तनों के आधार पर ही जन–सामान्य की जीवन शैली तथा अभिरूचियाँ परिवर्तित होती रहती है।

मौर्यकाल में कौशाम्बी से वत्स तक के सम्पूर्ण भू–भाग पर मौर्यों का साम्राज्य था। सम्राट अशोक के समय विदिशा (भेलसा) उसके राज्य का प्रमुख भाग था। बौद्ध धर्म की दीक्षा लेने के बाद अशोक ने सांची में बहुत से बौद्ध मठ, चैत्य और स्तूपों का निर्माण कराया। सम्राट अशोक की मृत्यु के पश्चात् बुन्देलखण्ड क्षेत्र पुष्यमित्र शुंग के अधीन रहा। तत्पश्चात् अग्नि मित्र ने यवनों को परास्त कर इस प्रदेश पर अपना अधिकार कर लिया। गुप्तकालीन शासकों का प्रभाव इस क्षेत्र में दीर्घकाल तक रहा। ललितपुर के पास देवगढ़ में स्थित दशावतार मंदिर जोकि गोविंद गुप्त द्वारा छठवीं शती में निर्मित बताया है। जबलपुर के पास से प्राप्त गुप्त कालीन शिला लेखों से हमें ज्ञात होता है कि पन्ना का पूर्व नाम पद्मावती था। 326 ई0 से 336 ई0 के मध्य समुद्रगुप्त ने इस क्षेत्र को जीता और अगले दो सौ वर्षों तक गुप्तों के अधीन रहा। उस काल में गुप्त कालीन कला और संस्कृति अपनी चरम सीमा पर रही। वासुदेव विष्णु मिराशी के अनुसार समुद्रगुप्त से पूर्व सं0 306 (सन् 249 ई0) में चेदि राज्य की स्थापना कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को हुई थी जिसके कारण यह क्षेत्र चेदि राज्य के नाम से विख्यात हुआ। गुप्त वंश के पतन के पश्चात् इस क्षेत्र में नई सत्ता स्थापित हुईं चीनी यात्री ह्वेनसांग ने इस क्षेत्र को हर्ष के राज्य का अंग मानकर इसे 'चि–चि–टो' प्रदेश का नाम दिया तथा आधुनिक खजुराहो को राजधानी लिखा है। लगभग 649 ई0 तक यह प्रदेश हर्ष के अधीन रहा।

650 ई0 तक यह प्रदेश गौडेंबाना के नाम से जाना जाता रहा था। शुंगकाल और गुप्तकाल तक बने हुये मंदिर स्थापत्य कला के अनूठे उदाहरण हैं। वही स्थापत्य शैली, प्रतिहार राजाओं द्वारा आठवीं से दसवीं शताब्दी तक अपनाई गईं झांसी जिले में झांसी–बरुआसागर मार्ग पर जराय मठ टीकमगढ़ जिले में मडखेड़ा और उमरी के सूर्य मंदिर प्रमुख हैं। प्रतिहारों के काल में ग्रेनाइट पत्थर से बने छोटे बड़े अनेक मंदिरों का निर्माण हुआ जो छतरपुर तथा रायपुर जिले में हैं। उसके बाद चंदेलों का शासन हुआ है, यह मुंशी शामलाल ने अपनी पुस्तक ''तवारीख–ए–बुन्देलखण्ड'' में लिखा है। विक्रमी संवत 857 में चंदेल राजा नानुक देव ने इस राजवंश की नींव रखी इसकी पुष्टि राजा धुंगदेव के एक शिला लेख से होती है। परन्तु कुछ इतिहासकार चन्द्रवर्मा को चन्देलवंश का संस्थापक मानते हैं। नानुकदेव के पौत्र जय शक्ति के प्रभाव से इस क्षेत्र का नाम जैजाक भुक्ति पड़ा, ऐसा माना जाता है। इसकी पुष्टि

सन् 1030 ई0 में अलबरूनी के लिखित वर्णन से होती है। उसमें इस क्षेत्र का नाम जा–जा होती लिखा है। जो कालान्तर में 'जुझौति' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसी काल में मुस्लिम आक्रमणों का सिलसिला प्रारम्भ हुआ। निजामुद्दीन एवं फरिश्ता के लेख से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है कि सन् 989 में राजा धंगदेव ने पंजाब के राजा जयपाल की सुवुक्तगीन के विरूद्ध सैनिक सहायता की थी। इसी प्रकार सन् 1008 में धंगदेव के पुत्र गंडदेव ने पंजाब के राजा जयपाल के पुत्र आनंदपाल की महमूद गजनवी के विरूद्ध सहायता की थी। महमूद गजनवी ने चंदेल शासक को पराजित विजय प्राप्त की। समयान्तर में चंदेल शासक कीर्ति वर्मा ने चेदि शासक कर्णदेव को पराजित कर विजय प्राप्त की। वि0 सं0 1166 का खजुराहो से प्राप्त शिलालेख से उपरोक्त घटनाक्रम की ऐतिहासिकता की पुष्टि होती है। महोबा एवं मदन वर्मा के राज्यकाल तथा मदनपुरा के वैभव का वर्णन वि0 सं0 1220 में कालिंजर के शिवमंदिर से प्राप्त लेख से होता है। कीर्ति वर्मा के बाद राजा पर मर्दिदेव चंदेल वंश के अत्यन्त शक्तिशाली शासक हुये हैं जिनका दिल्ली एवं अजमेर के शासक पृथ्वीराज चौहान के साथ 1182–83 में सिरसवागढ़ में युद्ध हुआ था। जिससे चंदेलों की शक्ति का पतन हो गया। सन् 1202 एवं 1208 में कुतुबुद्दीन ऐबक ने आक्रमण कर चंदेल शक्ति को क्षीण बना दिया। चंदेलों का राज्य छोटी–छोटी जागीरों में विभक्त हो गया जिससे दक्षिण में गौंडों और उत्तर में खंगारों का उदय हुआ। गढ़कुण्डार खंगारों की राजधानी के नाम से जाना जाने लगा।

चंदेलों के पराभव के बाद और मुस्लिम शासन काल के मध्य इस प्रदेश में बुन्देलों की सत्ता का उदय हुआ। जिसके कारण यह प्रदेश बुन्देलखण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ। विंध्याचल पर्वत के अंचल में बसा हुआ यह प्रदेश पहले विन्धयेल, फिर बिंदेल और बाद में बुन्देलखण्ड के नाम से प्रसिद्ध हुआ। अन्य मान्यताओं के अनुसार बुन्देलों की उत्पत्ति भगवान रामचन्द्र के वंशजों से हुईं इसी वंश में वि0सं0 731 में गहरवार राजा कर्तराज हुये, जिन्होने काशी में दिवोदास नामक राजपूत राजा से युद्ध जीतकर काशी पर अधिकार कर लिया। राजा कर्तराज ने अपने राज्य को शनि प्रभाव से मुक्त कराने के लिये एक ग्रह निवारण यज्ञ करवाया, जिसके कारण वे ग्रह निवार कहलाये। जो बाद में गहरवार में परिवर्तित हो गया। कर्तराज के बाद उनके पुत्र मिहिर देव के पश्चात् उनके पुत्र वीरभद्र राजा बने। वि0 सं0 1105 में वीर भद्र की मृत्यु के पश्चात् उनके सबसे छोटे पुत्र पंचम शासक बने वे अपने पांच भाईयों में सबसे छोटे थे किन्तु सबसे योग्य थे। अन्य भाईयों के हिस्से में छोटी–छोटी जागीरें आयीं। भाईयों को यह बंटवारा स्वीकार नहीं था। इस कारण उन्होने मिलकर राजा पंचम पर आक्रमण कर दिया तथा उन्हें राज्य से निष्कासित कर दिया। राजा पंचम विंध्यवासिनी देवी के मंदिर में जाकर आराधना करने लगे, जो वर्तमान में मिर्जापुर जिले में विंध्य पर्वत श्रृंखला के पूर्वी छोर पर स्थित है। बैशाख सुदी 14 सं0 1105 तदानुसार शुक्रवार 29 अप्रैल 1048 ई0 को देवी के आर्शीवाद से राजा पंचम ने अपने भाइयों से

युद्ध किया, किन्तु पुनः पराजित हुये। वे फिर देवी की आराधना में मग्न हो गये। घोर तपस्या करने के बाद एक दिन देवी को प्रसन्न करने के उद्देश्य से अपना शीश काट कर देवी के चरणों में चढ़ाने का निश्चय किया। किन्तु जैसे ही उन्होने अपनी तलवार निकाल कर अपनी ग्रीवा पर रखी तभी देवी प्रगट हो गईं और उन्होने राजा पंचम को आत्म हत्या के पाप से रोकते हुये विजयी होने का वरदान दिया। इसी घटनाक्रम में पंचम की ग्रीवा से रक्त की कुछ बूंदे देवी की प्रतिमा के सम्मुख गिर गई जिस कारण पे पंचम बुन्देला के नाम से प्रसिद्ध हुये। शब्द 'बून्द' से बुन्देला शब्द की उत्पत्ति मानी जाती है।

देवी के आर्शीवाद से संवत 1113 में हुये युद्ध में राजा पंचम विजयी हुये। उनके वंशज 'बुन्देला' के नाम से प्रसिद्ध हुये। राजा पंचम की मृत्यु के पश्चात् सं0 1128 (सन् 1071 ई0) में उनके पुत्र वीर सिंह राजा बने उन्होने लगभग 16 वर्ष तक राज्य किया। उन्होने राज्य का विस्तार किया और माहोनी (जि0 जालौन) को अपनी राजधानी बनाया। उनके वंश में तीसरी पीढ़ी में राजा सोहनपाल ने सं0 1313–14 (सन् 1257 ई0) में खंगार राजा हुरमत सिंह को हरा कर गढ़कुण्डार पर अधिकार किया तथा उसे अपनी राजधानी बनाया। राजा सोहनवाल की मृत्यु के बाद उन्ही के वंश के राजा मलखान सिंह ने साम्राज्य विस्तार के उद्देश्य से सन् 1478 ई0 में बहलोल लोदी से युद्ध किया। मलखान सिंह की मृत्यु के पश्चात् रूद्र प्रताप देव गढ़कुण्डार की गद्दी पर बैठे। वे योग्य शासक थे। बुन्देलखण्ड में अपनी शक्ति का प्रसार करके रूद्र प्रताप ने अपना प्रभाव बढ़ा लिया। बैशाख सुदी 3 सं0 1588 को रूद्र प्रताप देव ने अपनी राजधानी गढ़कुण्डार से ओरछा स्थानांतरित की। उनके शासन काल में ओरछा में बुन्देलों का महत्व बढ़ता गया।

कालान्तर में सन् 1531 ई0 में ही राजा रूद्र प्रताप देव एक गाय को शेर के पंजे से छुड़ाने में बुरी तरह से घायल हो गये और कुछ दिन बाद उनकी मृत्यु हो गयी। राजा रूद्र प्रताप देव के बारह पुत्र थे – भारती चन्द, मधुकरशाह, उदयाजीत, कीरतशाह, भूपतशाह, अमानदास, चंदनदास, दुर्गादास, घनश्याम दास, प्रयागदास, भैरवदास और खंडेराय। सन् 1531 से सन् 1554 ई0 तक भारतीचंद ने ओरछा में शासन किया। पारिवारिक विवाद के कारण राजा रूद्र प्रतापदेव की दूसरी रानी मेहरबान कुँवर अपने पुत्र उदयाजीत (रूद्र प्रताप के तीसरे पुत्र) को साथ लेकर कटेरा में रहने लगीं। वहीं उदयाजीत ने महोबा राज्य की स्थापना की। उन्ही के वंशज चम्पतराय और छत्रसाल ने आगे चलकर पन्ना तथा छतरपुर तक बुन्देलों की शक्ति का प्रसार किया।

भारती चंद के बाद ओरछा में मधुकर शाह राजा हुये। जिनका संघर्ष मुगल सम्राट अकबर के साथ चला। मधुकर शाह के शासनकाल में ओरछा का विस्तार सबसे अधिक हुआ। उनकी रानी गणेश कुंवरि राम की भक्त थी। धार्मिक किंवदन्ति के अनुसार वे राम को अयोध्या से लेकर आईं थीं तथा

उन्होंने ओरछा में राम राजा की स्थापना की। इसी वंश में बाद में वीर सिंह देव प्रतापी राजा हुये। उनका नाम अबुल फजल का वध करने के कारण सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में प्रसिद्ध हुआ। वे जहांगीर के समकालीन थे। उनके शासनकाल सन् 1605–27 ई0 में ही ओरछा में जहांगीर महल का निर्माण हुआ जिसे हिन्दु–मुस्लिम स्थापत्य कला का बेजोड़ नमूना कहा जाता है। उस समय ओरछा में विकसित वीरता, साहस, धार्मिक, सौहार्द की भावना का प्रभाव सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में फैल गया। वि0सं0 1660 में वीर सिंह जूदेव प्रथम को सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड का राजा घोषित किया गया। वे जन प्रिय, धार्मिक तथा प्रजा पालक शासक थे। उनका देहावसान वि0सं0 1682 में हुआ। उनके आठ पुत्र थे – जुझार सिंह, हरदौल, पहाड़ सिंह, चन्द्रभान, माधौसिंह, भगवान राय, नरहरदास और बेनीदास। उनके ज्येष्ठ पुत्र जुझार सिंह गद्दी पर बैठे। उनके भाई हरदौल सिंह सेना नायक के पद पर रहे। दोनो भाइयों की वीरता से बुन्देलखण्ड की कीर्ति पताका फहराती रही। उनके शासनकाल में देवगढ़ पर गौडों का पराजित कर देवगढ़ के दुर्ग चौरागढ़ पर कब्जा कर लिया। हरदौल की वीरता से क्रोधित होकर, शाहजहां ने एक षडयन्त्र रचकर राजा जुझार सिंह के हृदय में हरदौल व रानी के सम्बन्धों के प्रति संदेह उत्पन्न करा दिया। जिसके कारण हरदौल ने राजा जुझार सिंह की आज्ञा का पालन कर रानी के हाथों से सहर्ष विषयुक्त भोजन कर के अपना बलिदान दिया।

राजा जुझार सिंह की मृत्यु के पश्चात् सात वर्षों तक मुगल शासन रहा। वि0 संवत् 1698 में वीरसिंह देव के तीसरे पुत्र पहाड़ सिंह राजा बने। उनके शासन काल में गोंडवाने में गायों को हल में जोते जाने की प्रथा थी। पहाड़ सिंह ने गौडवाने पर आक्रमण किया और महत्वपूर्ण विजय प्राप्त की और उस क्रूर प्रथा को बंद कराया। संवत् 1720 में महाराजा पहाड़ सिंह की मृत्यु हो गई। बुन्देलों में फूट पड़ जाने से पन्न, दतिया आदि अनेक स्वतंत्र राज्य स्थापित हुये। इसके उपरान्त ओरछा में विभिन्न शासक बदलते रहे। जो क्रमशः सुजानसिंह, इन्द्रमणि, यशवन्त सिंह, भगवन्त सिंह, उघोतसिंह, हेटसिंह, मानसिंह, विक्रमाजीत, धर्मपाल, तेजसिंह, सुजान सिंह, हम्मीर सिंह, प्रताप सिंह और सवाई महेन्द्रवीरसिंह जूदेव द्वितीय। महेन्द्र वीर सिंह जू देव ओरछा के अन्तिम शासक थे। उनके शासन काल में बुन्देलखण्ड की कला, संस्कृति व साहित्य का विकास हुआ। बुन्देलखण्ड के स्वतंत्रता के युद्ध में मराठों का अतुलनीय योगदान रहा है। बाजीराव पेशवा ने महाराजा छत्रसाल को मुगलों के चंगुल से मुक्त कराया। 1730 में मराठों व बुन्देलों ने मिलकर मुगलों को पराजित किया।

1781 में दिल्ली के सुल्तान ने पेशवा को सनद दी जिससे सम्पूर्ण भारत में मराठों को चौथ वसूलने की अधिकार मिल गया। मराठों को बुन्देलखण्ड पर अधिकार मिल गया। इस समय अंग्रेज भारत पर अपने पैर जमा चुके थे। 1803 में बांदा जनपद के शासक शमशेर बहादुर की सेना तथा अंग्रेजों की सेना में केन नदी के किनारे युद्ध हुआ लेकिन शमशेर बहादुर के परास्त होने से सम्पूर्ण

बुन्देलखण्ड पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। भारत के प्रथम स्वाधीनता संग्राम में अंग्रेजों के विरूद्ध 1857 में झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई ने आन्दोलन छेड़ दिया। बानपुर, शाहगढ़ तथा बांदा आदि रियासतों ने भी उनका साथ दिया।

बुन्देलखण्ड का अतीत अत्यंत वैभव शाली रहा है, यहां के प्रतापी व वीर राजाओं ने अपने शासन काल में अनेक दुर्ग, मंदिर व भवनों का निर्माण कराया जो आज भी प्राचीन गौरव गाथा अपने में संजोये हैं।

बुन्देलखण्ड की सीमा

संस्कृति एवं कला के परिप्रेक्ष्य में किसी भी क्षेत्र की सीमा भूमि पर खींची रेखा अथवा कागज पर बनाया मानचित्र नही हो सकती है। क्षेत्र की भाषा, परिवेश सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक परिदृश्य यह सभी समानरूप से क्षेत्र की सीमा निर्धारित करते हैं। क्षेत्र की धरातलीय बनावट, स्थिति, जलवायु प्राकृतिक रूपरेखा को समावेशित कर सांस्कृतिक सीमांकन निश्चित किया जा सकता है। सांस्कृतिक सीमांकन कभी–कभी भौगोलिक सीमा को पार कर जाता है, तो कभी सीमा तक पहुंचने में भी अक्षम रहता है। भौगोलिक एवं राजनीतिक सीमांकन वास्तव में भू–भागों के विभाजन या सत्ता हेतु निश्चित की जाती है।

मार्कण्डेय पुराण के अध्याय 56–57 तथा महाभारत के भीष्मपर्व अध्याय–9 में चेदि जनपद का नाम दिया गया है, जिसकी सीमा चम्बल से चित्रकूट तक और दक्षिण में मालवा पठार तक मानी गई है। पहले चेदि लोग यमुना प्रदेश से दूर दक्षिण क्षेत्र तक पहुंच गये थे। मध्य काल में त्रिपुरी राज्य ने कालिंजर का किला और समस्त उत्तरी क्षेत्र पर अधिकार कर लिया। उस समय से समस्त क्षेत्र चेदि के नाम से विख्यात हो गया।

भौगोलिक सीमांकन का आधार भौतिक भी रहा है। भूगोलवेत्ता श्री एस0 एम0 अली ने पुराणों के आधार पर बुन्देलखण्ड क्षेत्र, जिसका प्राचीन नाम विन्ध्याक्षेत्र रहा है, को मुख्यतः 3 जनपदों के विभक्त किया है। जो क्रमशः विदिशा, करूष एवं दशार्ण है। विदिशा को ऊपरी बेतवा के बेसिन से, करूष को सोन–केन नदियों के बीच के समतलीय मैदान से तथा दशार्ण का धसान नदी और उसकी प्रमुख धाराओं की गहरी घाटियों से बंटा हुआ तथा सागर प्लेटों तक फैले प्रदेश से बताया है। साथ ही उन्होने जबलपुर के पश्चिम में लगभग 10 मील के भाग को ऊपरी नर्मदा की घाटी का और जबलपुर के मण्डला और नरसिंहपुर जिलों के कुछ भागों को त्रिपुरा जनपद में माना है। यह सीमांकन उस काल के बुन्देलखण्ड का जनपदीय रूप प्रस्तुत करता है।

पुराणों के आधार पर विन्धय क्षेत्र विन्ध्य मेखला का तीसरा प्रदेश है, जिसमें वेत्रवती (बेतवा),

दशार्ण (धसान), शुक्तमती (केन), नर्मदा की उपरली घाटी और पंचमढ़ी से अमरकंटक तक ऋक्ष पर्वत का भाग सम्मिलित है।

बुन्देलखण्ड के भौतिक शोधों के आधार पर सीमा निर्धारण निम्न प्रकार किया गया –

"वह क्षेत्र जो उत्तर में यमुना, दक्षिण में विन्ध्य, प्लेटों की श्रेणियों, उत्तर–पश्चिम में चम्बल और दक्षिण–पूर्व में पन्ना व अजयगढ़ श्रेणियों से घिरा हुआ है, बुन्देलखण्ड के नाम से जाना जाता है। उसमें उत्तर प्रदेश के जिले हैं – जालौन, झाँसी, ललितपुर, हमीरपुर, महोबा और बांदा तथा मध्य प्रदेश के चार जिले – दतिया, टीकमगढ़, छतरपुर, पन्ना के अलावा उत्तर–प्रदेश में भिण्ड जिले की लहर और ग्वालियर जिले की भाण्डेर तहसीलें भी सम्मिलित हैं"

(इण्डिया : ए रीजनल ज्याग्रफी, सं0 आर0 एल0 सिंह, 1971 पृ0 597)

जनपदों का स्वरूप इकाई के रूप में मानने पर वहां के निवासियों की सभ्यता संस्कृति एवं संस्कारों की समानता देखने को मिलती है।

जनपदीय चेतना का आरम्भ रामायण और महाभारत काल से माना जाता है। उनमें वर्णित चेदि देश का स्वरूप वर्तमान बुन्देलखण्ड ही है। पार्जिटर ने मार्कण्डेय पुराण के अंग्रजी अनुवाद में चेदि देश व बुन्देलखण्ड का समाकलन करते हुये लिखा है– "चेदि देश उत्तर में यमुना के दक्षिणी तट से दक्षिण में मालवा के पठार और बुन्देलखण्ड की पहाड़ियों तक तथा दक्षिण पूर्व में बहने वाली कार्वी नदी से उत्तर–पश्चिम में चम्बल नदी तक विस्तृत प्रदेश का नाम था।" डा0 वी0 वी0 मिराशी के अनुसार "मध्य काल में उक्त विस्तार नर्मदा तट तक हो गया था।" इस सीमांकन का आधार पूर्णतया सांस्कृतिक है। किन्तु उस समय सीमा का आधार युद्ध भी होते थे इस कारण वर्णित सीमांकन को विश्वसनीय नही माना गया।

जनपदों के पतन के पश्चात् सांस्कृतिक आधार का स्थान राजनीतिक आधार ने ले लिया। चन्देलकाल में 'जेजाक भुक्ति' की सीमायें वर्तमान बुन्देलखण्ड से विस्तृत थी। विभिन्न लोक–संस्कृति के क्षेत्र चन्देल राजाओं के आधीन थे, जिसमें बघेली, ब्रज, कन्नौजी जैसी क्षेत्रीय भाषायें बोली जातीं थी। इस कारण उन सीमाओं को बुन्देलखण्ड की सीमा नही माना जा सकता था, इसका समर्थन अनेक इतिहासकारों ने भी किया दीवान प्रतिपाल सिंह लिखित 'बुन्देलखण्ड का इतिहास' के प्रथम भाग के अनुसार–"पूर्व में टोंस और सोन नदियां अथवा बघेल–खण्ड या रीवां राज्य है तथा बनारस के निकट बुन्देला नाले तक सिलसिला चला गया है। पश्चिम में बेतवा, सिंध और चम्बल नदियां विन्ध्याचल श्रेणी तथा मालवा, सिंधिया का ग्वालियर राज्य और भोपाल राज्य हैं तथा पूर्वी मालवा इसी राज्य में आता

है। उत्तर में यमुना और गंगा नदियां अथवा इटावा, कानपुर, फतेहपुर, इलाहाबाद, मिर्जापुर तथा बनारस के जिले हैं, दक्षिण मे नर्मदा नदी और मालवा है।'' इस सीमांकन में ऐतिहासिक व राजनीतिक दृष्टिकोण ही प्रमुख रहा है।

सांस्कृतिक सीमांकन करना अत्यन्त कठिन कार्य है, चूंकि प्राचीन काल से लोक रूचि एवं लोक संस्कृति मूल्यवान समझी जाती रही है। इस कारण सांस्कृतिक सीमाकंन परम आवश्यक है। बुन्देलखण्ड में कला व संस्कृति का जो अलौकिक रूप है उसका सीमांकन जन–भावना के आधार पर भी होना अत्यंत आवश्यक है।

यदि हम सांस्कृतिक सीमांकन का आधार भाषा या क्षेत्रीय बोली को माने तो बुन्देलखण्ड के संदर्भ में, जनपद परिवर्तन के साथ बोली में प्रयुक्त शब्दों में भिन्नता मिलती है। कहीं–कहीं तो बोलने की शैली भी परिवर्तित पाई जाती है। अतः यह मानना उचित है कि लोक संस्कृति गतिशील होती है। लोक–भाषा के अध्ययन हेतु 1793 ई0 में विलियम कैरे, सन् 1838 ई0 में मेजर राबर्ट लीच तथा उनके बाद सर जार्ज ए0 ग्रियर्सन लगातार प्रयासरत रहे। जिसके फलस्वरूप भाषा सर्वेक्षण के प्रतिवेदन में 33 भारतीय भाषाओं की सूची में बुन्देलखण्डी पर विचार कर उसके व्याकरण पर कार्य किये गये। लोक–भाषा को आधार मानकर इसीक्रम में श्री कृष्णानंद गुप्त, डॉ रामेश्वर प्रसाद अग्रवाल, डॉ0 महेश प्रसाद जायसवाल, डॉ0 उदय नारायण तिवारी, डॉ0 हरिदेव बाहरी आदि ने ग्रियर्सन के सीमांकन का समर्थन किया। किन्तु इस कार्य को योजनाबद्ध तरीके से आगे नही बढ़ाया गया।

भौगोलिक दृष्टि से अध्ययन करते हुये अनेक भूगोल वेत्ताओं ने अपना दृष्टिकोण स्पष्ट किया। उनके अनुसार बुन्देलखण्ड की भौगोलिक, सांस्कृतिक और भाषा सम्बन्धी समानता की बात कहीं गई है।

इण्डिया : ए रीजनल ज्यॉग्रफी, सं0 आर0 एल0 सिंह, 1971 के अनुसार –

''यह भारत का एक ऐसा भौगोलिक क्षेत्र है, जिसमें न केवल संरचनात्मक एकता, भौम्याकार की समानता, जलवायु की समता है, वरन उसके इतिहास, अर्थ व्यवस्था और सामाजिकता का आधार भी एक ही है। वास्तव में समस्त बुन्देलखण्ड में सच्ची सामाजिक, आर्थिक और भावात्मक एकता है।''

इसके अनुसार यदि हम सांस्कृतिक सीमांकन के संदर्भ में विचार करें तो क्षेत्र की सामाजिकता, इतिहास और भावात्मक एकता इसे सबलता प्रदान करती है। इस दिशा में सांस्कृतिक तत्वों के गहन अध्ययन की भी परम आवश्यकता है।

अमरीकी भूगोलवेत्ता पीटर वाश ने 'मैगाजियोग्राफी' पद्धति के आधार पर किये गये अध्ययन के अनुसार ''बुन्देलखण्ड क्षेत्र के भूमि उपयोग पर इस प्रदेश के निवासियों की आकांक्षाओं , आस्थाओं, मान्यताओं, दृष्टिकोणों, पूर्वाग्रहों एवं नियमों की अवहेलना कर भूमि उपयोग नियोजन कार्य सम्पादन में

आशातीत सफलता प्राप्त नही की जा सकती है। इस कारण नियोजकों को सांस्कृतिक भूगोल के तत्वों को भी ध्यान में रखना चाहिये। बुन्देलखण्ड क्षेत्र में सांस्कृतिक तत्व सदा से अपना विशेष महत्व रखते हैं। इस कारण सांस्कृतिक भूगोल के आधार पर विश्लेषण करना अधिक उपयुक्त होगा। हमें यह मानना चाहिये, कि सांस्कृतिक तत्वों में गतिशीलता एवं परिवर्तन त्वरित गति से नही आ सकता है। हम सांस्कृतिक भूगोल को भूगोल की विकासशील शाखा मान सकते हैं। यहां के भूगोल के कारण निवासियों की अपनी संकल्पनायें एवं अवधारणायें हैं।''

बुन्देलखण्ड की मिट्टी कठोर एवं सामान्य परिस्थितियों में अनुर्वर हैं। यहां पहाड़, घाटियां एवं ऊंचा–नीचा पथरीला क्षेत्र हैं। इन समस्त कठिनाइयों के कारण यहां के निवासियों का जीवन संघर्षशील है। सांस्कृतिक भूगोल के आधार पर किये गये अध्ययनों से यह स्पष्ट होता है कि एक समान धरातलीय दशायुक्त स्थानों और समान गुणों वाले व्यक्तियों में साहचर्य पाया जाता है, अर्थात एक समान परिस्थितियों व स्थानों में रहने वाले एक समान गुण, स्वभाव एवं संस्कारों को धारण करते हैं।

भौगोलिक संरचना के आधार पर बुन्देलखण्ड दो भागों में विभक्त हैं। मैदानी भाग में बांदा, हमीरपुर, जालौन, झाँसी, ललितपुर आदि तथा उच्च भूमि क्षेत्र में पन्ना, छतरपुर, टीकमगढ़, महोबा आदि क्षेत्र आते हैं। बुन्देलखण्ड के सांस्कृतिक अध्ययन में क्षेत्रों की आन्तरिक सम्बद्धता भी महत्वपूर्ण है।

बुन्देलखण्ड में ऊँची ढ़ालों पर ग्रामीण बस्तियां तथा निचले क्षेत्रों में कृषि योग्य भूमि है। बस्तियां सघन है तथा मिली–जुली जातियों के लोग यहां रहते हैं। यहां के निवास–भवनों के मुख्य द्वार छोटे तथा खिड़कियां संकीर्ण होती हैं, जो प्राचीन असुरक्षा की भावना को दर्शाती है। भवनों के गवाक्ष स्थापत्य कला को प्रदर्शित करते हैं। भवनों की सम्पूर्ण बनावट भौतिकता की अपेक्षा सांस्कृतिक एवं भावात्मक प्रभाव दर्शाती हैं। कालान्तर में भवन निर्माण शैली में परिवर्तन हुये है, किन्तु ग्रामीण व शहरी क्षेत्रों में अभी भी पुरानी शैली के भवन देखने को मिल जाते हैं।

उपरोक्त सभी बातों को ध्यान में रखते हुये सीमांकन सांस्कृतिक क्षेत्रों को आधार ईकाई मानकर करना अधिक उचित है। बुन्देलखण्ड के उत्तर में यमुना नदी है तथा पश्चिमी सीमा पर चम्बल नदी, इस सीमांकन को लगभग सभी विद्वानों ने माना है। परन्तु ऊपरी चम्बल इस प्रदेश से दूर है और निचली चम्बल निकट है। मध्य और निचली चम्बल के दक्षिण में स्थित मध्य प्रदेश के मुरैना, भिण्ड जिलों में बुन्देली संस्कृति व भाषा का रूप लगभग समाप्त हो जाता है। भाषा व संस्कृति की दृष्टि से ग्वालियर और शिवपुरी का पूर्वी भाग बुन्देलखण्ड में आता है। इसमें जालौन जिले से लगा हुआ भिण्ड जिले का पूर्वी हिस्सा सम्मिलित है। संस्कृति के विस्तार को घने जंगल तथा बीहड़ बाधित करते हैं। चम्बल और कुमारी नदी के बीहड़ों तथा दुर्गम भागों के कारण एवं मुरैना और शिवपुरी के घने जंगलों के होने से बुन्देली भाषा और संस्कृति का प्रसार इटावा, मैनपुरी और आगरा जिलों तक नही पहुँच पाया।

बुन्देलखण्ड की पश्चिमी सीमा पर ऊपरी बेतवा और ऊपरी सिन्ध नदियां तथा सीहोर से उत्तर में गुना और शिवपुरी तक फैला मध्य भारत का पठार है। पठार के ही समानान्तर विन्ध्य श्रेणियां भोपाल से लेकर गुना तथा शिवपुरी के कुछ भाग तक फैली हुई हैं, जो अवरोधक का कार्य करती हैं। बुन्देलखण्ड के पश्चिम में रायसेन जिले के रायसेन और गौहरजंग तहसीलों का पूर्वी भाग, विदिशा जिले की विदिशा, बासौदा और सिरोंज तहसीलों के पूर्वी भाग की सीमा बेतवा बनाती है। गुना जिले की अशोक नगर, मुंगावली तथा शिवपुरी की पिछोर और करैरा तहसीलें है जिनकी सीमा सिंध नदी बनाती है। विदिशा इतिहास प्रसिद्ध तथा दशार्णी संस्कृति का प्रमुख केन्द्र रहा है। नाग संस्कृति भी बुन्देलखण्ड के बड़े भू–भाग में प्रसारित रही है।

भौतिक भूगोल में बुन्देलखण्ड की दक्षिणी सीमा विन्ध्य पहाड़ी श्रेणियाँ बताई गई है जो नर्मदा के उत्तर में फैली हुई है। भूगोल वेत्ता सर थामस होल्डिच के अनुसार – "सभी प्राकृतिक तत्वों मे एक निश्चित जल विभाजक रेखा है, जो एक विशिष्ट पर्वत श्रेणी द्वारा निर्धारित होती है, अधिक स्थाई और सही होती है।"

अतः बुन्देलखण्ड की दक्षिणी सीमा महादेव पर्वत श्रेणी (गोंडवाना हिल्स) और दक्षिण – पूर्व मे मैकल पर्वत श्रेणी, सही ठहरती है। इस आधार पर होशंगाबाद और सोहागपुर तहसीलें तथा नरसिंहपुर का पूरा जिला बुन्देलखण्ड के अर्न्तगत आता है। बुन्देली संस्कृति और भाषा विन्ध्य श्रेणियों और नर्मदा नदी के प्राकृतिक अवरोधक पार कर होशंगाबाद और नरसिंह पुर जिलों तक पहुँच गई है।

दक्षिणी सीमा मे नर्मदा नदी तथा विन्ध्य श्रेणियों के पार बुन्देली संस्कृति और भाषा का प्रसार कैसे हुआ? इस प्रश्न का उत्तर ऐतिहासिक आधार पर डा0 काशी प्रसाद जायसवाल द्वारा लिखित 'अन्धकार युगीन भारत' से प्राप्त होता है –

"भार शिवों (नागों) और वाकाटकों के इस क्षेत्र मे बसने के कारण दक्षिण के इस भाग का सम्बन्ध बुन्देलखण्ड से इतना घनिष्ठ हो गया था कि दोनों मिलकर एक हो गये थे और उस समय से इन दोनों प्रदेशों मे जो एकता स्थापित हुई थी वह आज तक चली आ रही है। साठ वर्षों तक नागों के यहाँ रहने के इतिहास का यह परिणाम निकला है कि यहाँ के निवासी भाषा और संस्कृति के विचार से पूरे उत्तरी हो गये हैं।"

गुप्तकाल मे वाकाटक भी यहाँ रहे हैं। कुछ विद्वान झाँसी जिले के बागाट या बाघाट को वाकाटकों का आदि स्थान सिद्ध करते हैं। कुछ इतिहासकार पुराणों मे कथित किलकिला प्रदेश की समानता पन्ना से करते है तथा उसे वाकाटकों की आदि भूमि मानते हैं। वाकाटकों के बाद जेजाभुक्ति के चंदेल शासकों और कलचुरियों के राज्यकाल मे भी यह क्षेत्र बुन्देलखण्ड से जुड़ा रहा है।

उपरोक्त उदाहरणों से स्पष्ट है कि बुन्देलखण्ड की दक्षिणी सीमा महादेव पर्वत श्रेणी की गोंडवाना हिल्स हैं, जो जबलपुर के पूर्व मे पर्वत श्रेणी से मिल जाती हैं। बुन्देलखण्ड के पूर्व मे मेकल पर्वत श्रेणियाँ, भारनेर श्रेणियाँ, कैमूर श्रेणियाँ और निचली केन नदी हैं। दक्षिण पूर्व मे मैकल पर्वत है इस कारण नरसिंहपुर जिले के पूर्व मे स्थित जबलपुर जिले के दक्षिणी–पश्चिमी भाग के समतल भाग अर्थात पाटन और जबलपुर तहसीलों का दक्षिण पश्चिमी भाग बुन्देलखण्ड के अंर्तगत आ गया है। संभवतः इसी कारण वहाँ की भाषा और संस्कृति बुन्देली के अधिक निकट हैं। किन्तु दमोह पठार के दक्षिण–पूर्व में स्थित भारनेर रेंज पाटन और जबलपुर तहसीलों के उत्तरी और उत्तर–पूर्वी भागों को बुन्देलखण्ड से विलग कर देती हैं। भारनेर श्रेणियों के उत्तर पूर्व में कैमूर श्रेणियाँ स्थित हैं। जिनके पश्चिम में स्थित पन्ना बुन्देलखण्ड में हैं, और पूर्व में बघेलखण्ड हैं। पन्ना जिले की तहसीलों पवई और पन्ना के पूर्व संकरी पट्टी में बुन्देली भाषा और संस्कृति का प्रसार है। इस कारण टोंस और सोन नदियों के उद्गम का भू–भाग उस संस्कृति से अधिक प्रभावित है।

इण्डिया : ए रीजनल ज्यॉग्रफी सं. आर. एल. सिंह, पृ. सं. 644 के अनुसार "पन्ना जिले की तहसीलों पवई और पन्ना के पूर्व संकरी पटटी मे बुन्देली भाषा और संस्कृति का प्रसार है। टोंस और सोन नदियों के उद्गम का भू–भाग दक्षिण–पश्चिम की उस संस्कृति से अधिक प्रभावित है।"

पन्नाजिले के उत्तर से पन्ना–अजयगढ़ की पहाडियाँ चित्रकूट तक फैली हुई हैं। उत्तर मे जिला छतरपुर से लेकर जिला बाँदा तक पहाड़ी क्षेत्र एक सीमा रेखा बनाता है। उत्तरी भाग में बाँदा का मैदानी भाग है। इसी आधार पर हम बुन्देलखण्ड की उत्तर पूर्वी सीमा निचली केन नदी को मान सकते हैं।

उपरोक्त सीमा रेखा के अनुसार तो हम बाँदा जिले को बुन्देलखण्ड मे मान सकते हैं। किन्तु प्राचीन काल के इतिहास के अनुसार बाँदा चेदि भार शिवों के साम्राज्य से नहीं था और वाकाटकों की संस्कृति की झलक भी वहाँ नहीं पाई जाती थी, किन्तु कालिंजर से चित्रकूट तक का भाग इस संस्कृति से प्रभावित रहा है इस कारण बाँदा जिला बुन्देलखण्ड में ही सम्मिलित है।

आर्कियोलॉजी सर्वेरिपोर्ट, वाल्यूम 21 ए0 कनिंघम मे पृ. सं. 81 के आधार पर – बाँदा के उत्तर पूर्व मे चिल्ला नामक ग्राम मे आल्हा ऊदल का निवास खोजा गया है।

चंदेलो के समय मे बाँदा के अधिकांश भाग पर बुन्देली प्रभाव रहा। इसी कारण बाँदा जिले के उत्तर पश्चिमी भाग मे भी बुन्देली भाषा व संस्कृति का प्रभाव पाया जाता है। इस प्रकार बुंदेलखंड के उत्तर–पूर्व मे निचली केन नदी की तटीय पटटी का क्षेत्र, दक्षिणी और दक्षिण–पश्चिमी भाग मे बाँदा जिले की क्रमशः नरैनी और करबी तहसीलें आती हैं। पूर्व दिशा मे पन्ना और दमोह जिले है तथा दक्षिण–पूर्व मे जबलपुर जिले की पाटन और जबलपुर तहसीलों का क्रमशः दक्षिणी और दक्षिण–पश्चिमी

भाग, जो मैकल श्रेणियों तक है वह बुन्देलखण्ड का हिस्सा है। सोन व टोंस नदियों की उद्गम घाटी, जो नर्मदा की तरफ दक्षिण की ओर खुलती है और जिसमे पाटन, जबलपुर, मुड़वारा और सिहोरा तहसीले भी सम्मिलित हैं, सभी बुन्देलखण्ड का भाग है।

उपरोक्त विवेचन के आधार पर तथा समय–समय पर हुये परिवर्तनों के आधार पर हम भौगोलिक, भाषा, राजनैतिक व सांस्कृतिक मानकों पर बुन्देलखण्ड के जनपदों को सरलता से विभाजित कर सकते हैं

अ– उ0प्र0 के झाँसी, ललितपुर, महोबा, बाँदा, हमीरपुर, चित्रकूट, जालौन जनपद।

ब – म0प्र0 के छतरपुर, दतिया, टीकमगढ़, सागर, शिवपुरी, पन्ना, दमोह, ग्वालियर, भिण्ड, सतना, गुना, विदिशा, जबलपुर, छिंदवाडा, नरसिंहपुर, मुरैना, रायसेन, होशंगाबाद, बैतूल, सिओनी, मंडला, बालाघाट जनपद

इस प्रकार उत्तर प्रदेश व मध्यप्रदेश के 29 जनपदों मे प्रसारित भू–भाग बुन्देलखण्ड है। इसी आधार पर बुन्देलखण्ड का मानचित्र प्रस्तुत किया है।

अध्याय – 2

संस्कृति, सभ्यता एवं लोक–विश्वास

''प्रत्यक्ष दर्शी लोकानां सर्वदर्शी भवेन्नरः – महर्षिव्यास

अर्थात् ''लोक को प्रत्यक्ष देखने वाला ही सर्वदर्शी होता है।''

उपरोक्त कथन से यह पुष्टि होती है कि यदि हम लोक को जानना चाहते हैं, तो हमें लोक चेतना, लोक–भावना तथा सामान्य जन के आचार व्यवहार का निरीक्षण कर सत्यता की परख करनी होगी तभी हम 'लोक' शब्द की व्याख्या करने में सफल होंगें।

लोक की संस्कृति, सभ्यता और विश्वास की व्याख्या करने से पूर्व हमे 'लोक' शब्द की विवेचना करना आवश्यक है। अनेक विद्वानों ने इस सम्बन्ध मे अपने मत दिये हैं। अनेक विवाद भी उत्पन्न हुये। उन सभी मतों पर संक्षिप्त रूप से प्रकाश डालना आवश्यक है।

जब से सृष्टि की रचना हुई तब से 'लोक' शब्द का प्रादुर्भाव हुआ। वेद पुराणों मे स्वर्ग लोक, पृथ्वी लोक, नाग लोक इत्यादि का संदर्भ आता है। पौराणिक साहित्य मे 'लोक' ब्रम्हा का दूसरा नाम भी माना गया है। यहाँ हम 'लोक' शब्द की व्याख्या क्रमिक रूप से करेंगे।

ऋग्वेद मे अनेक स्थानों पर सामान्य जन के लिये 'लोक' शब्द का प्रयोग हुआ है। ऋग्वेद मे ही पुरूष सूक्त मे 'लोक' शब्द का प्रयोग जीव तथा स्थान के लिये किया गया है।

उपनिषदों मे भी अनेक स्थानों पर 'लोक' शब्द व्यवहृत हुआ हैं।

जैमनीय उपनिषद ने लोक को अनेक प्रकार से फैला हुआ है। प्रत्येक वस्तु मे यह प्रभूत या व्याप्त है, ऐसा माना गया है।

महाभारत के आदि पर्व मे 'लोक' शब्द का प्रयोग जन–साधारण के संदर्भ मे किया है।

नाट्य शास्त्र के रचयिता भरत मुनि ने 'लोक' की महत्ता को स्वीकार करते हुये माना है कि

अपने ग्रंथ मे मैने जो कुछ नहीं कहा है वह बुद्धि–जीवियों को 'लोक' से ग्रहण करना चाहिये।

उपरोक्त वाक्य यह सिद्ध करता है कि 'लोक' की महत्ता गुरू से भी अधिक है।

महाभारत मे स्वयं श्री कृष्ण ने वेद से अलग 'लोक' के अस्तित्व को स्वीकारा है। इसी प्रकार महाव्याकरणाचार्य 'पाणिनि' ने भी वेद और 'लोक' की स्वतंत्र सत्तायें स्वीकार की है।

इसी मत को महाकवि तुलसी दास ने भी रामचरित मानस मे स्वीकारा है। प्राचीन ग्रंथों और साहित्य मनीषियों के अतिरिक्त समकालीन लोक–विचारकों ने भी 'लोक' शब्द की विवेचना की है।

'लोक साहित्य विज्ञान' मे डॉ0 सत्येन्द्र ने लिखा है – "लोक मनुष्य समाज का वह वर्ग है जो अभिजात्य संस्कार, शास्त्रीयता और पांडित्य की चेतना अथवा अहंकार से शून्य है।"

"हिन्दी साहित्य का वृहत् इतिहास" के षोडस भाग मे श्री कृष्ण देव उपाध्याय ने लिखा है कि – "जो लोग संस्कृत तथा परिष्कृत लोगो के प्रभाव से बाहर रहते हुये अपनी पुरातन स्थिति मे वर्तमान है, उन्हें 'लोक' की संज्ञा प्राप्त है"

उपरोक्त दोनों कथनों से डा0 नर्मदा प्रसाद गुप्त असहमत है, उनका विचार है – "शास्त्रों से बंधे शास्त्रीय अधिक रूढ़िग्रस्त होते हैं, जब कि लोकत्व से संप्रेरित लोग सहज, अधिक स्वच्छंद, प्रकृत और ताजे रहते हैं।"

'लोक' को परिभाषित करने मे डॉ0 हजारी प्रसाद द्विवेदी का कथन अधिक सारगर्भित एवं स्पष्ट है " 'लोक' शब्द का अर्थ 'जनपद' या ग्राम्य नहीं है। बल्कि नगर व गाँवों मे फैली हुई वह समूची जनता है, जिनके व्यवहारिक ज्ञान का आधार पोथियाँ नही हैं। ये लोग नगर मे परिष्कृत रूचि सम्पन्न तथा सुसंस्कृत समझे जाने वाले लोगो की अपेक्षा अधिक सरल तथा अकृत्रिम जीवन के अभ्यस्त होते हैं और परिष्कृत रूचि वाले लोगों की समूची विलासता और सुकुमारता को जीवित रखने के लिये जो भी वस्तुयें आवश्यक होती हैं उनको उत्पन्न करते हैं।"

इन सभी विद्वानों के विचारों को ध्यान में रखते हुये मेरे विचार से–'लोक' शब्द की व्युत्पत्ति 'लुक' धातु से हुई हैं जिसका अर्थ देखना हैं। समाज में सामान्यतः तीन वर्ग होते हैं–उच्च, मध्यम और सामान्य। उच्च वर्ग आर्थिक शैक्षिक दृष्टि से तो सम्पन्न हाल और नित नवीन भोग विलास में लिप्त रहता हे मध्यम वर्ग मध्यम शैक्षिक दृष्टि से तो सम्पन्न है किन्तु उनका आर्थिक पक्ष सबल नहीं है और सामान्य वर्ग आर्थिक और शैक्षिक दोनों दृष्टि से हीन हैं। मध्यम और सामान्य वर्ग सदैव देश, काल के अनुकूल अपना जीवन व्यतीत करता है वही 'लोक' है और 'लोक' में होने वाले क्रिया कलापों का संवाहक है।

'लोक' की अपनी व्यवहारिकता होती है जिससे बाहर निकलना सामान्य जन के वश की बात

नही है। वही व्यवहारिकता ही लोक संस्कृति की जननी है। लोक–संस्कृति प्रत्येक क्षेत्र की भीतरी शक्ति है जो इतनी सुदृढ़ होती है कि वह विपरीत परिस्थितयों या विजातीय तत्वों से कभी प्रभावित नही होती है। लोक–संस्कृति हमारे जीवन–वृक्ष की जड़ के समान है। उस जड़ को लोक–विश्वास के पोषाक तत्व मिलने पर ही पुष्पित पल्लवित होने के अवसर मिलते हैं।

कौटिल्य के अर्थषास्त्र के अनुसार – "जनपदों के अपने शील, वेश, भाषा, आचार, देवता, समाज, उत्स और विहार होते हैं। अर्थात् प्रत्येक जनपद या क्षेत्र की अपनी एक विशिष्ट पहचान होती है। जिसे दूसरे षब्दों में 'लोक'–संस्कृति' भी कहा जा सकता है।

लोक–संस्कृति एक व्यापक शब्द हैं। यह जन–जीवन के प्रत्येक पहलू में हैं। मानव का भूत, भविष्य और वर्तमान सभी लोक–संस्कृति से आबद्ध है। इसमें जन सामान्य के आदर्श, विश्वास, रीति–रिवाज एवं लोक–मूल्य भी सम्मिलित हैं।

बुन्देली लोक मूल्यों में वीरता, स्वाभिमान, आध्यात्म, आस्था, मानवीयता, त्याग, बलिदान तो समाहित हैं ही, इसके अतिरिक्त सामाजिक आधार, पर्यावरण, लोक–पर्व एवं लोक–उत्सव, रीति रिवाज, संस्कार, प्रथायें, लोकाचार, वर्जनायें आदि समान रूप से सहभागी हैं।

विंध्य संस्कृति संसार की सबसे पुरातन संस्कृति मानी गई है। इसी आधार पर कुछ मिथक भी प्रचलित हैं। पुराणों में विंध्याचल पर्वत के सम्बन्ध में मिथक है – जब विंध्याचल पर्वत बढ़ता जा रहा था तो देवताओं को भय हुआ कि, कहीं वह आकाश न छू ले और सूर्य का मार्ग न रोक दे। तब उन्होनें ऋषि अगस्त्य को विन्ध्याचल के पास भेजा। विंध्याचल ने ऋषि को नम्रता पूर्वक दण्डवत किया, तब ऋषि ने कहा "वत्स, विंध्याचल मैं दक्षिण की ओर जा रहा हूँ। जब तक मैं न वापस आऊँ तुम अपना शीष झुकाये रखना।" पर्वत ने गुरू की आज्ञा का मान रखा। चूँकि ऋषि अगस्त्य तो देवताओं के षडयन्त्र में सहायक बनने आये थे, वे तो वापस नही लौटे। किन्तु विंध्याचल श्रद्धावनत बना रहा जिससे उसकी श्रृंखलाओं का विस्तार धरातल पर बढ़ गया। यह मिथक विंध्यांचल की श्रेणियों के विस्तृत रूप को आधार देता है। आधार भौगोलिक सामाजिक और आर्थिक भी है। विंध्य पर्वत पर जो आदिवासी निवास करते थे। वे भोले–भाले, वीर, साहसी तथा आत्म–विश्वास के धनी होते थे वे किसी के अधीन रहना स्वीकार नही करते थे। यही लक्षण बुन्देलखण्ड के निवासियों में आज भी पाया जाता है। एक कहावत भी यहां प्रचलित है – "सौ डंडी एक बुन्देलखण्डी" अर्थात् जिस प्रकार सौ डंडियों को एक साथ झुकाया या तोड़ा नही जा सकता उसी प्रकार बुन्देलखण्ड वासी को दबाव में लाकर झुकाया नही जा सकता। यहाँ आदिवासी व ऋषियों ने कई वर्षों तक स्वच्छन्द रूप से निवास किया। कई तेजस्वी योद्धा व प्रतापी शासक बुन्देलखण्ड के आस–पास के क्षेत्र में रहें, किन्तु विंध्य–क्षेत्र जीतने का उन्होने

प्रयास नही किया। महाभारत काल में यह क्षेत्र चेदि प्रदेश के नाम से जाना जाता था। यहाँ शिशुपाल का शासन था, जिसने अपने प्राण दे दिये किन्तु श्री कृष्ण के समक्ष पराजय स्वीकार नही की।

जब जनपद काल आया तब भी बुन्देलखण्ड स्वतंत्र प्रदेश रहा। लोक–संस्कृति अपने प्राचीन और वैशिष्ट परम्पराओं, भावनाओं के आधार पर ही फलती–फूलती है। वह प्रत्येक जन को अखण्डता के सूत्र में बांधे रखती है। लोक संस्कृति धर्म व सम्प्रदाय से ऊपर होती है। विभिन्न धर्म, समुदाय और वर्गों में समरसता बनाये रखती है। वह क्षेत्र की आन्तरिक एकता होती है। 'लोक' का सदैव क्रमिक विकास होता रहता है। ऐतिहासिक, राजनैतिक, सामाजिक घटनाक्रमों के बदलाव से संस्कृति का मूल रूप नही बदलता किन्तु उसमें प्रत्यक्ष प्रमाणों एवं मानवीय विश्वासों के अनुसार परिवर्तन अवश्य होते रहते हैं। किसी भी परिवर्तन के साथ यह सहज व स्वच्छंद गति से प्रवाहित होती रहती है।

संस्कृति का विकास

इस समस्त प्रक्रिया में लोक–संस्कृति जन–विश्वास को अपने आंचल में समेटे सभ्यता को जन्म देती है। पुरातत्व खुदाई में प्राप्त अवशेषों के आधार पर ही उस युग की सभ्यता व संस्कृति की विवेचना की जाती है। युग की सभ्यता व संस्कृति को सबलता प्रदान करते हैं, लोक–विश्वास। लोक–विश्वासों में निहित नैतिकता, लोक–संस्कृति को स्थायित्व प्रदान करती है। इनके समन्वय से लोक–विवेक उत्पन्न होता है, जो तात्कालीन युग के अनुरूप धर्म, दर्शन और सामाजिक मूल्यों को समायोजित कर लोकोपयोगी बनाता है। बुन्देलखण्ड की सभ्यता के विकास को युग के आधार पर क्रमिक अध्ययन करने से वर्तमान लोक–संस्कृति की स्थिति स्पष्ट करने में सरलता होगी।

पुरातत्व वेत्ताओं को नर्मदा घाटी के भू–स्तरों की खोज करते समय यह ज्ञात हुआ कि नर्मदा घाटी की सभ्यता सिन्धु घाटी की सभ्यता से पूर्व की है। क्योंकि सृष्टि से पूर्व पृथ्वी इतनी गर्म थी कि जीव का अस्तित्व नही था। विंध्याचल की चट्टानों में कोई जीवाश्म नही मिले, जोकि सिन्धु घाटी में प्राप्त हुये हैं। होशंगाबाद की आदमगढ़ गुहा, सागर के आबचन्द और नरयावल, छतरपुर जिले के किशनगढ़ क्षेत्र में प्रागैतिहासिक गुहा–चित्रों में आदि–मानव की कला देखने को मिलती हैं। ऋषि बाल्मीकि, अत्रि, शरभंग, सुतीक्ष्ण, अगस्त्य जैसे महान ऋषियों के यहां आश्रम रहे हैं। जिससे आश्रम संस्कृति का प्रभाव जन मानस पर पड़ा।

इस काल में बुन्देलखण्ड बेतवा के तट पर स्थित 'आटविक राज्य' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस समय यहां वन्य संस्कृति थी। 'मत्स्य पुराण' में दण्डक जनपद का वर्णन भी आया है। महाभारत कार ने इस क्षेत्र को महारण्य, महाघोर या दारूण वन बताया है। एनशियेंट इंडियन हिस्टोरिकल ट्रडिशन्स,

एफ0 ई0 पार्जिटर के अनुसार–''चेदि जनपद ही बुन्देलखण्ड क्षेत्र हैं। चेदि नरेश शिशुपाल की राजधानी बूढी चंदेरी थी। चेदि की खोज से पता चलता है कि पहले यह यादवों के अधीन था। बाद में वसु ने उन्हें पराजित कर नवीन चेदि राज्य स्थापित किया था।''

नलोपाख्यान में राजा नल की राजधानी नरवर बताई गई है। उसमें वेत्रवती (बेतवा) नदी का वर्णन भी आया है।

इस प्रकार वन्य, आटविक, चेदि और आर्य संस्कृतियों का बुन्देलखण्ड पर प्रभाव पड़ा। महा जनपद काल में चेदि और दशार्ण प्रसिद्ध जनपद रहे हैं। इस काल में लोक–संस्कृति की प्रतिष्ठा के प्रमाण मिलते हैं।

मौर्यकाल में त्रिपुरी, एरिकेण और विदिशा विख्यात नगर थे। बौद्ध–संस्कृति का प्रसार इसी काल में हुआ। सम्राट अशोक ने विदिशा के श्रेष्ठिन की पुत्री से विवाह किया। बौद्ध धर्म से प्रभावित होकर उन्होने अनेक स्तूपों का निर्माण कराया। साँची का स्तूप के प्राचीन भाग में लोक–कला के नमूने देखने को मिलते हैं। विभिन्न लोक–कथाओं का अंकन भी किया गया है। जो लोक–जीवन को प्रदर्शित करता है।

इसके पश्चात् बुन्देलखण्ड में गुप्त–काल में धर्म व संस्कृति का महत्वपूर्ण काल कहा जा सकता है। इसी समय नाग–संस्कृति, वाकाटक, गुप्तवंश और शुंगवंश के शासनकाल में क्रमशः क्षेत्र की संस्कृति परिवर्द्धित और समृद्ध होती रही। स्थापत्य व मूर्तिकला पर गुप्तकाल में विशेष रूप से कार्य हुआ। उस काल के मंदिर, भवन, दुर्ग इत्यादि अभी भी प्रमाण स्वरूप है। स्थापत्य में नागर शैली व साहित्य में नागरी लिपि का प्रयोग किया गया। सांस्कृतिक एकता का समन्वित रूप इसी काल में पाया जाता है।

डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल ने 'वही' में अपना मत दिया है – आधुनिक हिन्दुत्व की नींव नाग सम्राटों ने रखी थी, वाकाटकों ने उस पर इमारत खड़ी की थी और गुप्तों ने उसका विस्तार किया था।

शुंगों के शासन काल में बुन्देली संस्कृति पर प्रभाव पड़ा। डॉ0 हीरालाल द्वारा लिखित 'मध्यदेश का इतिहास' तथा 'दमोह दीपक' में समुद्र गुप्त द्वारा एरण में 'स्वभोग नगर' की रचना तथा एरण के ही विष्णु मंदिर के सामने स्थित ध्वज स्तंभ के अभिलेख का वर्णन किया है, जो संस्कृति पर गुप्त शासकों के प्रभाव को प्रमाणित करने में समर्थ हैं। छठवीं से नवीं शती तक बुन्देलखण्ड प्रतिहारों और पालों की युद्ध भूमि रहा है। इस समय बुन्देली संस्कृति पर राष्ट्र कूटों का कोई विशेष प्रभाव नही हुआ।

चंदेलों के शासनकाल में संस्कृति का पुनरूत्थान हुआ। 950 से लगभग 1300 ई0 तक के

चंदेलों के शासन काल में महाकवि जगनिक ने 'आल्हखण्ड' लिखा जो कि लोक–विश्वासों और लोक–संस्कृति का प्रतिनिधित्व ग्रंथ है। खजुराहो के मन्दिरों में भी लोक–संस्कृति को बिम्बित किया गया है। कंदरीय मंदिर के गर्भ गृह की पश्चिमी बाहय–भित्ति पर शिकार का दृश्य, चित्रगुप्त मंदिर में नृत्य मुद्रा में स्त्रियां, लक्ष्मण मंदिर में युद्ध के दृश्य, विश्वनाथ मंदिर की भीतरी भित्तियों पर लोकोत्सवों के दृश्य तत्कालीन लोक–संस्कृति के उदाहरण हैं।

चंदेल युग में बुन्देली संस्कृति ने स्थायित्व प्राप्त किया। उसके उत्कर्ष में त्रिपुरी और कलचुरी शासकों का भी विशेष योगदान रहा है। 15वीं शती में ग्वालियर के तंवर (तोमर) राजाओं के आश्रय में बुन्देली संस्कृति का विकास हुआ। इस काल में बुन्देली लोक–भाषा के साहित्य व संगीत को बढ़ावा मिला। किन्तु इस समय फारसी युक्त हिन्दवी बोली के कारण लोक–भाषा को अपना स्थान बनाने में बाधायें आईं।

16वीं शती में बुन्देली संस्कृति में गति शीलता आई। ओरछा संस्कृति का प्रमुख केन्द्र बना। इस समय ओरछा मुगलों की आधीनता स्वीकार कर चुका था, जिससे साहित्य व कला पर मुगल प्रभाव पड़ा। वेश–भूषा, खान–पान, रहन–सहन पर मुगल प्रभाव पड़ा किन्तु सामाजिक व सांस्कृतिक मूल्य और लोक–विश्वासों में परिवर्तन नहीं हुआ। लोक–संस्कृति में नये आदर्शों का उदय हुआ। राजा हरदौल के बलिदान ने देवर–भाभी के सम्बन्धों की नई व्याख्या प्रस्तुत की जो बुन्देली संस्कृति में रच–बस गई। गाँव–गाँव में लाला हरदौल पूजनीय हो गये, उनके नाम के चबूतरे बनाये गये, जो लोक–संस्कृति के मंदिर बन गये। लोक संगीत व लोक–कला 'अखाड़ा संस्था' के आश्रय तले पनपी और 'फड़' के माध्यम से निखरी। तत्पश्चात् विदेशी प्रभाव के कारण नवीन परिस्थितियों के अनुरूप अपना स्वरूप परिवर्तित करती गई। छत्रसाल के बाद शासकों के आपसी द्वेष, ईर्ष्या और संघर्षों के कारण संस्कृति के सुन्दरतम पक्ष का विकास रूक गया।

19वीं शती से अंग्रेजी शासन आ गया और 1857 ई0 के स्वतंत्रता–संग्राम ने बुन्देली संस्कृति पर अपना प्रभाव डाला। अंग्रेजों की दोहरी नीति और विश्वासघाती परम्परा ने लोक संस्कृति को भी प्रभावित किया। इसी प्रभाव के कारण रानी लक्ष्मीबाई को पराजय का मुँह देखना पड़ा। रियासती और अंग्रेजियत का रंग लोक–संस्कृति पर भी चढ़ गया, स्वतंत्रता प्राप्ति की अदम्य इच्छा शक्ति ने सन् 1857 ई0 में ऐतिहासिक संग्राम को जन्म दिया। झाँसी की रानी लक्ष्मी बाई का अंग्रेजी शासन के प्रति विद्रोह आजादी की प्रथम चिंगारी के रूप में प्रगट हुआ, जिसके परिणाम स्वरूप स्वतंत्रता संग्राम हुआ।

लक्ष्मी बाई के झाँसी की रानी बनने के बाद मराठी लोक–संस्कृति का प्रभाव भी यदा–कदा परिलक्षित हुआ जैसे – लोक भाषा में मराठी शब्दों का प्रयोग, स्त्रियों के पहनावे में नौगज की साड़ी

का प्रयुक्त होना। भित्ति चित्रण में ज्यामितीय आलेखन बनाना, गणपति पूजन को महत्व मिलना आदि।

बुन्देलखण्ड में स्वतंत्रता प्राप्ति के अनेक वर्षो के पश्चात् वर्तमान तक लोक संस्कृति पर विदेशी प्रभाव पूर्ण रूप से समाप्त नही हुआ, बल्कि उत्तरोत्तर बढ़ रहा है जो लोक–संस्कृति के विकास में सबसे बड़ी बाधा है। बुन्देली लोक–संस्कृति का वास्तविक स्वरूप जीवित रखने के लिये यहां के तीज–त्योहार, मेले, लोकोत्सव तथा लोक–भाषा व साहित्य का पुर्नजीवन व संरक्षण आवश्यक है।

लोक–विश्वास

यदि किसी क्षेत्र की सभ्यता और संस्कृति का ह्रदय और मस्तिष्क एक साथ परखना हो तो वहां के लोक–विश्वासों को जानना अत्यंत आवश्यक है।

बुन्देलखण्ड की संस्कृति व सभ्यता में आदिम–युग से 19वीं शती तक अनेक परिवर्तन हुये। जिससे अनेक लोक–विश्वास स्थापित हुये, जो जन सामान्य के जीवन आधार थे। लोक–सभ्यता के केन्द्र–बिन्दु यह लोक–विश्वास निवासियों की पहचान बन गये, जिससे उनका व्यक्तित्व एवं विचारों को परिभाषित किया जा सकता है।

बुन्देलखण्ड मे मूलरूप से दो प्रकार के लोक–विश्वास प्रचलित हुये हैं –

1) प्रमाणों पर आधारित या यथार्थ परक

2) अप्रमाणित या भावनात्मक या अनुभवों पर आधारित

वस्तुतः लोक–विश्वास की कसौटी 'लोक' होता है। जिसकी मान्यता मिलने पर ही लोक–विश्वास स्थायित्व प्राप्त करते हैं। प्रमाण या अनुभव के आधार पर ही विचारों की स्थापना होती है। उन विचारों को अनुकूल और विपरीत परिस्थितियों में परखने के बाद ही विश्वास किया जाता है। निरन्तर परखने की प्रक्रिया से गुजरकर समूह की स्वीकृति से ही विश्वास को लोक–मान्यता मिलती है, तब लोक–विश्वास का जन्म होता है। इस सारी प्रक्रिया में जन–मानस की लोक–कल्याणकारी भावना प्रबल होती है। लोक–विश्वासों को जितना जांचा परखा जायेगा उतनी ही उनकी जड़ें गहरी होंगीं। लोक विश्वासों को कभी–कभी तर्क की कसौटी पर भी जांचा–परखा जाता है। जिससे उसकी स्थापना पर प्रश्नचिन्ह लग जाते है, जैसे – पृथ्वी शेष नाग के फन पर टिकी है यह लोक विश्वास भूगोल ज्ञान व पुरातत्व सर्वेक्षणों के पश्चात् अप्रामाणिक हो गया। किन्तु भावनात्मक या आध्यात्मिक स्तर पर इसे हम सहर्ष स्वीकार करते हैं। चूँकि भूगर्भ में 'जल' व 'मिट्टी' है जिसमें सर्पो के रहने की प्रामाणिकता है। धर्म ग्रन्थों में देवी–देवताओं या पौराणिक पात्रों को जन्म फल, फूल, दोने, पृथ्वी, घड़े इत्यादि से होने की अनेक कथायें प्रचलित हैं, जो वास्तव में अविश्वसनीय प्रतीत होती हैं, किन्तु विज्ञान की प्रगति के

पश्चात् परखनली–शिशु के जन्म के बाद इन कथाओं को प्रामाणिकता मिल गई है।

कभी–कभी लोक–विश्वास सार्थक परिणाम नही देते तब निराशा एवं पीड़ा की स्थिति में मनुष्य "भाग्य में ऐसा ही लिखा था" कह कर सहनशीलता, धैर्य व साहस एकत्रित कर लेता है, किन्तु लगातार एक ही लोक–विश्वास के अपेक्षित परिणाम नही आते तब हम उसे अंध–विश्वास की कोटि में रख देते हैं।

आदिकाल से 19वीं शती तक काल परिवर्तन के साथ–साथ बुन्देलखण्ड में लोक–विश्वास भी परिवर्तित होते रहे है।

प्रागैतिहासिक काल से रामायण काल तक बुन्देलखण्ड में पुलिन्द, निषाद, शबर, रामठ, राउत और उसके बाद गोंड, कोल, भील सहारिया जैसी जन–जातियां यहां निवास करती थीं। आदिवासी प्रकृति के अत्यंत समीप थे। इनके प्रमाण गुहा चित्रों एवं शैलाश्रयों पर उकेरी कला से प्राप्त होते हैं।

प्रकृति के उपयोगी स्वरूप एवं प्रकोप से वे भली प्रकार परिचित थे। प्रकृति पूजा के कारण ही अनेक लोक–विश्वासों ने उस समय जन्म लिया। उस काल को लोक–विश्वासों का काल कहा जाये, तो अनुचित न होगा। कृषि युग में पृथ्वी, जल, पशु, वृक्ष, वर्षा, नदी इत्यादि को देव–स्वरूप पूजा जाता था। देवताओं को प्रसन्न करने हेतु फल, अनाज व मांस इत्यादि भेंट करना सामान्य बातें थी। संभवतः पशु–बलि भी इसी काल से प्रारम्भ हुई इस प्रकार कई 'लोक–विश्वास' भय के कारण भी प्रारम्भ हुये। प्रकृति की शक्ति से वे इतने प्रभावित थे, कि उसी को ही सबकुछ मानते थे। कर्म को महत्व देते थे। जीवन की समस्त बाधाओं को दूर करने का उपाय वे झाड़–फूँक, जादू–टोने और तंत्र–मंत्र को मानते थे।

गौंडो में भविष्य–सूचक लोक–विश्वास थे जैसे–गौरेया का धूल मे लोटना, बगुलों का एक पंक्ति में उड़ना, चंद्रमा के चारों ओर आभा–मण्डल बनना वर्षा आगमन के सूचक माने जाते थे।

आत्मा की अमरता, प्रेतयोनि, दुष्ट–आत्मायें इन सभी पर सौंर जाति के आदिवासी विश्वास करते थे।

बुन्देलखण्ड के उत्तर मे बसने वाली सहारिया जाति पवित्र–अपवित्र तथा पाप–पुण्य मानतीं थीं। गौ–हत्या के पाप निवारण हेतु दण्ड में पूरी बिरादरी को रोटी देना पड़ती थी। मासिक धर्म होना, बच्चे का होना, परिवार में मृत्यु होना सभी अपवित्र कार्य माने जाते थे।

रामायण काल में बुन्देलखण्ड में तीन संस्कृतियां थी। एक जन जातीय संस्कृति, दूसरी यक्ष–संस्कृति तीसरी आश्रम संस्कृति। रामायण के उत्तर काण्ड में यक्षों का वर्णन है। यक्षों के पास अमृत होता है ऐसा लोक–विश्वास था। 'अमरत्व' की प्राप्ति ही यक्ष पूजा का मुख्य उद्देश्य होता था। महाभारत में भी कुबेर (यक्ष) को धन और अमरत्व का देवता माना गया है। आश्रमी संस्कृति में आर्यों के

लोक–मूल्यों, मान्यताओं और विश्वासों ने भी बुन्देलखण्ड की संस्कृति को प्रभावित किया। चेदि नरेश उपरिचर वसु द्वारा इन्द्र की पूजा की जाती थी। कल्याणकारी शिव की पूजा ने लोक–विश्वासों को दृढ़ता प्रदान की। नाग धन के रक्षक व विष्णु के शेषनाग रूप में पूजनीय थे। श्री कृष्ण ने वर्षा के देव इन्द्र के प्रकोप से बचाने के लिये गोवर्द्धन पर्वत को रक्षक का स्थान दिलाया। गोवर्द्धन पर्वत की लोक–मान्यता सभी ने स्वीकार की। उस समय चेदि यादवों के अधीन था। अतः पशु पालकों का वर्चस्व था। ऐसे में पशुरक्षक लोकदेवता कारस देव का उदय हुआ। आर्य संस्कृति में पुर्न–जन्म, स्वर्ग–नरक, पितृ लोक, मूर्ति पूजा, बलि, शव के साथ मृतक की प्रिय वस्तुयें रखना आदि लोक–विश्वास माने गये।

महाभारत काल में 'कर्म' की महत्ता स्वीकार की गई। 'सत्कर्म' व 'दुष्कर्म' की व्याख्या मानव जन्म के साथ जोड़ी गई। महाभारत के युद्ध में बुन्देलखण्ड के चेदि और दशार्ण जनपद सम्मिलित हुये। इसी काल में यह लोक–विश्वास दृढ़ हुआ कि युद्ध में वीरता पूर्वक लड़ने वाले को स्वर्ग–लोक प्राप्त होता है। इसी लोक–विश्वास के बने रहते बुन्देलखण्ड में वीरता की अमिट परम्परा बनी, जो आने वाले समय में भी चलती रही।

इसके बाद लोक–विश्वासों को सूत्रों और स्मृतियों में संयोजित करने का प्रयत्न किया जाने लगा। जाति के अनुसार अलग–अलग विधान एवं कार्य निर्धारित किये गये। शकुन–अपशकुन, अनुष्ठान तथा जादू–टोने का प्रभाव लोक–विश्वासों के रूप में सामने आया, किन्तु सभी में लोक–हित ही सर्वोपरि था।

लोक–विश्वासों में पशु–पक्षियों का बोलना दिखना, शुभ–अशुभ की श्रेणी में आता था जैसे – सियार, भेड़िया, कुत्ते आदि अपवित्र समझे जाते थे। वृक्षों में भी कल्याणकारी देव–वास माना जाता था। नीम, वट, पीपल, पलाश तथा शमी वृक्ष के लाभों को लोक–हित में संदर्भितकर पूजनीय माना जाता था। इन सभी आस्था और विश्वासों को एक–सूत्र में पिरोकर 'सूत्रों' व 'स्मृतियों' में एकत्रित कर दिया गया। उस समय वे पवित्र सामाजिक ग्रन्थ थे।

महात्मा महावीर स्वामी और गौतम बुद्ध के पहले समाज में अंधविश्वास, कर्मकाण्ड और धर्म आडम्बरों की गहरी पैठ हो गई थी। नाग और बुद्ध के सम्बन्ध इतिहास में प्रसिद्ध और प्रमाणित हैं। जातक कथाओं में नाग का केंचुली उतारकर मनुष्य रूप धारण करना, अमूल्य मणि का स्वामी होना आदि उल्लेख मिलते हैं। अहिंसा की विचार धारा समाज में प्रवाहित हो रही थी। जैसे मानव पशु, वृक्ष, वायु, अग्नि एवं प्रस्तर सभी में आत्मा का वास है। अतः उन्हें मानव के समकक्ष मानकर व्यवहार करें। दुष्कर्मों को छोड़ने से मुक्ति मिलती हैं, ऐसा भी विश्वास 'लोक' में व्याप्त था।

बुन्देलखण्ड महावीर और बुद्ध के उपदेशों से भी प्रभावित रहा है। जिसका प्रभाव यत्र–तत्र देखने को मिलता है। यहां के स्मारक व मंदिरों का शिल्प तथा बौद्ध व जैन धर्मों के ग्रन्थों का पठन–पाठन इस बात का प्रमाण भी है।

लोक–विश्वासों में वैचारिक क्रांति भागवतों और शैवों के समय से आई, जिससे जीवन–दर्शन प्रभावित हुआ।

लोक–विश्वास किसी विशेष धर्म या सम्प्रदाय में नही होते, बल्कि उनका विकास युग की चेतना से प्रेरणा पाकर क्रमिक रूप से होता है। वृक्षों में आत्मा होती है। इसका निर्धारण विभिन्न कालों में भिन्न–भिन्न प्रकार से होता रहा है। जैसे–वैदिक काल में पीपल पर देवों का निवास माना गया है। महाभारत काल में पत्ते व फल युक्त वृक्ष पूजनीय माना जाता था। गीता में भी पीपल महिमा वर्णित हैं। बौद्ध धर्म ज्ञान का प्रमुख प्रकरण बोधि वृक्ष से जुड़ा है। जातक कथाओं में भी वृक्षों को देवता माना गया। पीपल पर 'ब्रम्ह' व नीम पर देवी हैं ऐसा विश्वास बना रहा, जिसके चलते 'ब्रम्ह' को 'ब्राम्हण' या 'वीर ब्रम्ह' को यक्ष समझा जाता रहा। वर्तमान में भी वृक्षों की मान्यता तथा महत्व में कोई कमी नही आई। वृक्षों पर जो लोक–विश्वास थे वे वर्तमान में लगभग समाप्त हो गये हैं किन्तु जब से वैज्ञानिकों द्वारा वृक्षों में जीवन का साक्ष्य प्रस्तुत किया गया। तब से वृक्षों के जीवन रक्षक रूप पर हमारा विश्वास दृढ़ हो गया।

बौद्ध सम्प्रदाय में भूत–प्रेत, तंत्र–मंत्र, ज्योतिष, रक्षा, ताबीज इत्यादि लोक विश्वास थे। दुरात्माओं की शान्ति के लिये बलि का प्रचलन था। नाग धन के रक्षक होते हैं, उनको प्रसन्न करने से मन वांछित फल प्राप्त होता हैं। इस धारणा के साथ यक्ष की पूजा पुत्र प्राप्ति के लिये की जाती थी।

एरण में 510 ई0 के प्राप्त अभिलेखों के अनुसार सती होने का प्रमाण मिलता है। जब हूणों से लड़ते हुये सेनापति गोगराज की मृत्यु हुई, तब उसकी पत्नी पति के शव के साथ चिता पर बैठ गई। यह सती प्रथा का प्रथम प्रमाण है। इसके बाद सती प्रथा पर आस्था और लोक–विश्वास के आधार पर बुन्देलखण्ड में अनेक सती हुईं। इसके प्रमाण अनेक सती स्तम्भ हैं।

पौराणिक काल से लोक विश्वासों पर आधारित अनेक कथायें प्रचलित हैं। इन कथाओं में पात्रों को जीवन्त बनाने के लिये वैदिक, वन्य, नागरी, देशी–विदेशी समस्त लोक–विश्वासों को समन्वित कर व्यावहारिक रूप दिया गया है। लोक–विश्वासों से गुंथित कथायें लोक–संस्कृति की संवाहक होती है। अधिकांश लोक–कथाओं का आधार पुराण होते हैं, उनमें प्रामाणिक काल निर्धारण तथा क्षेत्र की पहचान सरलता से की जा सकती है।

'विष्णु पुराण' उदधृत कथा से यह स्पष्ट है कि कथा विस्मृत हो जाती है, किन्तु विश्वास अमर हो जाता है जैसे सर्पों के विष से नर्मदा नदी रक्षा कर सकती है। कथानुसार नागों और गंधर्वों के संघर्ष में नाग पराजित हुये और उनका राज्य भी छीन लिया गया था। लोगों ने नर्मदा की सहायता मांगी तब नर्मदा पुरूकुत्स को लेकर पाताल गईं। पुरूकुत्स ने गंधर्वों का संहारकर नागों को राज्य वापस दिलाया।

तब नागों ने नर्मदा को आशीर्वाद दिया कि जो नर्मदा को स्मरण करेगा उसे सांपों का भय नही रहेगा। आज भी लोक–विश्वास दृढ़ है कि नर्मदा को स्मरण करने से नाग–कोप से बचा जा सकता है।

बुन्देलखण्ड के चंदेलकाल में राजनीतिक ईकाईयों का जन्म हुआ। चंदेलों के शासनकाल में सैन्य शक्ति का विकास हुआ किन्तु उसी के साथ आन्तरिक ऊर्जा स्त्रोत लोक संकल्प एवं लोक विश्वासों का भी जन्म हुआ। इस काल में वीरता को सर्वोपरि मानकर अनेक लोक धारणायें एवं विश्वास समाज में व्याप्त हो गये। उन लोक विश्वासों को आधार, आल्ह–खण्ड ने प्रदान किया –

''मानुस देइयां जा दुरलभ हैं, आहे समै न बारम्बार,
मरद बनाये मर जैबे कों, खटिया परकै मरै बलाय,
जै मर जैंहे रन खेतन में साखौ चलो अँगाऊँ जाय''

अर्थात् – मानव योनि दुर्लभ हैं। यह जीवन बार–बार नही मिलता है। मनुष्य अंत में मृत्यु को प्राप्त करता है। किन्तु खटिया पर पड़े–पड़े मरने से अच्छा है कि रण–भूमि में मृत्यु हो। यदि रण भूमि में मृत्यु हुई तो यश अमर हो जायेगा।

चंदेल काल में सती प्रथा को सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था, किन्तु आत्म हत्या को पाप समझा जाता था। देश, जाति व शासकों के प्रति अपनत्व के भाव थे जिसका प्रमाण केशव चन्द्र मिश्र द्वारा लिखित 'चंदेल और उनका राजत्व' में प्राप्त होते हैं। चंदेल काल में वीरता मय वातावरण था। इस कारण मंदिरों के शिल्प में भी युद्ध के दृश्य देखने को मिलते हैं। देवी–देवताओं की संहारकारी प्रतिमायें काल की विचार धारा के अनुरूप ही प्रतिष्ठित की गई थीं। जैसे महोबा में ताडण्व मुद्रा में शिव, चारों दिशाओं में प्रतिष्ठित चाण्डिका देवी की प्रतिमायें तथा गोरखा गिरि पर काल–भैरव की मूर्ति आदि। चंदेल कालीन शिला लेखों में दान की महिमा अंकित हैं। तीर्थ करना, तालाब व मंदिर बनवाना जैसे कल्याण कारी कार्य धार्मिक लोक–विश्वास थे। व्रत रहना, गाय का दान व सेवा, गंगा नदी पाप मोचनी हैं। इस प्रकार के विश्वास जन–जन में व्याप्त थे। व्यक्ति का कर्म और भाग्य दोनों पर समान रूप से विश्वास था। पुण्यकर्म अगले जन्म में काम आते हैं ऐसी धारणा भी थी।

'रूपकषट्कम' में शिव–पार्वती की महत्ता का वर्णन है। उनको बेल पत्र समर्पित कर प्रसन्न करने का उल्लेख भी हैं।

चन्देलकाल में कृषि सम्बन्धी अनेक लोक–विश्वास थे। जैसे–खेती को प्राकृतिक आपदाओं से बचाने हेतु पूजा करना, हल–बैल, पूजनीय हैं, अमावस्या को कृषि सम्बन्धी कार्य न करने के विश्वास आदि। चन्देलकाल में गड़े हुये धन का लोक–विश्वास उदित हुआ, जिसके चलते यह प्रसिद्ध हो गया कि अजयगढ़ दुर्ग के द्वार पर एक बीजक खुदा है। जिसके आधार पर धन प्राप्त हो सकता है।

'वही' में लिखा है कि – 'उस समय मंत्रों के बल पर अनेक सिद्धियां प्राप्त होती थीं। आंखों में विशेष अंजन लगाने से गड़ा धन दिखाई देता था रोगों व आपत्तियों से बचने के लिये तंत्र–मंत्र व ज्योतिष का प्रयोग होता था।'

इन लोक–विश्वासों पर प्रत्येक वर्ग की आस्था थी। इस कारण जादू–टोने भूत–प्रेत और तंत्र–मंत्र पर समाज का विश्वास था। उस समय प्रचलित लोकगीतों में भी लोक–विश्वासों को महत्व मिला। बांहे और आंख फड़कना शुभ, दूध से सींचने पर ननद पुत्रवती होगी और धान बोने से बहन धनी होगी इत्यादि। उस समय प्रचलित राछरे, दिवारी, देवीगीत, आल्हा आदि में ऐसे लोक–विश्वासों का समावेश था।

चन्देलकाल के बाद तोमर शासकों के समय लोक–विश्वासों में दूसरे परिवर्तन हुये। जिसमें कर्म, प्रेम, शौर्य, बलिदान व सतीत्व को वरीयता दी गई। दो धारणायें प्रबल रहीं – एक 'सत्त' (सत्य) दूसरी 'पत' (लाज)। देवी–देवताओं और आदर्श नारी–पुरूष में 'सत्त' होता है। इसी सत्त से वे विश्वास योग्य बनते हैं। कुल, राज और देश की पत रखना ही प्रत्येक का धर्म है।

'छिताई चरित' मे लिखा है – "विधना ने सुख और दुःख मस्तक पर लिख दिये है।" उस समय कर्म व भाग्य एक दूसरे के पूरक रहे। लोक–संस्कृति में दान व युद्ध को महत्व दिया जाता था। 'वही' के आधार पर–पुत्र होना उद्धार तथा मोक्ष प्राप्ति का साधन माना जाता था।

लोक–विश्वासों में वर्जनाओं का स्थान भी था। विष्णु दास कृत महाभारत में नीतियों के समर्थन के साथ रूढ़ियों का विरोध भी किया गया है –

(1) बिनसै धर्म किये पाखण्डु।
(2) बिनसै वेदु सुरा – रस भीनें।
(3) बिनसै कला कु–ठाकुर सेवा।

उपरोक्त तीनों अर्द्धालियों में जन में व्याप्त रूढ़ियों का विरोध किया गया है – कि पाखण्ड करने से वेदों का ज्ञान नष्ट होता है तथा बुरे स्वामी या गुरू की सेवा करने से 'कला' नष्ट हो जाती है। कला का ज्ञान अच्छे गुरू की सेवा से ही हो सकता है इस बात को प्रबलता से स्वीकार किया जाने लगा। इसे अकाट्य सत्य के समान स्वीकार किया गया। गुरू–शिष्य परम्परा के प्रति श्रद्धा भाव उत्पन्न हुआ।

मध्यकाल मे बुन्देलों के शासनकाल मे लोक–विश्वासों पर गौड़ों का प्रभाव अधिक रहा। इस समय भी भक्ति–भावना, मूर्ति पूजा तथा भूत–प्रेत के अस्तित्व पर विश्वास बना रहा। लोक–देवताओं की भक्ति ने समाज को इतना प्रभावित किया कि जाति–गत भावनायें गौंण हो गई

"जात–पाँत पूछे ना कोई।, हरि को भजे सो हरि का होई"

इस भावना ने समाज को एकता के सूत्र में बाँधने का काम किया। इसी प्रकार ईश्वर पर अगाध विश्वास था –

'राम भरोसे जे रहें, परबत पे हरियायँ।'

और, 'जिये राम राखे, ताय कोउ न चाखे।।'

इस प्रकार भक्ति–भाव पूर्ण कहावतों का प्रभाव समाज पर बहुत था।

तोमरों के पतन के बाद बुन्देलखण्ड पर मुगलों के लगातार आक्रमण से कई रियासतों ने आत्म–समर्पण कर दिया। इस समय लोक–संस्कृति का विकास भी कम हुआ इस कारण लोक–विश्वासों में परिवर्तन नही हुआ। पिछले समय से जो लोक–विश्वास चले आ रहे थे, यदा–कदा उन्ही को स्वीकार किया जाता रहा। इनमें भाग्य, धर्म, कर्म, युद्ध, सत्त, पत, शकुन–अपशकुन, भूत–प्रेत, जादू–टोने, ज्योतिष आदि की प्रमुखता रही। तुलसी रचित भक्ति काव्य ने लोक–संस्कृति को प्रभावित किया, जिससे अनेक लोक विश्वास उपजे। यह लोक–विश्वास नीति–परक भी थे, जिनमें से कुछ इस प्रकार थे– "जड़–चेतन–गुन–दोष, मय बिस्वकीन्ह करतार" अर्थात्– ईश्वर ने सम्पूर्ण विश्व को बनाया है, उसमें जड़, चेतन और गुण–दोष भी उन्ही के बनाये हैं।

"भलौ भलाई पे लहैं, लहै निचाई नीच।"

अर्थात् भले व्यक्ति भलाई करते हैं और नीच सदैव नीचता करते हैं।

रामचरित मानस की लोक–कल्याण की चौपाईयां और दोहे आदि भक्ति–भाव से जन–मानस ने आत्मसात किये। वे बाद में लोक विश्वास में परिणित हो गये। दोहावली में तुलसी द्वारा लिखित ज्योतिष लोक–विश्वास बन गया। दोहावली में वर्णित शुभ–अशुभ, तिथियां, नक्षत्र इत्यादि जन–सामान्य में ज्यों के त्यों स्वीकार कर लिये गये। रामचरित मानस को वास्तव में लोक–विश्वास ग्रन्थ कहा जाये तो अतिश्योक्ति न होगी। बुन्देलखण्ड के चित्रकूट क्षेत्र में श्री राम प्रवास के प्रमाण और साक्ष्यों ने ग्रन्थ पर विश्वास और भी बढ़ा दिया था।

रीतिकाल के कवि केशव ने भी रण–भूमि में वीरतापूर्ण लड़ने वाले योद्धा को स्वर्ग का अधिकारी बताया था। जहांगीर चंद्रिका में भाग्य व कर्म एक दूसरे के पूरक हैं इसके सम्बन्ध में लोक–विश्वास का वर्णन है– 'करम फलै उद्धिम करै, उद्धमहि करमहिं पाइ'

प्रेम सम्बन्धों पर भी लोक–विश्वासों का प्रभाव पड़ा। हरिसेवक मिश्र की 'काम रूपकथा' तथा बोधा के 'विरह वारीश' इसके उदाहरण हैं। उनमें लिखा है कि प्रेम का पथ तलवार की धार है। चकोर चन्द्रमा के प्रेम में चन्द्रमा जानकर अंगार खा लेता है।

इसी प्रकार कमल व सूर्य, मछली और जल, चुम्बक और लोहा इत्यादि प्रेमविश्वास के प्रतीक लोक में प्रचलित हो गये। 18 वीं शती में 'छत्र प्रकाश' और 'जगत राज की दिग्विजय' ऐसे ऐतिहासिक ग्रन्थ थे जो उस समय की लोक–संस्कृति के दर्पण कहे जा सकते हैं। इनमें राष्ट्रीय चेतना, संघर्ष, शत्रुता, राष्ट्रीय व अराष्ट्रीय तत्वों से सम्बन्धित लोक–विश्वासों को लोक–संस्कृति का अंग मान लिया गया।

धामी सम्प्रदाय का पवित्र ग्रंथ 'कुलज़मस्वरूप' में हिन्दु मुसलमानों में व्याप्त अंधविश्वासों की आलोचना की गई। मूर्ति पूजा का विरोध किया गया। किन्तु उस समय लोक–विश्वासों की व्याप्ति इतनी अधिक थी कि समाज उनके नकारात्मक पहलुओं को देखने या समझने में कोई रूचि नही रखता था। इस कारण ग्रन्थ को समाज में मान्यता और प्रतिष्ठा नही मिल सकी।

उस समय समाज में तंत्र–मंत्र, जादू–टोना, बलि, गड़े धन की प्राप्ति, परमार्थ को पुण्य तथा स्वार्थ को पाप समझने की मानसिकता थी। जातिगत भेद भाव भी पनपने लगा था। परस्पर जाति विरोधी भाव टकराने लगे। जातियों के कार्यों के प्रति लोक–विश्वासों की भावना आ गई जैसे – मंत्र व शास्त्र पढ़ने का अधिकार पंडित का है, वीरता से लड़ना क्षत्रिय धर्म है।

19वीं शती में लगभग पूर्व लोक–विश्वास ही समाज में मान्य रहे। 1842 ई0 में राजा पारीछत और अंग्रेजों के मध्य हुये युद्ध के प्रभाव से लोक–जागृति हुई। उसी को आधार मानकर 'लोक–काव्य' भी लिखे गये।

1857 ई0 में स्वतंत्रता संग्राम में असफल होने के बाद बुन्देलखण्ड में प्रचलित पुराने लोक–विश्वासों की जड़ें हिल गई। 19वीं शती के अंत में ईसुरी रचित फागों ने लोक–विश्वासों को विभिन्न रंग प्रदान किये। ऐसे में विचारों में परिवर्तन आया जैसे – धर्म के बिना कर्म नही हो सकता, योग साधना के बिना स्वर्ग की प्राप्ति असम्भव है, गंगा मोक्ष–दायिनी तथा पाप नाशिनी हैं, शरीर का विश्वास करना व्यर्थ है, वह तो नश्वर है, आत्मा ही चिरन्तन सत्य है। इसी प्रकार संसार ओस की बूंद के समान है जो हवा से ढुलक जाती हैं जिस प्रकार विपरीत प्राकृतिक आपदाओं के कारण संसार समाप्त हो जाता है। 'बड़े भाग मानुस तन पावा' भावना जन–जन का विचार था अर्थात् मनुष्य योनि बहुत भाग्य से मिलती है, इस कारण जीवन का सदुपयोग करें। इसी प्रकार अनेक नये लोक–विश्वासों ने जन्म लिया।

मध्य युग में लोक–कथाओं ने युगों से चले आ रहे लोक–विश्वासों को नीति–परक कसौटी पर खरा साबित कर दिया। करनी का फल मिलता है, भाग्य बलवान होता है, बलि देने से सूखे तालाब में पानी भर जाता है, मंदिर व तालाब बनवाना पुण्य का कार्य है, मेहनत की कमाई भली है, जन्म पत्री से शुभ–अशुभ की जाँच कराना, इत्यादि लोक–विश्वास, उस समय प्रचलित लोक–कथाओं में पढ़ने को मिलते हैं।

मध्य युग में वीर–भाव भी लोक–कथाओं में प्राप्त होते हैं। मनो गूजरी, मथुरावली, लक्ष्मीबाई, लोहागढ़, धन सिंह आदि की वीर गाथायें प्रचलित रहीं।

लोकगीतों में भी लोक–विश्वासों का समन्वय मिलता है जैसे –देवी गीत राछरे, लमटेरा, दिनरी आदि नीति परक लोक–विश्वासों के संवाहक रहे। लोक देवता – गौंड बाबा, कारस देव, लाला हरदौल, ठाकुर बाबा आदि के चारित्रिक विशेषताओं ने लोक–विश्वासों को आधार प्रदान किया। घर, समाज, पशु, खेती आदि के रक्षक यह देवता सम्पूर्ण मानव जाति के पूज्य थे। जन–सामान्य इनके ईश्वरीय रूप में भी अपनत्व का भाव देखता था। जिन लोक–विश्वासों को आदर्श जीवन के लिये आवश्यक माना जाता था, उन्ही का समन्वित रूप इन लोक देवताओं के व्यक्तित्व में देखकर मानव चमत्कृत था। लोक–देवताओं के कल्याणकारी स्वरूप की पूजा करने के लिये जन–सामान्य ने प्रत्येक गाँव में निश्चित देव स्थान बनाये। गाँवों में स्थान–स्थान पर 'चबूतरे' और 'मढ़ियों' की स्थापना हुई गाँव के 'गेवड़े' (आबादी के निकट) पर, खेतों की मेड़ों पर, गलियों में लोक–देवताओं की स्थापना की गई। वे प्रत्येक ग्राम–वासी के अपने देवता थे जो हर सुख दुःख में उनकी सहायता करते थे। समयान्तर में यह लोक–विश्वास दृढ़ होता गया। नियमित या निश्चित तिथि पर पूजन करना, भजन–कीर्तन, भेंट, चढ़ावा तथा साधारण व सर्व सुलभ–प्रसाद इत्यादि कार्यों ने लोक देवताओं की लोक प्रियता को बढ़ावा दिया। संस्कृत में लिखे वेद–शास्त्र तथा धार्मिक अनुष्ठानों की जटिल प्रक्रियायें साधारण व्यक्ति की ईश्वर से दूरी बनाये रखती थीं। वह दूरी लोक–देवता के पूजन में नहीं थी। मनचाहा आदर योग्य देव व्यक्तित्व ही जन–सामान्य को अपने लोकदेव के समीप ले जाता था। समाज के हित में कार्य करने का महत्वपूर्ण गुण लगभग सभी लोक–देवों में विद्यमान है।

वर्तमान में बुन्देली लोक–जीवन में घटोई बाबा, सिद्ध बाबा, भैंसासुर, कारस देव, लाला हरदौल, दूल्हा देव, भैंरो बाबा, गौड–बाबा, ठाकुर बाबा, खाती बाबा आदि को लोक देवता के रूप में पूजा जाता हैं।

मैंकासुर या भैंसा सुर या महिषासुर दुधारू जानवरों के रक्षक देवता हैं। इनकी स्थापना मिट्टी के कंगूरेदार टीले के रूप में की जाती है। अहीर जाति भैंसासुर का विशेष पूजन दीपावली के दिन करते हैं।

'घटोई बाबा' का स्थान नदी के किनारे का घाट माना जाता है। वहाँ पत्थर के रूप में घटोई बाबा की स्थापना की जाती है। ऐसा लोक–विश्वास है कि यह देवता नदी सम्बन्धी दुर्घटनाओं से रक्षा करते हैं। विवाह के बाद यदि नव–विवाहिता नदी पार कर रही हो तो पहले घटोई बाबा को नारियल, पूड़ी, शक्कर या मिठाई चढ़ाने की परम्परा है। जल से जुड़ा व्यवसाय करने वाले जैसे – मछुवारे, ढ़ीमर और धोबी इनको अवश्य पूजते हैं।

'मेड़िया बाबा' इन्हे बुन्देली में 'मिड़ोई बाबा' भी कहा जाता है, यह गांव के रक्षक देव है। इनका

स्थान यह गाँव की सीमारेखा के पास प्रवेश स्थान पर होता है। 'मेड़' पर इनका स्थान होता है। इसी कारण 'मिड़ोई बाबा' कहलाते हैं। दो ईंटों को त्रिकोणनुमा जोड़ कर इनका देव स्थान बनता है। सफेद कपड़े का झंडा लगाया जाता है।

उपरोक्त कुछ उदाहरणों से यह स्पष्ट है कि लोक–जीवन में व्याप्त कठिनाईयों और भय से मुक्ति पाने के लिये सम्बन्धित देवों की पूजा करने का विधान है। यही लोक–विश्वास अनेक वर्षों बाद भी लोक–देवताओं के स्थानों और मान्यताओं को जीवित रखें हैं। लोक–विश्वासों में केवल ऐसे देवता ही पूजनीय नही हैं जो काल्पनिक अस्तित्व रखते हैं बल्कि, ऐतिहासिक युग पुरूष भी ऐसे हैं जो अपने कार्यों से लोक–देवताओं की श्रेणी में आ गये। बुन्देली संस्कृति के रक्षक लाला हरदौल प्रत्येक ग्राम में प्रत्येक वर्ग में समान रूप से आदरणीय हैं। उनके आदर्श चरित्र का गुणगान लोकगीतों और लोकोक्तियों के माध्यम से किया जाता है–

महाराज बुन्देला नगर ओरछा म्यान।
जियत किये बहु पुण्य, मरे पैं थपे जगत में आन।

लाला हरदौल की महान बलिदान की अनुकरणीय गाथा ने भाभी और देवर के सम्बन्धों को माता–पुत्र के रूप में प्रस्थापित कर समाज में प्रतिष्ठित किया।

लाला हरदौल के मरणोंपरान्त की एक चमत्कारिक घटना भी प्रचलित है जो लोक–संस्कृति व लोक–विश्वास दोनों को एक साथ प्रस्तुत करने मे सक्षम है। हरदौल की बहन कुंजावति अपनी पुत्री के विवाह में भात माँगने ओरछा आईं। राजा जुझार सिंह पर हरदौल की हत्या का कलंक था। सामाजिक रूप से उनको बहिष्कृत कर दिया गया था। तब कुंजावति लाला हरदौल की समाधि पर गईं। कुंजावति के विलाप से हरदौल द्रवित होकर विवाह में भात लेकर गये। वे किसी को दिखाई नही दिये। सभी चमत्कृत थे। विवाह में बुन्देली परम्परानुसार मामा पंगत में घी परोसता है। उस समय हरदौल ने घी तो परोसा किन्तु दिखाई नही दिये तब दूल्हे की जिद पर केवल उसे दर्शन दिये। बाद में वही दूल्हा 'दूला देव' के नाम से हरदौल के सहयोगी लोक देवता के रूप में प्रतिष्ठित हुये। लाला हरदौल ने 12 गाँव विवाह के अवसर पर उपहार स्वरूप दिये थे। इस कारण उन गाँवों में हरदौल का पूजन नही होता है।

दूलादेव का चबूतरा अधिकांशतया गाँवों में हरदौल के चबूतरे के निकट ही बनाया जाता है। चढ़ावे में दूल्हे की वेशभूषा, व्यंजन, नारियल तथा सफेद, केसरिया या लाल रंग के कपड़े का झंडा चढ़ाया जाता है।

हरदौल के भात ले जाने वाली घटना का वर्णन बुन्देली वैवाहिक लोक–गीतों में बहुत सुन्दरता से किया गया है –

महासोर भओ लाला हरदौल भात दऔ

महासोर ....

लाला की करनी कछू बरनी न जात

मंडप के नैचे सामान न समात

दान दायजो सुहात, जड़े गाने जेवरात

सब नओ नओ

महासोर ....

इस घटना के बाद से ही बुन्देलखण्ड में यह लोक–विश्वास प्रचलित है कि विवाह का पहला न्योता लाला हरदौल को दिया जाता है। जिससे विवाह में किसी प्रकार की कमी न हो पाये। दूसरे ऐतिहासिक लोक–देवता हैं कारस देव, वे पशु रक्षक देवता हैं। तंत्र मंत्र की सिद्धि हेतु भी इनकी पूजा की जाती है। हैहयवंशी राजा अजय पाल का राज्य नर्मदा के किनारे बसी महिष्मती नगरी से लेकर बेतवा के किनारे पर बसे ओरछा नगर तक था।

'देवी भागवत' में वर्णित है कि राजा अजय पाल ने शंकर की साधना व तपस्या से अनेक मंत्र सिद्ध कर लिये थे। इनका प्रयोग वे लोक–कल्याणकारी कार्यों में करते थे। वे साँप का विष उतारना, अनिष्ट तथा विघ्न बाधायें दूर करना, जानवरों के रोग निवारण आदि के लिये उन मंत्रों का प्रयोग करते थे। उनके दो शिष्य थे – कारसदेव व हीरा मन। कारस देव भी शिव उपासक थे उन्होनें जीवन–पर्यन्त लोक की भलाई के लिये कार्य किये। लोक में वे देव–पुरूष के रूप में पूजित हैं उनके चबूतरे प्रत्येक ग्राम में मिल जाते है। दीपावली, होली व दशहरे पर कारसदेव की विशेष पूजा होती है। प्रत्येक माह शुक्ल पक्ष की चतुर्थी को भी चबूतरों पर भक्त एकत्रित होते हैं। समाज में कारस देव के प्रशस्ति गीत 'गोट' के नाम से प्रचलित हैं। शिव के डमरू के आकार की 'ढाँक' प्रमुख संगत वाद्य यन्त्र हैं। विशेष दिवसों पर किसी निश्चित व्यक्ति पर लोक–देवता का भाव प्रगट होता है, उस व्यक्ति को 'घुल्ला' कहते हैं। वह सभी भक्तों के कष्ट सुनकर झाड़–फूँक करता है तथा समस्याओं के समाधान बताता है। घुल्ला के बताये गये निर्देश कारस देव के आदेश मानकर जन–सामान्य उनका पालन करता है। संभवतः मानसिक संतुष्टि व कारसदेव की लोक रक्षक छवि ही इस लोक–देवता पर विश्वास करने में सहायक है। कारस देव का पूजन सामूहिक रूप से पूरा गाँव करता है। भाद्र पद माह में अमावस्या या पूर्णमासी को शगुन विचार कर पुजारी जी कारस देव का पूजन करना निश्चित करते हैं। पशुपालक इस पूजा को आम भाषा में 'रोग हकाना' कहते हैं। पूजन के लिये पूरे गाँव से चंदा लेकर धन एकत्रित करते है।

भाद्र पद माह में वर्षा में अधिकांश पशु बीमारियां फैलती हैं, इसी कारण यही माह 'रोग हकाने' के लिये उत्तम माना जाता है। इस पूजन का उद्देश्य यही रहता है कि गाँव भर के पशु रोग मुक्त रहें। पूजा वाले दिन सभी कारस देव के चबूतरे के समीप एकत्रित हो जाते हैं। पुजारी नये वस्त्र धारण कर पूजा प्रारम्भ करता है। गाँव के सभी पशुओं पर नीम के झोंके (नरम डाल) से दूध छिड़क कर उन्हें पवित्र करता है, फिर उन्हें आम के पत्तों की बंदनवार के नीचे से निकाला जाता है। पुजारी अभिमंत्रित उरद की साबुत दाल के 5 या 7 दाने पशु पालकों को देकर उनसे 'सीधा' (आटा, दाल, चावल आदि) प्राप्त करता है। उरद के दाने 'चौंपयाईं' बखरी (पशु बांधने का स्थान) के प्रवेश द्वार पर लाल कपड़े में बांधकर टांग दिये जाते हैं। कारसदेव के चबूतरे पर 'गोटे' गाई जाती हैं। अर्द्ध रात्रि में गांव की सीमा रेखा के चारों कोनो पर कीलें गाड़ दी जाती हैं जिसे 'रोंगों' को कीलना कहते है। गाँव की सीमा पर बिना धार तोड़े शराब से रेखा बनाते हैं, जिसे दुरात्माओं का प्रवेश निषिद्ध करना मानते हैं। सभी पशुपालक हाथों में सुलगते कंडे लेकर रगड़ते हुये गांव की सीमा रेखा तक हो–हो का शोर करते हुये जाते हैं, इसे 'रोग हकाना' कहते हैं। पूजा में प्रयुक्त नीम व कंडो का धुंआ रोग नाशक और वातावरण में कीटाणुओं को नष्ट करने में सहायक समझे जाते हैं।

लोक–विश्वास युगों से जन–मानस में व्याप्त हैं, जो अपनी लोक–कल्याणकारी अवधारणा के कारण ही जीवित है। लोक देवताओं पर विश्वास यह सिद्ध करता है कि व्यक्ति अपने कार्यों से युग–युगान्तर तक अमर रहता है सामाजिक भलाई के कार्य ही व्यक्ति को महान बनाते हैं। सम्पूर्ण लोक को अपने व्यक्तित्व व कार्यों से प्रभावित करना और विशाल जन समूह में विश्वास उत्पन्न कराना किसी साधारण व्यक्ति के वश की बात नही है।

बुन्देलखण्ड में मध्यकाल में बुंदेलो का शासन रहा हो या गौंड़ो किन्तु गौंड़ो में प्रचलित लोक विश्वासों का प्रभाव इस अंचल में अधिक रहा है। गौड़ों की गढ़ियां और उनके अवशेष सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में पाये जाते हैं। गढ़ा मंडला के गौंड़ सत्ता में रहे हैं इसलिये उनके विश्वास अधिक प्रचलित हुये। रजस्वला स्त्री की परछाईं भी अपवित्र मानी जाती थी। मनुष्य पर पड़ने वाली आपत्तियां भूत–प्रेतों के कुपित होने से आती हैं, ऐसा लोक–विश्वास है। मूर्ति पूजा भी गौंड़ों की चलाई गई परम्परा है।

लोक–विश्वास में भक्ति भाव ही दृढ़ता प्रदान करता है। राम–सीता तथा राधा कृष्ण की जोड़ी से सभी प्रभावित हुये। लोक–संस्कृति में अपनी मर्यादा और वीरता के लिये राम को तथा सतीत्व धर्म पालन में सीता के आचरण अनुकरणीय माने जाते हैं। उनका व्यक्तित्व लोक में ऊर्जा संचार करता है। दूसरी ओर प्रेम के उदान्त रूप को प्रगट करती है, राधा–श्याम की जोड़ी। वे मानव मन में प्रेम की सरसता प्रवाहित करते हैं। यह लोक–विश्वासों में प्रेम के अलौकिक रूप का प्रगटीकरण हैं।

'लोक' ने भावों को निरपेक्षता से अपनाया जब जाति व धर्म लोक–विश्वासों के समक्ष निर्बल हो गये तब वे लोक की शक्ति बने।

लोक–विंश्वासों का प्रभाव लोकगीतों पर भी पड़ा। लोक–गीत जन–सामान्य की चेतना को प्रभावित करते हैं, जिससे मानसिक प्रभाव गहरा होता है। लोक–गीत पीढ़ी दर पीढ़ी गाये जाते हैं। उनके भाव सदा लोक में व्याप्त परिस्थितियों को चित्रित करते हैं–

गोरी हारै न जाओ – 2
पीपर के पत्तन में देवता . . . . . .

अर्थात्, पति के हृदय में लोक–विश्वास है कि पीपल के वृक्ष पर देवता का निवास है इस कारण वह पत्नी को जाने से रोक रहा है।

लोक–कवि ईसुरी की फागों में जीवन की सत्यता की बात कही गई–
''यारी सदा निबाय रइयो, बीच बिसर जिन जइयो''
अर्थात्, दोस्ती सदा निभानी चाहिये उसे कभी भुलाना नही चाहिये।
इसी प्रकार मृत्यु के अंतिम सत्य के बारे में वे कहते हैं –

इक दिन होत सबई को गोनों
होनों उर अनहोंनो
जाने परत, सासरें सबकौं
बुरो लगें चांय नौनो . . . . . .

अर्थात् होनी या अनहोनी किसी भी माध्यम से मृत्यु सभी की निश्चित हैं। सबको ईश्वर के पास जाना है चाहे अच्छा लगे या बुरा।

इसी प्रकार–

मानुस होने कै ना होने रजऊ बोल लेओ नोंने।
अर्थात् अगली योनि मनुष्य की हो या नही सबसे प्रेम से बोलो।

बीसवीं शती में बुन्देलखण्ड की सांस्कृतिक चेतना में बदलाव आ गया। दो प्रकार की भावनायें समाज में उदित हुई एक राष्ट्रीय चेतना की, जिसने स्वतंत्रता प्राप्ति हेतु संघर्ष करना सिखाया दूसरी वैज्ञानिक धारणा जिसने लोक–विश्वासों पर बौद्धिक प्रभाव डाला।

इस समय विभिन्न भावों की काव्य–धारायें प्रवाहित हुई। 1903–04 ई0 में मैथलीशरणगुप्त रचित मुक्तक, 1907–08 ई0 में गीत व मुक्तक तथा 1912–14 ई0 में भारत–भारती के मुक्तक समाज

में क्रांतिकारी परिवर्तन लाने में सफल रहे।

इस युग में प्राचीन लोक–विश्वासों व नई वैज्ञानिक विचार धारा का टकराव समाज को दुविधा की स्थिति में ले गया। 1842 ई0 में राजा पारीछत और अंग्रेजों की लड़ाई के बाद हर–बोलों द्वारा प्रत्येक ग्राम व नगर में राष्ट्रीय चेतना का विकास लोक–काव्य के माध्यम से किया गया। 1857 ई0 के संघर्ष को लोक कवियों– खान फकीरे, दादूराम, गंगा सिंह और ईसुरी ने अपने लोक–काव्य में वर्णित किया। सन् 1942 एवं 1947 में गीतों में भी स्वतंत्रता आन्दोलन की झलक मिलती है। गीतों में स्वदेशी आंदोलन, चरखा, गांधी, खादी, शासकों का अत्याचार तथा उनकी बगावत इत्यादि विषय प्रमुख थे।

पुरातन व नवीन विचार धाराओं के संगम से लोक–विश्वासों के मिश्रित रूप सामने आये– मानव जीवन की क्षण–भंगुरता, मानव जन्म दुर्लभ, ईश्वर पर विश्वास, जन्म भूमि स्वर्ग से उत्तम जैसे लोक विश्वास सभी वर्गों में समान रूप स प्रचलित हुये। बीसवीं शती के लिये मुख्य विचारधारा इस प्रकार थी–

आगऔ अब कल जुग को पारो,
सत युग दै गऔ टारो।
अर्थात् सतयुग चला गया और अब कल युग आ गया है।

वैज्ञानिक विचारधारा ने पाप–पुण्य, भूत–प्रेत, तंत्र–मंत्र, स्वर्ग–नरक आदि लोक–विश्वासों पर प्रश्न चिन्ह लगा दिये। मनुष्य ऐसा प्राणी है जो सरलता से अपने अतीत को त्यागता नही है, वर्तमान में जीते हुये भविष्य की चिन्ता करता है। इसी सोच के चलते बुन्देली समाज में आज भी बहुत से लोक–विश्वास हैं जो समय के साथ समाप्त नही हुये हैं। उनमें थोड़े बहुत परिवर्तन अवश्य हुये हैं।

जीवन के प्रत्येक क्षेत्र व कार्यों में इन लोक–विश्वासों का महत्व वर्तमान में भी स्वीकार्य हैं। प्रायः ग्रामीण क्षेत्र इन लोक–विश्वासों के पोषक हैं। शहरी क्षेत्रों का आडम्बर युक्त जीवन भले इन्हें स्वीकार न करने का दिखावा करें, किन्तु मन ही मन शुभ–अशुभ के कारण इन लोक विश्वासों को स्वीकार करता है।

लोक–विश्वास सदैव गतिशील रहे हैं। आदिम मानव वन्य संस्कृति से लेकर वर्तमान वैज्ञानिक युग तक विभिन्न पड़ावों से गुजर कर अनेक लोक–विश्वासों और उनकी सार्थकता पर विवेचना करना उचित होगा।

प्रकृति सम्बन्धी लोक–विश्वास

वृक्षों में जीवन है। तुलसी, पीपल, आंवला, वट–वृक्ष, केला आदि की पूजा से इच्छापूर्ति होती

है तथा दीर्घायु जीवन प्राप्त होता है। वैज्ञानिक एवं आयुर्वेदिक दृष्टि से यह सभी वृक्ष गुणकारी हैं। फलदार वृक्ष को सींचना पुण्य है, इस लोक–विश्वास भावना में हमारा लाभ भी निहित है। यदि फलदार पौधे की निरन्तर देख–रेख तथा सिंचाई की जाये तो परिपक्वता की स्थिति आने पर हमें स्वास्थ्यवर्धक फल प्राप्त होगें।

यह लोक–विश्वास वर्तमान में पर्यावरण संरक्षण को सम्बल प्रदान करता है। इसी प्रकार चिड़िया, मछली व चींटी को चुगाने का लोक–विश्वास भी धरती, आकाश और जल में रहने वाले प्राणियों पर दया, प्रेम व आश्रय देने का भाव उत्पन्न करता है। इनमे लोक–कल्याण का भाव निहित हैं।

गाय को मोक्ष दायिनी मानकर माता के रूप में पूजना एक प्रचलित लोक–विश्वास है। चूंकि गाय का दूध पौष्टिक और सुपाच्य है। उसका पुत्र बैल कृषि–सम्बन्धी कार्यों में सहायक है। गाय का गोबर शुभ कीटनाशक व आयुर्वेदिक गुणों से युक्त होने के कारण कार्यों में प्रयुक्त होता है। गौ–मूत्र सेवन दीर्घायु प्रदान करता है। जिस पशु में इतने गुण एक साथ होंगें, वह समाज में निश्चित ही पूजनीय होगा।

पितृ–पक्ष में कौंओं को पितृ स्वरूप मानकर भोजन कराना। इसी पक्ष में परासन (जालौन) में पितृ मेले के अवसर पर मछलियों को पितृ–तुल्य मानकर चुगाना और उन्हें नथ पहनाना अपने स्वर्गीय स्वजनों को मृत्यु के पश्चात् भी स्मरण रख, प्रतिवर्ष प्रकृति के माध्यम से उन्हें स्मरण रखना। यह परम्परायें ही बुन्देली लोक–संस्कृति को आदरणीय बनाती हैं।

धार्मिक–लोक विश्वास

वर्ष भर विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा, इच्छा पूर्ति हेतु की जाती है। ऐसा लोक–विश्वास है कि शुभ अवसरों पर देवताओं की पूजा और निमंत्रण देने से कार्य निर्विध्न सम्पन्न होते हैं। मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि मनुष्य को प्रत्येक कार्य हेतु आत्मिक–बल की आवश्यकता होती है। जो ईश्वर की पूजा से प्राप्त होता है बुन्देलखण्ड में पुराने लोक–विश्वासों से यह सिद्व हो गया है कि ईश्वर सर्वोपरि है। उसकी साधना ही मोक्ष का मार्ग है। ऐसी स्थिति में ईश्वरीय शक्ति की उपासना मानव कार्यों की सफलता में मानसिक प्रभाव डालने में सहायक होगी। लोक–विश्वास है कि आत्मा अमर है। जन्म–मरण का चक्र अनवरत चलता है, पुनर्जन्म होता है। यह विश्वास व्यक्ति के सम्पूर्ण जीवन को प्रभावित करता हैं, जिससे वह आध्यात्मिक और अच्छे सामाजिक कार्य करने को प्रेरित होता है।

गंगा स्नान पाप नाशक है, तीर्थ–यात्रा व गरीबों को दान देने से पुण्य प्राप्त होता है। पाप–पुण्य जीवन में इस प्रकार घुले मिले हैं जिससे व्यक्ति पुण्य कार्य करने में जुटा रहता है। पाप का भय तथा पुण्य का लोभ व्यक्ति को दुष्कर्मों से विमुखता तथा सद्गुणों का पालन करने को प्रेरित करता है।

देवी–देवताओं को प्रसाद चढ़ाना, व्रत–उपवास करना, भजन–कीर्तन करना आदि भी लोक विश्वास है। सम्पूर्ण संसार में शक्ति की उपासना इन्ही माध्यमों से की जाती है। मानव जन्म मिलने पर संसार के समस्त सुखों को भोग करने वाला सर्वोच्च प्राणी ईश्वर के प्रति आभार प्रगट करने का सरल मार्ग इसी को मानता है। व्रत–उपवास आत्म नियंत्रण, पाचन शक्ति सुचारू होना तथा संतुलित दीर्घायु जीवन जीने का सन्मार्ग है।

स्वर्ग–नरक की कल्पना मानव–जीवन को नियंत्रित आचरण करने को प्रेरित करती हैं। नर्क की काल्पनिक यंत्रणायें और स्वर्ग के सुख मनुष्य को सद् कार्य करने हेतु प्रेरित करते हैं। ईश्वर सर्वत्र विद्यमान है इस लोक विश्वास का प्रभाव हमारे छोटे–छोटे कार्यों पर भी पड़ता है। हम सदैव सुरक्षित अनुभव करते हैं। एकान्त मे भी गलत कार्य करने से डरते है। पाप–पुण्य का लेखा–जोखा ईश्वर के पास है – यह भाव हमारे कार्यों के शुभ–अशुभ होने पर निर्भर करता है। यह समस्त भावनायें मिलजुल कर सुन्दर समाज की रचना में सहायक सिद्ध होती है।

वैज्ञानिक तथ्य है जब हम शान्त–चित रहते हैं तब शरीर की रक्त–संचार गति नियंत्रित रहती हैं जिससे हम अनेक बीमारियों से बच सकते हैं। चित्त शान्ति का सर्वोत्तम उपाय है– योग–साधना, जप–तप, इनका लोक–विश्वास में महत्वपूर्ण स्थान है। सत्य यह है कि हवन से वातावरण शुद्ध होता हैं। छोटे–छोटे कीटाणु धुंये से नष्ट हो जाते हैं। भले ही लोक–विश्वास में यह माना जाये कि हवन से देवता प्रसन्न होते हैं।

अति प्राकृत लोक–विश्वास

भूत–प्रेत की कल्पना समाज में बहुत पहले से व्याप्त है। यह तथ्य अत्यन्त सरलता से स्वीकार किया जाता है कि भय मनुष्य को भीरू बनाता है। भूत–प्रेत से सम्बन्धित कपोल कल्पनायें कहानियां आदि प्रचलित हैं। वे सभी मानव मन की भीरूता को प्रदर्शित करती हैं। उनमें सत्यता की परख करने का प्रयास कभी नही किया गया। गांव की चौपाल पर अलाव के आस–पास बैठकर रोमांच हेतु सुनाये गये भूत–प्रेतों के किस्से अधिकांशतया मनगढ़ंत ही होते हैं। यह सुनाने वाले की क्षमता व वाकपटुता पर निर्भर होता है कि वह उसमें सत्यता का पुट कितना दे सकता है।

मानव स्वभाव है कि जिसे देखा नही है उस रहस्य–रोमांच तथा परा–शक्तियों में उत्सुकता रखना, इसी कारण भूत–प्रेत का लोक–विश्वास जन–सामान्य में विकास–क्रम के साथ चला आ रहा है। संभवतः आने वाली शताब्दियों में भी वे इसी प्रकार प्रचलित रहेंगें। इसका दूसरा कारण अशिक्षा एवं कथाओं को तार्किक कसौटी पर न कसना भी है। वैसे यदा–कदा भूत–प्रेत के लोक–विश्वास को समाप्त करने के उद्देश्य से अनेक कहानियां बनाई गईं जैसे– कपड़े की छाया को भूत समझना, वृक्षों

से गुजरती हवा की सांय–सांय को भूतों की काल्पनिक आवाज समझना, खाली मकान, खंडहर पशु–पक्षियों या अराजक तत्वों के निवास–स्थान बन जाते हैं। उनको भूत–प्रेतों का निवास घोषित करना। किन्तु यह भ्रम नाशक कथायें सदियों पुराने लोक–विश्वास की मजबूत जड़ों को उखाड़ने में अक्षम रहीं। भूत–प्रेत का नाश केवल तंत्र–मंत्र से होता है, यह विश्वास बुन्देलखण्ड के ओझा और तांत्रिकों के व्यवसाय को आधार प्रदान करता है। इसे दूर करने के लिये शिक्षित समाज को आगे आना होगा।

कृषि सम्बन्धी लोक–विश्वास

यह लोक–विश्वास कृषक समाज में अनुभवों के आधार पर ही व्याप्त है। कृषि–सम्बन्धी कहावतों में भी लोक–विश्वास की झलक प्राप्त होती है–

माई न परसै भरे न पेट, मघा न बरसे भरे न खेत

अर्थात् जब तक माँ सन्तान को भोजन न परोसे तब तक उसका का पेट नही भरता है। उसी तरह किसान कितनी भी सिंचाई करे किन्तु, उत्तम फसल तो तभी होगी जब मधा नक्षत्र में वर्षा से खेत भरें।

इसी प्रकार –

जो कऊं बरसैं हाथी, गैऊं लग है छाती।

अर्थात् हस्ति नक्षत्र में वर्षा होने से गेहूँ की पैदावार अच्छी होती है।

स्वाति गेहूँ आर्द्रा धान, न ब्यापैं कीरा और घाम

अर्थात् स्वाति नक्षत्र में गेहूँ बोये तो कभी फसल कीड़े या धूप से नष्ट नही होगी। इसका आन्तरिक भाव यही है कि समय से बुआई होने पर उचित मौसम का भरपूर लाभ फसल को मिलता है।

लोक–विश्वास है कि मंगल और गुरूवार को काछी जाति के लोग अच्छी सब्जी उत्पन्न हो, इसके लिये होम–धूप करते हैं। अर्न्तभाव यही है कि सब्जी की खेती में सप्ताह में दो बार धुंआ करने से वातावरण के कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। जिससे सब्जियों को उनसे हानि नही होती। यह लोक विश्वास भी है कि जब तक बौनी पूरी न हो किसान बाल नही बनवाते अर्थात् बुआई के मध्य में किसी भी अन्य कार्य में समय व्यर्थ न करें। इसी उद्देश्य का संकल्प है–बाल न बनवाना।

घर–परिवार के लोक–विश्वास

परिवार में कन्यादान पुण्य है, पुत्री के घर भोजन न करना उसके चरण स्पर्श करना जैसे लोक–विश्वास हैं। बुन्देलखण्ड में कन्या को देवी–स्वरूप माना जाता है, इस कारण आदर–भाव से

चरण स्पर्श करते हैं। एक भाव यह है कि, दान देने के बाद वस्तु पर हमारा अधिकार नही रहता। यह सोच ही कन्यादान के बाद पुत्री को पराया मानने में सहायक है।

दक्षिण दिशा से सम्बन्धित अनेक लोक–विश्वास हैं जैसे – दक्षिण की ओर पैर करके नही सोना, दक्षिण मुखी निवास स्थल अशुभ है। वैज्ञानिक दृष्टि से पृथ्वी के चुम्बकीय ध्रुव उत्तर–दक्षिण हैं, उस दिशा में सोने से हमारे तंत्रिका–तंत्र, रक्त–संचार एवं शारीरिक स्वास्थ्य पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। इसी प्रकार दक्षिण मुखी निवास में पूर्व से निकलने वाले सूर्य व उसके पश्चिम में अस्त होने की दशा में प्राकृतिक प्रकाश का अभाव होगा। विज्ञान बताता है कि सूर्य का प्रकाश अनेक बीमारियों के कीटाणुओं का नाश करता है धूप सेवन से हमें विटामिन 'डी' प्राप्त होता है। यह समस्त सुविधायें दक्षिण मुखी निवास में असम्भव होंगी।

रात्रि में झाडू लगाने व कूड़ा फेंकने से लक्ष्मी की हानि होती है, ऐसा लोक–विश्वास है। संभवतः रात्रि में छोटी महत्वपूर्ण वस्तु कूड़े के साथ न चली जाये इसी आशय का भाव निहित है। प्रातः काल घर की सफाई लक्ष्मी का आगमन मानी जाती है। प्रातःकाल उठना स्वास्थ्य के लिये तथा नियमित दिनचर्या के लिये आवश्यक है।

घरों में जल भरा कलश, दही भरा बर्तन इत्यादि देखना शुभ मानते हैं यह पूर्णता के प्रतीक हैं। बछड़े को दूध पिलाती गाय दिखना शुभ माना जाता है। यह संतृप्ति व मातृत्व भाव का संचार करती है। मनो भावों को बल प्रदान करने वाले लोक–विश्वासों की सार्थकता मानव जीवन के लिये आवश्यक है।

उत्तम स्वास्थ्य के लिये व्रत–उपवास रखना केवल फल और दूध का सेवन करना पौष्टिक तत्वों से शरीर में ऊर्जा संचार का द्योतक है। घरों में ताँबें के पात्र पानी भरने में प्रयुक्त होना, नीम की पत्तियां चबाने से ज्वर न होना जैसे स्वास्थ्य भावना से युक्त लोक–विश्वास भी है। इनका वैज्ञानिक व चिकित्सीय गुण सर्व विदित है।

नीतिपरक लोक–विश्वास

नीतियाँ सम्पूर्ण जीवन के कार्यों को प्रभावित करती है। वास्तव में नीति परक लोक–विश्वास मनुष्य के मानवीय गुणों को परिमार्जित कर लोक–कल्याण के कार्यों में लगाने हेतु, प्रेरित करते हैं। 'पराधीन को कोई सुख नही होता', यह स्वतंत्रता संघर्ष हेतु प्रेरित करता है। दूसरे के दुःख में स्वयं दुःखी होकर दुःख की सीमा को समझा जा सकता है, दूसरे की आशा न करे बल्कि स्वयं उद्यम करें। जो करेगा वो पायेगा। कर्म करने वाले से ईश्वर या भाग्य भी हार जाता है। वृद्धों और सज्जनों का आर्शीवाद सेवा करके प्राप्त करें। अवश्य फली भूत होगा। दुर्जन पुत्र से योग्य पुत्री भली है।

यह समस्त लोक–विश्वास लोक–नीतियों के आधार है, इनका पालन करने से मनुष्य का नैतिक

विकास सम्भव है जो मानवता की सेवा हेतु अत्यंत आवश्यक है। यह समस्त भाव समाज में बड़ों का आदर, छोटो को स्नेह देने तथा सदाचार करने की प्रेरणा देते हैं।

ज्योतिष सम्बन्धी लोक–विश्वास

ग्रहों के प्रकोप से हानि होती है ग्रह दशा अनुकूल होने पर सुख तथा प्रतिकूल होने पर दुःख प्राप्त होता है। वर्तमान. समय में ग्रह–नक्षत्रों के प्रति वैज्ञानिक विचारधारायें उत्पन्न हुईं हैं जो शरीर में उपस्थित तत्वों पर ग्रहों के गुणों के प्रभाव को स्वीकार करती हैं।

शक्ति स्वरूपा माँ दुर्गा की उपासना के नौ दिन प्रत्येक कार्य हेतु शुभ माने जाते हैं संभवतः माता का आश्रय हमें आत्म बल प्रदान करता है। एक पक्ष में दो ग्रहण अशुभ है इस 'लोक–विश्वास' में संभवतः प्राकृतिक असंतुलन का भाव निहित है।

लोक–विश्वास बुन्देली लोक–जीवन के अभिन्न अंग है। जाने –अनजाने सभी निर्वाह करते हैं। मन में यह भाव रहता है, कि कहीं न मानने से अशुभ न हो जाये। क्योकि मनुष्य सदैव अपना भला चाहता है। इस कारण लोक–विश्वास मानना उसकी विवशता भी है। द्विविधा की स्थिति में तथा कभी–कभी परम्पराओं और रीति–रिवाजों के दबाव में भी मानव विश्वास करता रहता है।

अंत में हमें यह स्वीकार करना होगा कि लोक–विश्वास समाज का मन है। उन्हें जानकर हम 'लोक' की आत्मा और भावनाओं को सरलता से समझ सकते हैं। बुन्देली लोक–संस्कृति का आधार लोक–विश्वास ही है। इन्ही के माध्यम से हम लोक–संस्कृति व सभ्यता की विवेचन कर सकते हैं।

लोक–रीतिरिवाज

लोक विश्वास की जड़ें जब समाज में स्थायीत्व प्राप्त कर लेती हैं तब वे लोक–मान्यताओं में परिवर्तित हो जाती हैं। लोक मान्यताओं पर ही आधारित होते हैं हमारे रीति–रिवाज। यह समाज की संस्कृति व सभ्यता के साकार रूप होते है। इसी प्रकार बुन्देली लोक जीवन में रीति–रिवाज और मान्यताओं की अपनी अलग सुगन्ध है। मनुष्य जीवन में होने वाले सोलह संस्कारों में यह सम्बद्व रहती है। शास्त्रों में वर्णित सोलह संस्कार बुन्देली लोक–जीवन में भी मनाये जाते है, किन्तु उनका मनाने का तरीका अलग है। अनेक निषेध भी है। 16 संस्कार इस प्रकार है।

(1) गर्भाधान संस्कार (2) पुंसवन संस्कार (3) सीमन्तोन्यन संस्कार
(4) जातकर्म संस्कार (5) नामकरण संस्कार (6) निष्क्रमण संस्कार
(7) अन्नप्राशन संस्कार (8) चूड़ाकर्म संस्कार (9) वेदारंभ संस्कार
(10) उपनयन संस्कार (11) कर्णवेधन संस्कार (12) समापवर्तन संस्कार
(13) विवाह संस्कार (14) बानप्रस्थ संस्कार (15) सन्यास संस्कार
(16) अन्त्येष्टि संस्कार

उपरोक्त संस्कारों मे से पहले तीन संस्कार होते हैं। इन्हें प्रथम शिशु के जन्म के अवसर पर ही किया जाता है। अधिकांश संस्कार घर के वरिष्ठ–जनों द्वारा ही पूर्ण करा दिये जाते है किसी वेद के ज्ञाता पंडित की आवश्यकता नही होती। वेद मंत्रो के स्थान पर परम्परागत लोक गीत ही वातावरण को संस्कार अनुकूल बना देते हैं।

इन संस्कारों के बुन्देली बोली मे नाम भी अलग होते है। यहाँ इन लोकाचारो को उनके बुन्देली रूप मे ही वर्णित किया जा रहा है।

प्रथम सन्तान कामना हेतु फूलचौक पूजन होता है ऋतु–स्नान के आठवें दिन के बाद शुभदिन पर यह विधान किया जाता है। लोक मान्यता है यदि स्त्री पुत्री चाहती है तो सहदेवी बूटी तथा पुत्र की इच्छा रखने पर लक्ष्मण बूटी का सेवन करे। वर्तमान मे यह परम्परा लगभग समाप्त हो गई है। विवाह मे प्रथम रात्रि मिलन के दिन ही शैया के नीचे चौक पूर कर पूजन करा दिया जाता है।

आगन्नौ या पुंसवन संस्कार गर्भ धारण होने के दूसरे या तीसरे माह मे किया जाता है बिरादरी और रिश्तेदारी मे वंश–वृद्धि का समाचार भेज दिया जाता है। गर्भिणी को चौक पर बिठा कर हवन–पूजन कराने की पररम्परा है। शिशु जन्म तक ब्रम्हचर्य पालन की सलाह दी जाती है।

गर्भ के सातवें माह मे गर्भिणी के मायके से वस्त्र, आभूषण, चाँदी का सूप, बाँसूरी, नौ तरह की मिठाई, नौ तरह के पकवान, घी, गुड, मेवा, दलिया या गेहूँ आता है इस दिन भी स्त्री को चौक पर बिठाया जाता है। इसे 'सादें' या 'सादन की चौक' कहते हैं।

नौ माह पूर्ण होते ही शिशु जन्म होता है। ग्रामीण क्षेत्रो मे 'बसोर' जाति की दाई शिशु जन्म कराती है। आठ दिन तक वही जच्चा–बच्चा की सेवा करती है यह 'बसोर की सोर' कहलाती है।

जच्चा को नीम और जडी बूटियों युक्त गर्म पानी से स्नान कराया जाता है। जो कीटाणुनाशक माना जाता है। लगभग एक सप्ताह तक नाइन सेवा करती है इसे 'नाइन की सोर' कहते हैं।

'निष्क्रमण संस्कार' के रूप मे शिशु को आँगन मे लाकर सूर्य दर्शन कराया जाता है। आँगन मे गोबर का प्रतीकात्मक कुआँ बनाया जाता है। उसमे दूध तथा कांय डाली जाती है। ननद प्रसूता को 'जवारी' (जवा, मखाना सुपारी से बनी माला जिसके बीच मे नारियल का गोला पडा रहता है) पहनाती है। लोकाचारो मे सभी का कार्य निश्चित रहता है जिसका 'नेग' भी वे अधिकार समझ कर प्राप्तकर लेते हैं। आपसी प्रेम और अपनापन प्रदर्शित करने का यह भी एक तरीका है। सास 'चरूआ' (प्रसूता के पीने का जडी–बूटी युक्त पानी उबालने का मिट्टी का घडा) रखती है। ननद 'भये के सांतियाँ गोबर से प्रसूति गृह के मुख्य द्वार पर बनाती है। जेठानी गुड, घी मेवे और सोंठ के पौष्टिक लडडू बनाती है।

देवर 'कुआँ पूजन' के समय गगरी उतारता है तथा निष्क्रमण के समय बाँसुरी बजाता है। पुरा–पड़ोस की महिलायें मंगलगीत गाती हैं। उन्हे 'बतासा' या लडडू बाँटे जाते है। जन्म के दूसरे दिन बच्चे का नक्षत्र अनुसार जन्मांक बताते हैं फिर नाम रखते हैं। इसे 'खरी पटा' या 'नाम करण संस्कार' कहा जाता है।

दस्टौन के दिन प्रसूता का पूजन होता है बुआ को फूल या कांसे धातु की थाली दी जाती है जिस पर काजल पार कर वह शिशु को लगाती है। प्रसूता की गोद मे आटे से बने फरा, चन्दा, सूरज और बतासा डाले जाते है। संभवतः भाव यह है कि पुत्र जन्म देने से उसकी गोद मे सम्पूर्ण विश्व आ गया है। 'दस्टौन' का पूजन मातृत्व का पूजन होता है।

दस्टौन की 'पंगत' (दावत) मे 'संमूदी रसोई' (दाल–भात, कढी, रोटी, बरा, फरा और गोरस इत्यादि) बनाई जाती है। बच्चे के कान मे तीन बार 'कू' बोल कर वंश के सभी सदस्यों के नाम बोले जाते हैं इसे लोक भाषा मे 'काना बाती कू' कहते हैं। शिशु जन्म के एक माह पश्चात कुआँ पूजन होता है। घर से कुँऐ तक रास्ते मे छह चौक पूरे जाते हैं सब पर दीपक जलाया जाता है सातवाँ चौक कुँआ के घाट पर बनाया जाता है। उन चौकों पर पैर रखती हुई प्रसूता कुआँ पूजन कर के पानी की गगरी भरती है। अपने स्तन का दूघ कुँये मे इस भाव से डालती है कि जिस प्रकार कुँआ जल से भरा रहता है उसी प्रकार मेरे स्तनों मे दूध रहे जिसे पीकर शिशु स्वस्थ हो। घर आने पर देवर गगरी उतारता है। यदि किसी परिवार मे बच्चे जन्म के पश्चात जीवित नहीं रहते तब शिशु जन्म पर 'छितरिया (बाँस की डलिया) कढ़ोरी (खींची) जाती है। उसमे बच्चे को लिटाकर किसी पुत्रवती स्त्री को सौंप दिया जाता है। वह स्त्री धर्म माँ बन जाती है। झूला ड़ालते समय कुछ परिवारों मे 'रक्कस बाबा' का 'रक्कस' चढाया जाता है यह रक्षक शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है। यह पारिवारिक पूजा होती है। जिसके यहाँ रक्कस की पूजा नहीं होती वह प्रसाद भी ग्रहण नहीं करता है। झूले का सामान बुआ लेकर आती है वह नेग लेने के लिये नई साड़ी से झूला डालती है फिर वह साड़ी उसी की हो जाती है। 'चंगेर' (बाँस की डलिया) को कलात्मक ढंग से सजाकर उसमे बच्चे के लिये कपड़े , सोने –चाँदी के आभूषण, (हाय, चूरा, तबिजिया, दुधियां आदि) खिलौने रख कर ग्राम देवी को स्पर्श करा के बुआ 'चंगेर' सिर पर रख कर पूरे गाँव मे घूमती हैं।

चंगेर मे लोग व्यवहार के रूपये डालते हैं जो बुआ के होते हैं। वर्तमान मे 'चंगेर' का स्थान पालने ने ले लिया है। उपरोक्त सभी अवसरों के बुन्देली रसयुक्त लोकगीत होते हैं, जो ढ़ोलक और मंजीरे की संगत के साथ वातावरण को आनन्दित करते हैं। बच्चे का मुण्डन संस्कार कुलदेवी या कुल–देवता के मंदिर पर होता है। 'आसें' (आटे के सात पुआ) बच्चे के हाथ मे देकर, चौक पर बिठाते हैं। बुआ बच्चे की झालर (कटे हुए बाल) एक आटे की लोई मे दबाती जाती है। बुआ को 'आसें' और

नेग दिया जाता है। बच्चे की 'पासनी' (अन्न प्राशन) मामा के घर खीर या दूध चावल खिलाकर की जाती है। उच्च वर्णों मे 'जनेऊ' (यज्ञोपवीत) भी होता है। कभी–कभी यह विवाह के समय भी होता है।

विवाह संस्कार मानव जीवन मे बहुत महत्वपूर्ण होता है। पहले वर पक्ष वाले कन्यापक्ष के यहाँ कन्या देखने जाते हैं। कन्या पक्ष के लोग वर पक्ष के घर 'तसला' लेकर जाते हैं। उसमे मिठाई रखकर पूजाघर मे रख कर वर–पक्ष के वरिष्ठ के पैर छूते हैं। वर पक्ष कन्या की ओली (गोद) मे मिठाई और साड़ी रख कर कोई आभूषण पहना देते हैं।

विवाह कार्यक्रमों की पीली चिट्ठी जिसे 'सुतकरा' कहते हैं, उसे वर पक्ष को भेजा जाता है। लगुन के दिन ही परिवार की महिलायें समूह मे गाँव के बाहर जाती हैं वहाँ भूमि–पूजन कर डलिया मे मिट्टी भरकर लाती हैं जिसे 'मटियानो' कहते हैं। इस मिट्टी से विवाह से सम्बन्धित चूल्हा, हवन कुंड, दीपक, चकिया आदि बनाये जाते हैं।

'छेई का बुलावा' पुरूषों के लिये होता है वे एकत्रित होकर गाँव के बाहर जाकर लकडियाँ काट कर लाते हैं जो विवाह मे रसोई बनाने के काम आती है 'बटौना' मे उबले चने और गुड़ बाँटा जाता हैं। पड़ोस की महिलायें दाल पीसने, गेंहू बनाने में मदद करती हैं। मिथौरी बनाई जाती है। यह सारे कार्य मिल–जुलकर निबटाने की भावना से किये जाते है जिससे सामाजिकता की भावना को बल मिलता है।

विवाह की अन्य रस्मे भी होती है माँ का अपने भाई के यहाँ भात माँगने जाना, वर–वधू को उबटन, तेल और हल्दी महिलाओं और कन्याओं द्वारा लगाना, परिवार के मान्यों (बहनोई, फूफा) द्वारा मड़वा गाड़ना, वर की 'राछरी' (गाँव मे घुमाना) फिरती हैं व्यवहारी टीका करके रुपये या भेंट देते हैं। दूल्हे की साज–सज्जा भी यहाँ निराली होती है। वह पीला बागा, सिर पर खजूर पत्र से निर्मित मौर पहनता है भाभी काजल लगाती है, बुआ खौर काढ़ती है, फूफा पाग बाँधता है, बहिन पान खिलाती है। दूल्हे को मुख्य द्वार पर लाकर चौक पर खड़ा किया जाता है वहाँ दो कच्ची दिबुलियों को सूत मे बाँध कर दोनो पैरों के पास रख देते है। राई–नोन से नजर उतारी जाती है मूसल भी उसारा जाता है। बारात निकासी के समय दूल्हा दिबुलियों पर पैर रखकर उन्हें तोड़ता हुआ बिना पीछे देखे चला जाता है। बारात वधू के गाँव के बाहर किसी बाग मे रूक जाती है। वहाँ वर कुम्हार के घर जाकर बर्तन तथा बसोर के यहाँ जाकर बँसेड़ा (बाँस से बने पात्र) लेता है और नेग देता है। खबास (नाई) वधू के यहाँ पात्र ले जाकर बारात आने की सूचना देता है। यह पात्र इस बात के प्रतीक है कि गाँव की बाहरी सीमा पर रहने वाले यह प्रमाणित करते हैं कि बारात आ चुकी है।

बारातियों को काली–मिर्च मिश्रित शर्बत पिलाकर 'मिर्चवानी' करते हैं। कन्या का भाई वर का टीका करता है। जिसे 'बाग–टीका' कहते हैं। मिलनी की रस्म होती है। इस समय खवास लाल रंग

का कपड़ा जमीन पर डालता है। जिस पर खड़े होकर वर–वधू के मामा गले मिलते हैं। फिर वर–वधू के पिता गले मिलते हैं। विवाह की अन्य रस्में वधू का धोबन से सुहाग मागवौ, पैठारी (बारात की शोभायात्रा) टीका, चीकट उतराई, चढ़ावा, भांवर, ज्योनार (भोजन), पाँव पखराई (वर कन्या के पैर पूजना) पलका चार, धान बुआई, मेहर की पूजा (वर–वधू द्वारा कुल देव की पूजा) या माँय की पूजा करते हैं। जिस गाँव से बारात आई है यदि उस गाँव की लड़की वधू के गाँव में ब्याही हो तो वर पक्ष की ओर उसका सम्मान वस्त्र धन देकर किया जाता है। लड़की वर का टीका करती है इसे 'दैर चपौ' कहते है। कुंवर कलेवा के बाद विदा होती है। वर के यहां वधू का स्वागत बहन या बुआ शरबत पिलाकर करती हैं। देवी–देवताओं के यहां हाथे–थापे लगाये जाते हैं। रिश्तेदार या पड़ोसी महिलायें बहू का 'मौचायनों' (मुंह दिखाई) करती हैं। बुन्देलखण्ड में विवाह के समय वर–वधू को विष्णु–लक्ष्मी का स्वरूप माना जाता है। इस कारण वर की माँ स्वागत करते समय वधू के पांव छूती हैं। फिर पैरो से दिबुलियाँ तोड़कर वर–वधू घर में प्रवेश करते हैं। दादरे को बुलौआ लगता है, सुहागरात के बाद 'चलावे' (चौथी की विदा) होती है। गौना होने के बाद रोटी छुआई की रस्म होती है जिसे 'खिचरी–फरा' (खिचड़ी और फरा) बनवा कर पूरा किया जाता है।

विवाह की सभी रस्मों में नेग–न्योछावर की जाती है। प्रत्येक अवसर के बुन्देली लोकगीत होते हैं। विवाह में लगभग प्रत्येक अवसर पर चौक पूरना तथा कोहबर, मुख्य द्वार के आरते–मौरते का चित्रांकन लोक–जीवन में जीवंतता प्रदान करता है। विवाह में प्रत्येक रस्म के लिये गांव भर में बुलावा लगाया जाता है। आधुनिकता ने बुन्देलखण्ड का जब से प्रभावित किया है तब धीरे–धीरे यह परम्परायें लुप्त होती जा रही है।

मृत्यु संबंधी रीति–रिवाज में अंतिम समय में मृतक को गीता पाठ के स्थान पर निर्गुण भजन या टिप्पे सुना जाते हैं। अर्थी को विमान कहते हैं। शव दाह क्रिया सामान्य रूप से सर्वत्र प्रचलित प्रथाओं के अनुसार ही होती है। उसके बाद विभिन्न जातियों में तीसरे, पांचवे सातवें नोवें दिन शुद्धता का रिवाज है। त्रयोदशी तक परिवार में पैर नही छुये जाते। वर्ष भर के प्रत्येक तीज–त्यौहार शोक–पूर्वक मनाये जाते हैं।

बुन्देली लोक–जीवन में अनेक निषेघ भी होते हैं। नया कपड़ा बुध, बृहस्पति या शुक्रवार को पहने, बुधवार को बेटी की विदा नही होती, नवें दिन घर नही लौटा जाता है, संकरे (जूठे) हाथों छूने से उपवास खंडित हो जाता है। शनिवार को तेल लेना निषेघ है। रात्रि में दाह संस्कार करना मना है। अस्थि फूल सिरा (विसर्जित) कर घर को रविवार, बुधवार नही लौटा जाता। दूध और अग्नि पर पांव पड़ना तथा प्रातः काल पानी के छींटें पड़ना अशुभ माना जाता है।

यह लोक–विश्वास और मान्यतायें आधुनिक युग में उपेक्षित हो गईं हैं, किन्तु इनमें वैज्ञानिक तथ्य भी निहित रहते है। लोक–संस्कृति में इनके कारण उल्लास–प्रेम और भावावेग उत्पन्न होता है। यह नही भूलना चाहिये कि इस व्यवस्था से समाज के प्रत्येक वर्ग का उचित सम्मान और महत्व बना रहता है। एकता, अपनत्व के भाव से अखंडता उत्पन्न होती है। लोकाचारों में श्रम के बदले धन न देकर अनाज, भोजन, कपड़े आदि देना आत्मीयता बढ़ाता है।
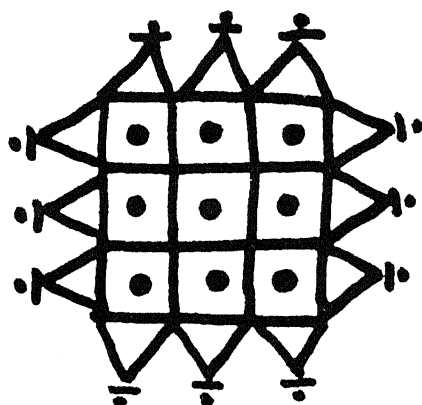
अध्याय – 3

लोक चित्रकला भावार्थ परिभाषा एवं व्याप्ति

भारतीय कलाओं में चित्र–कला को सर्वश्रेष्ठ स्थान प्राप्त है। चित्रकला में समस्त कलाओं को चित्रित कर स्थायीत्व प्रदान करने की क्षमता है। भारत के विभिन्न अंचलो में लोक–रूपो के विभिन्न मांगलिक चित्रण किये जाते है। यह लोक–चित्रण लोक–जीवन के महत्वपूर्ण अंग बन गये है। मांगलिक अवसरों पर बने चित्रों को 'लोक–चित्र' कहा जाता है। लोक–कला प्रार्दुभाव के सम्बन्ध में विद्वानों ने कई प्रश्न उठाये। लोक कला का जन्म कब हुआ इसका इतिहास क्या है। अनेक तर्क–कुतर्क के मध्य केवल यह कहा जा सकता है कि सृष्टि और मानव जीवन के प्रारम्भ से ही लोक–कलाओं व लोक–चित्रकला का अभ्युदय हुआ हैं।

भाषा के विकास से पूर्व आदि मानव अपनी कल्पनाओं और भावनाओं को प्रगट करने के उद्देश्य से पृथ्वी तथा रेत पर अपनी अंगुलियों से रेखायें खीचतें थे। फिर वह लकड़ी से ठोस जमीन पर रेखायें बनाते रहे। इन्हीं क्रियाओं के मध्य भूरे लाल रंग की मिट्टी और पत्थर के मेल से बना टुकड़ा मिला जिससे उसने कंदरा में चट्टानों पर रेखायें खीची। यह रेखायें स्थाई बन गई। वह पत्थर गेरू था। तभी प्राचीन गुफा चित्रों में गेरू का प्रयोग मिलता है।

अतः लोक–चित्रण के प्रारम्भ के सम्बन्ध में हम यह कह सकते है कि – जब किसी आदि मानव ने किसी पत्थर या नुकीली वस्तु से अपने आश्रय–स्थल गुफा की भित्ति पर आड़ी–तिरछी लकीरे खींचकर भावाभिव्यक्ति की, वही पहला लोक–चित्र था तथा वह आदि–मानव पहला लोक–चित्रकार था।

आदि–मानव सर्वप्रथम प्रकृति के संसर्ग में रहा। उसने प्रकृति के अनुपम कल्याणकारी रूप को पहचाना, तब वह आश्चर्यचकित हुआ। प्रकृति के कल्याणकारी रूप ने उसे प्रेरित किया। सूर्य के प्रकाश और उसकी ऊर्जा शक्ति, जल की जीवनदायिनी शक्ति, पृथ्वी की उर्वरा शक्ति, वृक्षों से फल–फूल की प्राप्ति, पत्थरों की रगड़ से उत्पन्न अग्नि ने आदि मानव को शक्ति का उपासक बना दिया। समयान्तर

में पशु–पक्षी उसके जीवन मे सहयोगी बने। प्रकृति में देवत्व का भाव आदि मानव के ह्रदय ने स्वीकार किया। उस भावना को उसने खनिज रंगो के माध्यम से गुफा की भित्तियों पर अंकित कर दिया।

इतिहास वेत्ताओं के अनुसार आदि मानव धातुओं के ज्ञान तथा व्यवहार से सर्वथा अनभिज्ञ था। वह पत्थरों के शस्त्रास्त्रों से अपना काम चलाया करता था। सभ्यता के उस युग में उसके अन्दर चित्रण की प्रवृत्ति विद्यमान थी। सीमित संख्या में प्राप्त चित्र, तात्कालीन सभ्यता के परिचायक हैं। इनके विषय वनचरों का आखेट है। उसमें हाथी, चीता, बाघ, रीछ, वराह, हरिण आदि का आखेट करते, धनुष बाण लेकर, संघर्ष करते दो दल आदि चित्रित किये गये हैं। साथ ही स्वास्तिक, सूर्य, वृक्ष आदि भी चित्रण में दिखाई देते हैं।

प्रागैतिहासिक युग की गुफाओं और चृट्टानों में अंकित चित्र इस बात के प्रमाण है कि आदि मानव कला प्रेमी थे। उसने अपने हदय की चेष्टाओं और प्रवृत्तियों को विशद रूप में प्रगट करने के लिये कला का आश्रय लिया। कला के प्रागैतिहासिक अवशेषों ने यह विचार असत्य कर दिया है कि मानव जाति का अभ्युदय केवल बीस सहस्त्राब्दि पूर्व हुआ है, जिन्हें कला–मर्मज्ञ, पुरातत्व–वेत्ता और इतिहासकार 50,000 से 10,000 ई0 पूर्व के मध्य की मानते है। इस काल मे आदि–मानव ने जिस प्रकार अपने भाव और विचारों की अभिव्यक्ति की है, उससे बहुत से तथ्य प्राप्त हुये है।

भारत के प्रागैतिहासिक चित्रों का अनुशीलन करने वाले विद्वानों में एलन हाटन ब्राड्रिक, डी0एच0 गोर्डन, प्रो0 जुनेर, लियोनार्ड एडम, श्री एवं श्रीमति एफ0 आर0 आल्चिन, सी0 ए0 सिल्वे लाड, पंचानन–मित्र, मनोरंजन घोष, प्रो0 विष्णु श्रीधर वाकनकर के नाम मुख्य हैं।

ब्राड्रिक की पुस्तक 'प्री हिस्टोरिक इंडिया' प्रामाणिक साहित्य हैं। ब्राड्रिक ने प्रागैतिहासिक चित्रों की प्राप्ति क्रमशः अमेरिका और योरोप के बाद भारत को रखा है। ये चित्र मध्य प्रदेश के आदमगढ़, रायगढ़, होशंगाबाद और मिर्जापुर के लिखुनियाँ, कोहर तथा भल्डरिया आदि स्थानों से प्राप्त हुये हैं। सम्पूर्ण भारत में कुछ ही स्थानों पर इस प्रकार के कलावशेष प्राप्त हुये हैं।

इसी क्रम में 1880 ई0 में मिर्जापुर में पंख–पोषाक युक्त अनेक चित्र खुदी चट्टानें मिली हैं जोकि प्रागैतिहासिक काल की मानी गई हैं। यह चट्टानें शोध का विषय बनने के कारण विद्वानों का ध्यान इस ओर गया। मध्य प्रदेश के सिंघनपुर में भी अनेक शैल–चित्र प्राप्त हुये हैं, जिनमें पशु–पक्षी, शिकारी आदि की आकृति बनी है। उत्तर प्रदेश और नर्मदा उपत्यका में प्रागैतिहासिक युग के वस्त्र, पाषाण चित्र, मिट्टी के बर्तन आदि प्राप्त हुये हैं। बुन्देलखण्ड के लिये यह गौरव की विषय है कि अधिकांश प्रागैतिहासिक कलावशेष बुन्देलखण्ड में ही है।

यहाँ उल्लेखनीय है कि हम सिन्धुघाटी की सभ्यता को सबसे प्राचीन मानते हैं। किन्तु पुरातत्व

व इतिहास वेत्ताओं ने जब नर्मदा घाटी के भू–स्तरों की खोज की तब पता चला कि नर्मदा घाटी की सभ्यता सिन्धु घाटी से भी पुरानी है। श्री आर० सी० मजूमदार द्वारा लिखित 'दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल, वैदिक एज' तथा मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित की पुस्तक 'मध्य प्रदेश के पुरातत्व की रूपरेखा' के आधार पर हमें यह पता चलता है कि, पृथ्वी जब प्रारम्भ में तप्त थी तब जीव या प्रकृति की कल्पना भी नही की जा सकती थी, तब विन्ध्याचल पर्वत था। इसके प्रमाण में भेड़ाघाट (जबलपुर) में तथा सागर के दक्षिण में पुरा–पाषाण काल की साम्रगी प्राप्त हुई है। इसी प्रकार होशंगाबाद, सागर और छतरपुर जिले में अनेक स्थानों पर प्रागैतिहासिक गुहा चित्र प्राप्त हुये हैं। एरण की खुदाई में प्राप्त मिट्टी के बर्तनों पर ज्यामितीय अंलकरण ईसा से 16–17वीं शती पूर्व का है।

सिंधु घाटी से प्राप्त साम्ग्री विकसित संस्कृति को इंगित करती हैं। मध्य प्रदेश की चित्रकला का इतिहास गुप्त काल में बाघ के गुफा चित्रों से ही आरम्भ होता है। इसके बाद 11वीं शताब्दी में चित्रकला के अवशेष बीना भेलसा स्टेशन के बीच उदयेश्वर अथवा नील कण्ठेश्वर के मंदिर मे हैं। 12वीं से 14वीं शताब्दी के बीच यहां जैन शैली का प्रभाव रहा। मध्य प्रदेश के दतिया, ओरछा, ग्वालियर आदि रियासतों में विभिन्न चित्र प्राप्त हुये हैं। इनमें ग्वालियर शैली का महत्व सर्वाधिक है।

वैदिक युग में भी बुन्देलखण्ड में अनेक स्थानों पर कलावशेष प्राप्त हुये हैं। नर्मदा, चम्बल यमुना और सिन्धु की संस्कृति को ही वैदिक–युग की संस्कृति माना जाता है। बांदा के सरहाट, करिया कुण्ड, कर्पटिया में शैल चित्र मिले हैं। सरहाट में शिला पर लाल मिट्टी के रंग से चित्रित तीन अश्व मिले हैं। करियाकुण्ड में बारह सिंगा का शिकार करते कुछ शिकारी चित्रित किये गये हैं। यहां पर पुस्तक की विषय–वस्तु की सार्थकता के उद्देश्य से केवल बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्राप्त प्रागैतिहासिक एवं वैदिक युग के शैल–चित्रों का उल्लेख किया गया है।

प्रागैतिहासिक युग की चित्र–सामग्री का अनुशीलन करने वाले श्री डी० एच० गोर्डन का मानना है कि, "ये चित्र प्राचीन निषाद जाति की उन्नति कालीन संस्कृति के परिचायक है" विन्ध्य पर्वत पर निषाद जाति के आदिवासी निवास करते थे, यह इतिहास से प्रमाणित है।

साहित्य के विकास क्रम के समकक्ष यदि लोक–चित्र–कला का विकास स्वीकारें तो साहित्य के समान कला के भी दो रूप हमारे सामने आयेंगें। हमारी प्राचीन वैदिक संस्कृति ने साहित्य की अभिवृद्धि हेतु एक साथ दो भाषाओं को जन्म दिया। उनमें एक थी संस्कृत और दूसरी थी लोकभाषा। प्रत्यक्ष रूप से संस्कृत साहित्य का विकास करती रही किन्तु परोक्ष रूप से लोक–भाषा ने अपने प्राकृत रूप से लोक–बोलियों में परिवर्तित होकर विकास में सहायता प्रदान की। लोक–साहित्य मौखिक व्यापक और वृहद है कि उसे एकत्रित करना अत्यंत कठिन कार्य है। बिल्कुल यही स्थिति लोक–कला की है, इसकी

एक शाखा तो परम्परागत विश्वासों, रहस्यात्मक संकेतों और अतीत के संस्कारों पर आधारित है। दूसरी ओर हमारे जीवन के सोलह संस्कारों पर धार्मिक व सामाजिक अवसरों पर रीति–रिवाजों के अनुसार चित्रांकन किया जाता है।

लोक–कला का कोई क्रम बद्ध इतिहास प्राप्त नही होता है, किन्तु उसका उल्लेख अनेक वैदिक ग्रंथों में मिलता है। इससे यह प्रतीत होता है कि लोक–कला सदैव 'लोक' में व्याप्त रही है। इसका उल्लेख वेद, पुराण, जैन–बौद्ध साहित्य, रामायण महाभारत आदि प्रामाणिक ग्रन्थों में उपलब्ध है। लोक–कला प्राचीन काल की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक गतिविधियों का रूपान्तरण है।

वैदिक काल में साहित्य एवं कला दोनो का विकास देखने को मिलता है। तत्कालीन चित्रकला का वर्णन इनमें प्राप्त होता है। लोक–चित्रकला के चित्र तो साहित्य में नही है, किन्तु उनका वर्णन अवश्य प्राप्त होता है। उस युग में हम शास्त्रीय और लोक–कला को अलग–अलग नही कर सकते क्योंकि प्रागैतिहासिक काल के अवशेषों के अध्ययन व आधार से ही वैदिक युग में कला विकसित हुई थी। भारतीय कलाकारों ने देवी–देवताओं की काल्पनिक कृतियों का निर्माण करने में अधिक रूचि दिखाई। सात्विक भाव रखने के कारण यह हुआ। वे सावयव सौंदर्य के स्थान पर निरवयव देव–अनुकृतियों की ओर अधिक आकर्षित हुये। यह भावों को प्रदर्शित करने का और अनन्त की सीमा–रेखाओं को बाँधने का प्रयास था। कलाकार ने निराकार को साकार, अपार्थिव को पार्थिव, अज्ञेय को ज्ञेय रूप मे बाँध देने की निपुणता प्राप्त की थी।

भारत एक धर्म प्रधान देश रहा है यहाँ आध्यात्मिक पक्ष सदैव सबल रहा है। मानव ने सौंदर्य से वशीभूत होकर कला की रचना की। उसकी अन्तः प्रेरणा ने उसे रंग, रूप, विचारों करे प्रदर्शित करने की शक्ति प्रदान की। कला परम–तत्व है, इसे मनुष्य अपने तक सीमित न रखे, इस विचार से कला से आनन्द की अनुभूति होती है तथा कल्याणकारी रचना से समाज मे परमानन्द की अनुभूति होती है।

लोककला सदैव प्रतीकात्मक व धार्मिक रही है। उसमें मुख्य विषय देवी–देवता, प्रतीक, मान्यतायें रही हैं। इसी आधार पर ही हम वैदिक साहित्य में वर्णित चित्रकला का अध्ययन कर लोक–चित्रकला की व्याप्ति निश्चित करेंगें।

भारतीय साहित्य में मंत्र संहितायें सबसे प्राचीन रही हैं। सम्पूर्ण देश के इतिहासकारों का मत है कि, पृथ्वी पर ज्ञान का प्रारम्भ मंत्र संहिताओं के उदय से हुआ। ऋग्वेद मंत्र संहिताओं में सबसे प्राचीन है।

ऋग्वेद (1/1/45) में हम चर्म पर अग्निदेव का चित्र अंकित किये जाने का उल्लेख पाते हैं। इसके अतिरिक्त ऋचाकाल में कलात्मक अभीप्साओं का मूर्घाभिषिक्त साक्ष्य प्रस्तुत करने वाले प्रसंगों में इन्द्र के घोड़े की, शाल–भंजिकाओं (ऋग्वेद 4/32/26) में उपमा देना और विशाल, सुनहरी, द्वार

देवियों (बृहत्तर, हिरण्यमयी, द्वारो देवाः) को यज्ञशाला की चारों चौखट पर अंलकृत स्त्रियों को अंकित पाते है। (ऋग्वेद 1/5/5)। इन द्वार देवियों का वास्तविक चित्र कैसा था यह तो ज्ञात नही हो सका, किन्तु परम्परा के अनुसार वर्णित वे अर्ध–चित्र (भास्कर्य) थी।

आगे चलकर देवियों के अर्ध चित्र पूर्ण चित्रों में परिवर्तित हो गये। कला प्रवण ऋषियों ने इसका वर्णन किया है। ऋग्वेद की ऋचाओं (9/5/5, 10/110/5) में वर्णन है कि ऋषियों ने उषा देवी और रात्रि देवी की श्री युक्त उज्जवल आकृति को निहारा और उन वृहतीमयी नवतोषसा की सुशिल्पे, सुरचनाम् पर विचार किया।

इस वर्णन से यह सिद्ध होता है कि सौन्दर्य–प्रेमी व कला–प्रवण ऋषियों ने रात्रि और उषा के प्रतीक चित्र बनाये जो यज्ञ शालाओं में अंकित किये गये।

वाचस्पति गैरोला की 'भारतीय चित्रकला' के अनुसार– वस्तुतः देखा जाये तो वेद–मंत्रों, ब्राम्हणों उपनिषदों, ब्रम्ह सूत्र और इस कोटि के जितने भी अनेक ग्रंथ हैं, उनमें कला के प्रतीकात्मक प्रतिमानों द्वारा परमेश्वर की प्राप्ति एवं आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग सुझाया गया है। कला को विराट सृष्टि का पर्याय मानकर सृष्टिकर्ता परमेश्वर की चिरंतन विभूतियों 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' का उसमें समावेश किया गया है। इस दृष्टि से यद्यपि भारतीय साहित्य के परमार्थ–विषयक ग्रंथों में कला का एक माध्यम स्वीकार किया गया है। तब भी यह ध्यान देने योग्य बात है कि प्राचीन काल में भी कला का सार्वभौमिक महत्व था।''

कला के आध्यात्मिक प्रतिमानो का सुन्दर और गहन विवेचन विद्यारण्य मुनि द्वारा रचित 'पंचदशी' के चित्रदीप नामक छठें प्रकरण से प्राप्त होता है। यह प्रकरण प्रतीकात्मक शैली मे लिखा गया है। चूंकि लोक–कला में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान है। इस कारण यहां 'पंचदशी' का उल्लेख आवश्यक है। इसमें विषय के बाह्यरूप के स्थान पर प्रतीकात्मक रूप को वर्णित किया गया है।

'पंचदशी' के चित्रदीप प्रकरण में चित्रों को पट–चित्र के नाम से उल्लिखित किया है। लोक–कला में बनाये गये चित्रों को भी पट–चित्र का नाम दिया जाता है। इसमें पटचित्रों के चार प्रकार बताये गये हैं द्यौत, घट्टित, लांछित और रंजित इसी प्रकार परमात्मा की भी चार अवस्थाऐं बताई गई हैं– चित्, अर्न्तयामी, सूत्रात्मा और विराट्

पट–चित्रों और ब्रम्ह की चारों अवस्थाओं की समानता इस प्रकार की गई है–

1. किसी अन्य द्रव्य के संयोग के बिना स्वभावतः शुभ्र 'द्यौत', जिस प्रकार माया और समस्त कार्य व्यापारों से रहित ब्रम्ह 'चित्'।

2. भात के मांड से लिप्त 'घाट्टित' पट चित्र के समान, तादात्म्य सम्बन्ध द्वारा माया से युक्त होने पर वही परमात्मा 'अर्न्तयामी' हो जाता है।

3. स्याही की रेखाओं से देव–मनुष्य आदि की आकृतियों से अंकित 'लांछित' पट चित्र, अंपचीकृत पंचभूतों के कार्य भूत समष्टि सूक्ष्म शरीर से संयुक्त होकर 'सूत्रात्मा' के समान है।

4. यथोचित रंगों से युक्त 'रंजित' पटचित्र पंचीकृत पंचभूत के कार्य भूत, समष्टि ब्रम्हाण्ड के समान स्थूल शरीर का 'विराट' रूप होता है।

उपरोक्त वर्णन को हम एक पट–चित्र में समाहित का सकते हैं। सर्वप्रथम रिक्त मुख्य पट 'द्यौत' उस पर आधार लेपन 'घाट्टित' रेखाओं द्वारा आकृति अंकन 'लांछित' तथा अंत में रंगों से चित्र को पूर्ण करना 'रंजित' अवस्था है। इसी प्रकार एक पट–चित्र की सम्पूर्णता चित् से ब्रम्ह के विराट् रूप की प्राप्ति के समान हैं। लोक–चित्र भी चित से ब्रम्ह की प्राप्ति के माध्यम है।

चित्र दीप प्रकरण के अंत में कहा गया है कि माया ने इस जगतरूपी चित्र को पत्र पर खिंचे हुये चित्र के समान अपने आत्म चैतन्य पर खींच लिया है। इसलिये जगतरूपी चित्र की उपेक्षा करके अपने आत्म चैतन्य के शुद्ध रूप को समझ लेना चाहिये।

लोक–चित्रकला का भावार्थ भी यही है कि चित्रण में बाहय संसार का सौन्दर्य नही वरन आन्तरिक आध्यात्मिक सौन्दर्य का प्रगटीकरण आवश्यक है। अतः चित्रकला का अन्तः स्वरूप भारतीय दर्शन एवं आदर्शों का परिणाम है।

प्रागैतिहासिक काल तथा वैदिक काल के पश्चात् वाल्मीकि रामायण और महा भारत साहित्यकी उन्नत परम्परा के धार्मिक ग्रन्थ थे। जिनमें लोक में समाहित कला के प्रमाण मिलते हैं। ये दोनों ऐतिहासिक व पौराणिक घटना क्रमों के कथाबद्ध प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।

इन ग्रन्थों में वर्णित लोककला की प्रामाणिकता का विश्लेषण हम यहां करेंगें। इन ग्रंथों की रचना 500 से 600 ई0 पू0 हुई थी। तब तक लोक–चित्रकला जन–मानस की धार्मिक व प्रतीकात्मक अभिव्यक्ति का साधन बन चुकी थी। इस समय समाज की निष्ठा कला में थी। श्री गैरोला का कथन है – "कला कल्याण की जननी है। इस धरती पर मनुष्य की उदय बेला का इतिहास कला के ही हाथों से लिखा गया। विश्वात्मा की सर्जना शक्ति होने के कारण सृष्टि के समस्त पदार्थों मे उसी का आधान है। वह अनन्त रूपा है, और उसके इन अनन्त रूपों की निष्पत्ति ही कलाकार (परमेश्वर) है। जितने तत्वविद्, साहित्य–सृष्टा और कलासेवी हुये, उन सब ने भिन्न–भिन्न मार्गों से उसी एकमेव लक्ष्य का

अनुसंधान किया है।'' रामायण में अयोध्या, जनकपुरी, लंका नगरियों का वर्णन प्राप्त होता है। नगर–वासियों की कलात्मक अभिरूचि उसमें स्पष्ट है। घरों के बाहर तथा भीतर की भित्तियों पर चित्रांकन, साज–सज्जा हेतु शुभ–चिन्हों एवं हृदय को प्रसन्न करने वाले चित्रों से किया जाता था। रथों और विमानों की सुन्दरता बढ़ाने के उद्देश्य से मनोहर चित्र अंकित किये गये थे। रामायण काल में उत्सव–प्रियता चरम पर थी। राम–जन्मोत्सव राम के राज्याभिषेक की घोषणा तथा राम वन–आगमन, यह कुछ मुख्य अवसर थे जिनका वर्णन रामायण में उल्लिखित हैं। उत्सवों पर घर की साज–सज्जा में भूमि व भित्ति चित्रों का प्रयोग होता था।

तुलसी कृत रामायण में लिखा है–

''चारु चित्र साला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ।''

इस एक पंक्ति से यह सिद्ध होता है कि उस समय भी भित्ति चित्रण होता था। रामायण में गीत, नृत्य, वाद्य एवं चित्रकला को 'शिल्प' शब्द से सम्बोधित किया गया है। राम स्वयं शिल्प के ज्ञाता थे–

''वैहारिकाणां शिल्पानां ज्ञात।''

रामायण में राज प्रासादों की भित्तियों, व कक्षों में तथा रथों पर चित्रांकन का उल्लेख मिलता है। पुष्पक विमान के सम्बन्ध मे उल्लेख है –

उस विमान में मन को सुख देने वाले और आश्चर्यचकित कर देने वाले विभिन्न प्रकार के दृश्य अंकित थे। विमान में अगल–बगल बेल–बूटें के चित्र भी अंकित थे।

वाल्मीकि रामायण के उत्तरकाण्ड सुन्दर कांड और लंकाकांड में चित्रकला के सम्बन्ध में अनेक स्थानों पर वर्णन मिलता है। रावण की चित्रकला अपने युग की विख्यात चित्रकला थी। हनुमान जब सीता की खोज में लंका गये, तब वहां उन्हें विभीषण के घर के मुख्य द्वार पर और रावण की चित्र शाला में अनेक धार्मिक व सामाजिक चित्र देखने को मिले। रानी कैकेयी के तथा राम के राज–प्रासाद में भी भित्ति चित्र उत्कीर्णित थे, ऐसा वर्णन है। बाली और रावण के शव ले जाने के लिये जो पालकियां बनी थीं वे भी चित्रों से सुसज्जित थीं। रामायण में सुन्दर युवतियों के कपोलों पर पत्रावली तथा हाथियों के मस्तक पर साज सज्जा हेतु चित्रांकन का वर्णन मिलता है। इससे यह सिद्ध होता है कि उस युग में कलाभिव्यक्ति तथा सौंदर्य की परख प्रत्येक वर्ग में विद्यमान थी।

महाभारत में स्पष्ट रूप से चित्रकला पर कुछ कहा नही गया किन्तु रूप भेदों के बारे में अवश्य वर्णन मिलता है। जिनसे आकृति व रंग–भेदों का ज्ञान अवश्य हो जाता है। ह्रस्व, दीर्घ, स्थूल, चतुष्कोण, नाना कोण (त्रिकोण, षट्कोण, अष्टकोण), गोला, अण्डाकार, श्वेत, कृष्ण, बैंगनी, रंगों के मिश्रण से बना

मिश्रित रंग, रक्त, पीत, कठिन, चिक्कण, श्लय (सूक्ष्म, कृष, स्निग्ध) पिच्छल (फिसलन उत्पन्न करने वाले) मृदु, दारूण, छोटे, बड़े, मोटे–पतले, कटे–छंटे, काले, सफेद, एक रंगे, पंच रंगे आदि प्रमुख है।

महाभारत में सत्यवान के सम्बन्ध में वर्णित है कि उन्हें बचपन से घोड़ों का शौक था। अपने इसी शौक के कारण अपने माता–पिता के साथ वन में रहते हुये भी वे भित्ति पर घोड़ों के चित्र बनाते थे। (3/293/13) महाभारत सभा पर्व (अध्याय 3 तथा 47) में युधिष्ठिर की सभा में दीवारों पर भांति–भांति के चित्र अंकित थे उनमें अनेक पुतले भी चित्रित थे।

'रामायण' और 'महाभारत' के बाद जैन व बौद्धो के धार्मिक ग्रन्थ 'अष्टध्यायी' में चित्रकला का समाज में व्यापीकरण उल्लिखित है। आचार्य भरत मुनि के 'नाट्य शास्त्र' में भी चित्रकला का वर्णन मिलता है।

प्रथम शताब्दी ई0 पूर्व में महाकवि कालीदास को संस्कृत साहित्य का महान साहित्यकार व कवि माना जाता है। उनकी रचना 'मेघदूत' में देवी–देवताओं के चित्र बनाकर पूजा करने का उल्लेख है। मंगल कामना हेतु नगरवासियों के घरों में तथा राज प्रासादों में चित्र सज्जित किये जाते थे। 'रघुवंश' में कालीदास ने 16 वें सर्ग में, अयोध्या नगरी के भवनों की भित्तियों पर चित्रण का उल्लेख किया है।

'कामसूत्र' और 'बृहत्संहिता' में भी चित्रकला और तांत्रिक देवों की आकृतियों का वर्णन है।

'विष्णु धर्मोत्तर पुराण' मत्स्य पुराण, अग्नि पुराण, गरूण पुराण, हरिवंश पुराण और स्कन्द पुराण में धार्मिक चित्रों का प्रयोग तथा अवसरों के बारे में वर्णन मिलता है।

8वीं और 9वीं शताब्दियों में दक्षिण भारत में चित्रकला की एक नवीन शैली विकसित हुई जिसे 'अप्रभंश शैली' नाम दिया गया है। नाम के अनुरूप इसके चित्र भी वास्तविक नहीं होते थे। जो लोक चित्रकला के समकक्ष है, बल्कि बुन्देलखण्ड के 'चितैरी' चित्रों की बनावट से मिलती–जुलती 'अप्रभंश शैली' की बारह विशेषतायें बताई गई है।

(1) खाली जगह से निकली आँख (2) परवल के आकार की आँखे (3) नुकीली नाक (4) दोहरी ठुड्डी (5) मुड़े हुये हाथ तथा ऐंठी उँगलियाँ (6) अप्राकृतिक रूप से उभरी छाती (7) खिलौने की तरह पशु–पक्षियों का अलंकरण (8) कमजोर लिखाई (9) प्राकृत दृश्यों की कमी (10) एक धरातल पर अनेक दृश्यों का अंकन (11) 15वीं शताब्दी से 16वीं शताब्दी तक हाथियों का अलंकरण (12) चटकदार रंगो तथा सोने का अत्यधिक प्रयोग।

10वीं शताब्दी में धनपाल रचित 'तिलक मंजरी' में 'चित्रपट' शब्द का प्रयोग किया गया है। जिसका अर्थ है कि सम्पूर्ण कथा को चित्रों में अंकित करना। इसे 'उत्तर रामचरित' में वीथिका के नाम

से उल्लेखित किया गया है। यह 'चित्रपट' लोक चित्रों के समकक्ष लगते हैं। जिन लोकचित्रों में कथात्मक चित्रण किया जाता है, वह इसी श्रेणी में आते हैं जैसे– करवा चौथ, अहोई अष्टमी, जन्माष्टमी, हरछठ आदि का चित्रांकन।

11वीं शताब्दी में सोमदेव द्वारा रचित 'कथा सरित्सार' में लोक–जीवन से सम्बन्धित कथायें हैं। उनमें चित्रकला की समाज में व्याप्ति वर्णित है।

12वीं शताब्दी में श्री हर्ष के महाकाव्य 'नैषध चरित' में राजा नल के प्रमोद भवन की भित्तियों पर 'कल्पवल्ली' चित्रित थीं। बाघ की गुफाओं में भी इसी प्रकार की 'कल्पवल्लियाँ' प्राप्त हुई हैं। इन कल्पवल्लियों में पुष्प, फल, पत्ती, मुक्ता, रत्न इत्यादि चित्रित किये जाते थे। मध्य कालीन राजदरबारों में भी इस प्रकार की कल्प वल्लियां चित्रित की जाती थीं। घरों में इनका चित्रण मंगल–सूचक माना जाता था। लोक–चित्रों में भी कल्पवल्ली का स्थान महत्वपूर्ण होता है। लोक–चित्रों को बढ़ाने हेतु इनका प्रयोग किया जाता है। सौन्दर्य के साथ–साथ ये मंगलकारी भी होती है। 12 वीं से 14 वीं शताब्दी तक 'कथा सरित्सागर' मे दीवारों पर चित्रित पटों के चिपकाने की प्रथा का भी उल्लेख मिलता है।

'नैषधचरित' में वर्णित चित्रों में धार्मिकता का समावेश है, जैसे– शंकर को ऋषि कन्याओं के साथ चित्रित किया गया है। कृष्ण व गोपियों के साथ रास–लीला का सुन्दर चित्रण प्रदर्शित किया गया है। अन्य ऐसे चित्र भी प्रदर्शित किये गये हैं जो विवाह सम्बन्धों के प्रतीक या गृह–सज्जा हेतु प्रयुक्त होते हैं।

जैन व बौद्धों के प्राकृत तथा पालि भाषाओं में रचित ग्रन्थों में से श्वेताम्बरीय जैनों का महत्वपूर्ण योगदान है। 'प्रश्न व्याकरण सूत्र' में चित्रों की अनेक श्रेणियों का उल्लेख है। उनमें चावलों के चूर्ण से भी चित्र बनाने का उल्लेख किया गया है। 'अल्पना' चित्रों का वर्णन भी किया गया है, जो लोक–कला के स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं। चित्रकला को धर्म के साथ संयुक्त करके हमारे कलाचार्यों ने उसकी लोकप्रियता और महत्व को भी बताया जो अनन्त काल तक संपूजित होती रहेगी।

बुन्देली संस्कृति के लोक–चित्र चावल पीसकर उसके घोल से तैयार किये जाते हैं जैसे 'हरछठ' और 'करवा चौथ'। 'अल्पना' को सूखे रंगों से बनाने का वर्णन है जो बुन्देलखण्ड में 'उरैन' के नाम से बनाई जाती है। इस प्रकार की 'अल्पना' या 'चौक' बुन्देलखण्ड के लोकोत्सव 'सुआटा' के समक्ष बालिकायें बनाती है। विवाह, जन्म या धार्मिक पूजन के अवसर पर भी सूखे रंगों से 'चौक' बनाने का प्रचलन है। साधारणतया यहाँ गेहूँ के आटे का प्रयोग अधिक होता है। प्राचीन भारतीय चित्रकला में समस्त चित्रों को प्रमुख तीन श्रेणियों में विभक्त किया गया है– पट चित्र, फलक चित्र और भित्ति चित्र। बौद्ध ग्रंथ में 4 विशिष्ट चित्र भी बताये गये है – विद्ध चित्र, अविद्ध चित्र, रस चित्र और धूलि चित्र। धूलि चित्र की श्रेणी लोक शैली में बनी चौक होती हैं।

भित्ति चित्रों को मांगल्य सूचक समझा जाता था। जिनमें गणेश, हंस, कमल, लताबंध, हाथी, मातृकायें, देवी–देवता इत्यादि चित्रित किये जाते थे। उनके बारे मे प्राचीन काल की युग दृष्टि के अनुसार आचार्य द्विवेदी जी ने लिखा है– "चित्र उन दिनों विरही के विनोद थे, संन्यासियों के साधना विषय थे और राहगीरों के सहारे थे। प्राचीन भारत चित्रकला का मर्मज्ञ एवं साधक था।"

प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान तक लोक–चित्रकला हमारे जीवन का अटूट अंग बन गई है। वह अपने परम्परागत विश्वासों, धारणाओं, संकेतों और अतीत की प्रेरणा पर आधारित सामाजिक रीति–रिवाजों को प्रदर्शित करती आ रही है। समाज में धनी–निर्धन, शिक्षित–अशिक्षित सभी का लोक–चित्रकला पर समान रूप से अधिकार रहा है। यह लोक–चेतना को व्यक्त करने का सरल माध्यम है। लोक–चित्रकला पर समयान्तर में अनेक विद्वानों ने अपने मत दिये। उन पूर्ववर्ती विद्वानों के विचारों का अध्ययन विषयानुकूल आवश्यक हैं।

Folk Creation is free unfattered record of the human Sprit and human mind - Kari Sourek

"किसी देश अथवा जाति की सभ्यता के सम्बन्ध में पूर्णज्ञान प्राप्त करने के लिये कला की सहायता अत्यावश्यक है"– 'मोस्ट प्रिमीटिव आर्ट' ले0 श्री एम0 सी0 वर्किट, पाश्चात्य इतिहासकार।

श्री शैलेन्द्र नाथ सामन्त के अनुसार–लोक कला जन सामान्य, विशेष तथा ग्रामीण जन समुदाय की सामूहिक अनुभूति की अभिव्यक्ति है।

From and creation by our own activities are essential features of Art. The pleasure of elevation of mind must be brought about by a particular form of sense impression must be made by some kind of human activity or by some product of human activity. - Franz Boas

Art is nothing more than the shadow of humanity. - Henry James.

Our problem being to form the future, we can only form it on the materials of the past, we must use our heredity instead of denying it. - T.S. Eliot

The Indian tradtion has survived innumerable vicissitudes through the ages, is due to the fact that the Social organisation was based on the village Community, in the corporate life of which the artists and craftsmen played their assigned roles. - Ajit Mookergee.

वाचस्पति गैरोला के अनुसार – "परम्परागत हमारी लोक रूचियों को जीवित रखने के लिये लोक–कला ने जो कार्य किया है विज्ञान और दर्शन की दृष्टि से उसकी तुलना नही की जा सकती है। जिसमें नारियों की भूमिका मुख्यता रही है। धरती के प्रति अपनी पवित्र निष्ठा को अपने हृदय की

अजस्त्र रस–धारा द्वारा अभिसिंचित करके कुछ ऐसी सहज, सुन्दर कला कृतियां हमें दीं, जो हमारे राष्ट्र की संपूर्ण चेतना को आल्हादित करती है।"

जिस प्रकार भारतीय वाङमय साहित्य भारतीय बोलियों के बिना अधूरा है इसी प्रकार भारतीय चित्रकला का इतिहास लोक चित्रकला के बिना अधूरा है। विभिन्न धार्मिक एवं सामाजिक उत्सवों या घर के आंगन या पूजा गृह आदि स्थानों पर भांति–भांति के भूमि एवं भित्ति चित्रण करने की परम्परा है। जो लोक–कला चित्र बनते है, वे लोक मानस में सुरक्षित रहकर लोक के द्वारा व्यक्त होकर वर्तमान स्थिति तक पहुँचे हैं। देश के विभिन्न भागों और जातियों में अलग–अलग विधान और चित्रण की विधियां हैं, जो लोक जीवन का आन्तरिक सौन्दर्य व्यक्त करती है।

लोक–कला और लोक–जीवन में अपनत्व का भाव होता है। लोक–कला भारत की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति का अजस्त्र स्त्रोत है। लोक कला से हमारा अपनापन ही उसकी उपस्थिति से हमें आल्हादित कर देता है।

लोक–कला देश की सांस्कृतिक प्रतिष्ठा व मर्यादा होती है। लोक–चित्रकला सम्पूर्ण राष्ट्र में विभिन्न रूपों में बिखरी है, किन्तु उसका मूल–भाव एक ही है। लोक–कला में सदैव प्रफुल्लता का भाव रहता है, जो मनुष्य को नैसर्गिक उल्लास प्रदान करता है।

प्रत्येक पर्व, त्योहार और उत्सव पर लोककला के प्रतीक चित्रित किये जाते हैं। ऋतु परिवर्तन पर भी त्योहार मनाये जाते हैं। उनमें प्रकृति का आवाहन और सामाजिक मंगल कामना का भाव निहित रहता है।

शास्त्रों के अनुसार हिन्दू धर्म में जन्म से मृत्यु तक सोलह संस्कार सम्पन्न होते हैं। वर्ष भर तीज–त्योहार भी मनाये जाते हैं। इन सभी अवसरों पर लोक–चित्रांकन या लोक–सज्जा की जाती है। भूमि व भित्ति को अल्पना, चौक या आलेखन से सजाना हिन्दू मान्यता में परम्परागत है।

लोक चित्रकला से परम्पराओं को जीवंतता मिलती है। वह सरस, सरल तथा हदयग्राही बन जाती है। निष्ठा और विश्वास उसको सामाजिक स्थायीत्व प्रदान करते है लोक–चित्रांकन का महत्वपूर्ण कार्य प्रायः घर की महिलायें ही करती है इस सम्बन्ध में, प्रभु शंकर जोशी के विचार है– "प्रत्येक प्रान्त की अपनी–अपनी लोक–कलाएं है, जिनमे उन लोक–कलाओं के जन्मदाता अनाम कलाकारों ने अपने समय की संस्कृति और उसके संयुक्त परिवेश को पूर्ण सजगता के साथ अपनी सरल भावनाओं से सराबोर करके बड़े ही सुन्दर ढंग से अपने रेखांकनों मे बांधा है, अक्सर इन कलाओं की कलाकार गृहणियाँ ही रही है, जिन्होने अतिशय सूक्ष्म एंव यथार्थपरक द्रष्टि से जीवन की विकृत श्रृंखला एवं चढ़ाव–उतारों से विषयों को चुनकर रेखाओं द्वारा एक चरम सीमांत तक सफल सरलीकरण किया है, और आज की तीव्रता से हर क्षण परिवर्तित होते जा रहे गतिशील समय में भी अभी तक उन्हें अपने मौलिक स्वरूप में बनाये रखा, यह बात हमारे यहां की नारियों की कला के प्रति स्वाभाविक रूचि एवं

गहरी संपृक्तता ही प्रदर्शित करती है।'' लोक की यह जीवन कला हमारे सांस्कृतिक विचारों का चित्रांकन है। इसे धर्म से सम्बन्धित कला न मानकर मानवीय कला भी कह सकते हैं।

प्रो0 एस0 के0 सरस्वती के मतानुसार– ''लोक कला जन समुदाय के सामाजिक जीवन में व्यवहृत सहकारी कला है।'' इसकी जड़े धरती मे काफी गहराई तक गई हैं। यह लोक में प्रचलित रीति–रिवाजों और विश्वासों से सम्बन्धित है।

लोक कला में सार्वभौमिकता होती है यह उसकी प्रमुख विशेषता है। इसका प्रचलित रूप एक पीढ़ी से दूसरी पीढ़ी को हस्तांतरित होता रहता है। दूसरी पीढ़ी इसे पारिवारिक संस्कृति की थाती मानकर ज्यों का त्यों सजाती संवारती है और भविष्य में आने वाली पीढ़ी को सौंप देती है। एक प्रकार से यह हमारी सांस्कृतिक विरासत है, जो पारिवारिक भावना को अटूट बन्धन में बांधती है।

श्री जी0ए0 स्टीवेंस ने अपनी पुस्तक 'एजुकेशनल सिग्नीफिकेंस ऑफ इंडिजिनअस अफ्रीकन आर्ट' में लोक–कला की शुद्धता और भावनापूर्ण विशेषता का वर्णन किया है। उनका कथन है कि– ''लोक कला धार्मिक भावनाओं और आध्यात्मिक अनुभवों पर विशेष आधारित है। इसकी सृष्टि कलाकारों के नाम पर नही होती । इसमें स्वाभाविकता का गहन पुट है। इसमें चातुर्य प्रदर्शन या प्राविधिक प्रयोग का कोई स्थान नहीं है।

श्री स्टीवेंस के ही अनुसार– ''आदि मानव के साथ लोक–कला का गहरा सम्बन्ध है। आदि मानव ने प्रकृति से प्रेरित होकर सहजभाव से दैविक शक्तियों का आहवान किया। अपने अनिश्चित जीवन में उसने कुछ काल्पनिक शक्तियों का सहारा लिया जिन्हें उसने किसी रूप में ढालकर उसकी आराधना अपने मांगल्य के लिये की।''

वर्तमान तक लोक कला की एक भी ऐसी परिभाषा नही बन पाई जो अपने में पूर्ण हो। संभवतः लोककला का सम्पूर्ण मानव–जीवन को प्रभावित करने वाले रूप या युग–युगान्तर से चली आ रही परम्परा को शब्दों में बांधना सम्भव नहीं है। लोक चित्रकला मानव जीवन पर आच्छादित वह मंगल भाव है। जिसका प्रदर्शन चित्रांकन के माध्यम से किया जाता है या फिर यह कह सकते हैं– लोक–चित्रकला अपने परिवार व समाज के लिये उत्पन्न कल्याणकारी भावों का आत्मस्पंदित मूक प्रदर्शन है, जो शरीर आत्मा और ब्रम्ह को एकाकार कर देती है।

लोक–चित्रकला अपनी ख्याति की अपेक्षा किये बिना हमारे पारिवारिक सांस्कृतिक [illegible] धार्मिक जीवन की परम्पराओ के साथ सम्बद्ध होकर हमारे बौद्धिक धरातल को [illegible] हमारे आंगन में पलती हुई आगे बढ़ी। लोक चित्रकला परम्परा और विश्वास का अनोखा संगम है। समाज में सदैव धर्म की प्रधानता रही है। धर्म के प्रभाव से सत्य–असत्य, शुभ–अशुभ आदि का ज्ञान होता है। जीवन मूल्यों का स्पष्टीकरण एवं अभिव्यक्ति ही लोक–चित्रकला है।

समाज मे चित्रकला की निरन्तरता की स्थिति को स्पष्ट करता रवीन्द्रनाथ ठाकुर का कथन है– "विश्वात्मा सदैव रंगो और रेखाओं मे बोलती है। न जाने कितने प्राचीन काल से कितने संकेतो में, कितनी भाषाओं मे, कितनी लिपियों मे, कितनी पत्थर की खुदाइयों में, कितनी धातु की ढलाइयों मे, कितनी तूलिकाओं मे, कितनी छैनियों से, कितनी कलमों से कितना चित्रण और कितना प्रयत्न हुआ है। हमने जो कुछ सोचा है जो कुछ अनुभव किया है वह मरेगा नहीं वह एक मन से दूसरे मन मे, काल से कालान्तर में चित्रित होता हुआ प्रवाहित होकर निरन्तर चलता रहेगा।"

लोक–चित्रकला 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' पर आधारित होती है। उसमें सामाजिक सत्यता, शिवरूपी कल्याण की भावना तथा आत्मा रूपी सौन्दर्य विद्यमान रहता है। जिससे हमें सत्यं–शिवं–सुन्दरं की प्राप्ति हो वही जीवन का परम–आनन्द है। लोक–चित्रकला के संदर्भ में वेदव्यास रचित श्रीमद्भागवत का यह श्लोक सर्वथा अनुकूल है–

"तदैव रम्यं रूचिरं नवं नवं, तदैव शश्वन्यृमनसो महोत्सव,
तदैव शोकार्ण वशोषण नृणां, यदुत्तमश्लोक यशो ऽ नुगीयते"

अर्थात् वही सुन्दर है, वही रूचिकर है, वही नित्य नवीन है वही निरन्तर मन का महान उत्सव है, वही मानव मात्र के शोक रूपी समुद्र को सुखाने वाला है। जो प्रभु का पावन यश गान किया जाये।

उपरोक्त सारगर्भित श्लोक लोक चित्रकला के आन्तरिक स्वरूप को स्पष्ट करने में सहयोगी है। लोक–चित्रकला की पराकाष्ठा भी सुन्दर भावों के प्रदर्शन के माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति है। क्षण भंगुर भौतिक सुन्दरता उसमें नही है, किन्तु जीव कल्याण की स्थायी सुन्दरता अवश्य विद्यमान है।

यह अकाट्य सत्य है जब भी किसी कला में 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' का समन्वय होता है। तब कला को पूर्णता प्राप्त होती है। इन तत्वों के सम्मिश्रण से ही अमरत्व प्राप्त होता है। अंर्तज्ञान का संसार असीमित है उसका प्रगटीकरण आध्यात्मिक एकाग्रता से ही संभव है।

लोक–चित्रकला पूर्णतया काल्पनिक होती है। जो रचनाकार बनाने वाले की आत्मानुभूति पर निर्भर होती है। रचनात्मक कल्पना उसे आनन्दित करती है। चित्र की रेखायें, माध्यम, रंग व आकृति उसकी अपनी होती है। अपनी परम्पराओं, विश्वास और संस्कृति की रक्षा का लोक–भाव भी उसमें सम्मिलित होता है ऐसी स्थिति आत्म संतुष्टि से उत्पन्न होती है– सत्य व निष्ठा, जो ज्ञान की पृष्ठ भूमि है। लोक–चित्रों के भावों से हम अपनी समस्याओं का निदान खोजने में सफल हो जाते हैं। वे हमें दैनिक जीवन में नैतिकता का पाठ पढ़ाते हैं। सम्बन्धित कथायें सामाजिक निर्वाह की नीतियों का अक्षुण्ण भंडार संजोये रहती है। जन सामान्य लोक–चित्रण के साथ उनके अर्न्तभावों को सरलता से आत्मसात कर लेता है। मनुष्य की अर्न्तदृष्टि को विकसित करने का भाव भी लोक चित्रों में होता है, हमें केवल धर्म भीरूता के संकुचित क्षेत्र से बाहर निकल कर विचार करना होगा। लोक–चित्रकला में समाज को

सुदृढ़ता प्रदान करने की क्षमता है। इसके माध्यम से सार्वभौमिक सत्ता का ज्ञान कराया जा सकता है। वर्तमान में देश की कला व संस्कृति पाश्चात्य शैली से प्रभावित है। ऐसे में धर्म व संस्कृति की रक्षा हेतु एक ही ब्रह्मवाक्य है–

''धर्मो रक्षति रक्षतः''

अर्थात् धर्म की रक्षा करने से अपनी रक्षा होती है। अपनी संस्कृति व कला के माध्यम से ही समाज की गतिविधियों में हम असम्भूत परिवर्तन ला सकते हैं। कला का प्रयोग मनौवैज्ञानिक रूप से व्यक्ति को नियंत्रित कर वास्तविकता का ज्ञान कराता है।

लोक–चित्रकला के सम्बन्ध में जब हम ग्रन्थों की खोज करते हैं तो ऐसा कोई ग्रन्थ नही प्राप्त होता है जो केवल लोक–चित्रकला को ही अपने में समाहित किये हो। मात्र कुछ पन्ने या थोड़े से शब्द ही लोक–चित्रकला के बारे में लिखना पर्याप्त माना गया है। वर्तमान में लोक–कलाओं के प्रति जागरूकता आई हैं ऐसे में अवश्य रचनात्मक कार्य हो रहे हैं।

लोक चित्रकला में अभी तक महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, बिहार, हिमाचल और बंगाल ने अपना प्रभाव जमा रखा है। उत्तर प्रदेश, मालवा और गढ़वाल का नाम भी इस श्रेणी में आता है। किन्तु बुन्देलखण्ड जैसे प्राचीन व ऐतिहासिक क्षेत्र का कहीं नाम नही आता। जबकि यहां की पौराणिकता व संस्कृति प्रमाणित है। संभवतः इसके अछूते पक्ष पर अधिक ध्यान देने की आवश्यकता किसी विद्वान ने नही समझी। इसका एक कारण चित्रों में रंगों का अभाव भी हो सकता है। मनुष्य का स्वभाव है कि रंग–बिरंगी तथा सजावटी वस्तुयें ही उसे आकर्षित करती हैं। यहां यह कहना अनिवार्य है कि– ''सभी चमकदार वस्तुएं सोना नही होती'' किसी अन्य प्रदेश या क्षेत्र के चित्रकार को इस कहावत पर आपत्ति नहीं होनी चाहिये। मैने इस पंक्ति का प्रयोग इस आशय से किया है कि कला के ऊपरी साज–सज्जा से अधिक महत्वपूर्ण हैं उसके आन्तरिक भावों को जानना। इस विषय में बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला किसी प्रकार कम नही है।

जैसा पिछले अध्यायों में वर्णन किया गया है, कि बुन्देलखण्ड के जन–जीवन पर आदिवासी संस्कृति का प्रभाव पड़ा यह ऋषियों की तपो भूमि भी रही है। इसी कारण यहां की लोक–चित्रकला पर भी दोनो संस्कृतियों का मिला जुला प्रभाव प्रदर्शित होता है। प्राचीन काल से बुन्देलखण्ड कृषि प्रधान क्षेत्र रहा है। यहां सामान्यतः दो वर्ग रहे हैं, एक शासक वर्ग दूसरा सामान्य वर्ग। शासक वर्ग में राजा, सेठ, साहूकार, व्यापारी इत्यादि मान लिये जायें तो सामान्य वर्ग सेवा या कृषि कार्य में संलग्न रहता था। ईश्वर पर अगाध विश्वास रखने वाला तथा लोक–कलाओं से आनन्द की अनुभूति प्राप्त करने वाला दूसरा वर्ग ही था। सामान्य वर्ग अधिकांशतया कृषि कार्य में संलग्न रहता था। इस कारण पृथ्वी की उर्वरा शक्ति का उपासक भी वही था पृथ्वी के तत्व उसके लिये पूज्य थे सहयोगी तत्व जैसे– सूर्य, जल,

वायु भी उसके लिये पूजनीय बन गये कृषि में सहायक और दुधारु पशु जो पशु–धन के रूप में जाने जाते थे। अधिक उपजाऊ भूमि व पशु धनी होने का प्रमाण थे। कृषक श्रम को महत्व देते थे और कृषि कार्य में प्रयुक्त यन्त्रों व साधनों की पूजा भी निश्चित समय पर करते थे। जैसे– 'हरायतें' पर हल, बैल व खेतों की मिट्टी की पूजा करना। तीज–त्योंहारों में अधिकतर कृषि का महत्व स्वीकार किया गया है। मिट्टी व गोबर उसके लिये बहुत महत्व रखते थे। वे ही उसके श्रम को सार्थक करने में सहायक भी थे। इसी कारण उन्हें पवित्र मानकर लोक–चित्रों में प्रयुक्त किया जाता था। उसी परम्परानुसार आज भी उन्ही का प्रयोग होता आ रहा है। यहां की लोक–चित्रकला को राज्याश्रय प्राप्त न हो सका संभवतः इसका कारण राजनैतिक उथल–पुथल भी रहा है। सामान्य वर्ग का पुरूष सदैव अपने आत्म–सम्मान हेतु रण में जूझता रहा तथा उसका परिवार दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कृषि कार्य एवं लोक–शिल्पकारी में संलग्न रहता था। अर्थात् व्यक्ति जीवन–यापन की समस्याओं को सुलझाने में व्यस्त रहने के कारण लोक–चित्रकला पर विशेष ध्यान न दे सका। परम्पराओं के निर्वाह के कारण जिन वस्तुओं पर उसकी आस्था थी वे सर्व–सुलभ थीं, उन्ही का प्रयोग पूजा व लोक–चित्र निर्माण में किया गया।

अगले अध्यायों में हम बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला के विभिन्न बिन्दुओं पर विस्तृत वर्णन प्रस्तुत करेंगें। यहां तो बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला के लिये केवल यह कहना उचित होगा–

"ज्यों–ज्यों निहारिये नेरे ह्वै नैननि,
त्यों–त्यों खरी निखरै सी निकाई"।

अर्थात् सुन्दरता को जितना अधिक समीप तथा उसकी आत्मा से देखा जाएगा, वह उतनी ही अधिक पवित्र और स्वच्छ दृष्टि गोचर होगी।
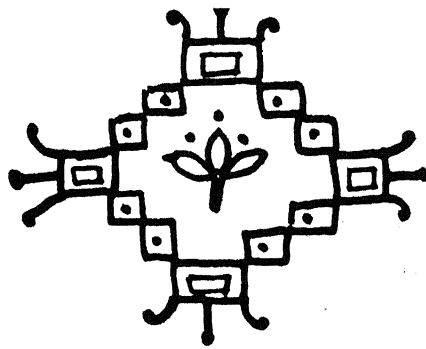
अध्याय – 4

शास्त्रीय चित्रण से समता, विषमता तथा अन्य कलाओं से सम्बन्ध

"आध्यात्मिक ज्ञानी और कलाकार में मुख्य संघर्ष इसी बात पर रहता है, कि जीवन की बौद्धिक भावनाओं में एक सत्य की खोज करता है, दूसरा जीवन की सजीव आकृतियों के मौलिक प्रकाशन में उसी सत्य को खोज पाता है।" एडवर्ड होबर्ड ग्रिग्स

यह कथन लोक–चित्रकला और शास्त्रीय कला के आपसी संघर्ष की वास्तविकता को प्रगट करता है।

लोक कला की यही मुख्य समस्या है कि वह लोक में व्याप्त होते हुये भी अपने तत्व, विधान शैली तथा भावों के लिये प्रमाण प्रस्तुत करने में अक्षम है। भारतीय–मूल्यों और सार्वभौमिकता के गुणों से ओत–प्रोत लोक–चित्रकला, 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' के विराट भाव को हमारे घर–आंगन में चित्रांकित करती है। वहीं शास्त्रीय कला नियम और सिद्धान्तो के बन्धन में जकड़ी इन मूल्यों और भावों को अपने में समेटने का प्रयास करती है। यह आत्मा और शरीर का संघर्ष प्रतीत होता है। आत्मा में भाव और स्वच्छंदता होती है जबकि शरीर भौतिक सुख–सुविधा को ही जीवन मान लेता है। यदि सत्यता देखी जाये तो दोनों ही एक पौधे के दो पुष्प हैं जो खिलने के बाद एक राजमहल में, दूसरा सामान्य वर्ग में पहुँच गया। इन्ही बातों को ध्यान में रख कर शास्त्रीय एवं लोक–चित्रकला की समताओं एवं विषमताओं का अध्ययन किया जा सकता है।

शास्त्रीय चित्रण से समता–विषमता

लोक–चित्रकला से शास्त्रीय चित्रण की समता–विषमता का क्रमबद्ध विवेचन करेंगें। इस विवेचन का आधार बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला ही होगी।

1) उद्‌भव :–

लोक–चित्रकला का उद्‌भव प्रागैतिहासिक काल से ही स्वीकार किया गया है। भाषा–साहित्य के विकास के पश्चात् शास्त्रीय को अलग मान लिया गया। इस आधार पर हम यह कह

सकते हैं कि लोक–चित्रकला अधिक प्राचीन हैं।

2) तत्व :–

शास्त्रीय कला के 3 तत्व होते हैं–

अ) आकार ब) धरातल स) रंग

तत्वों के आधार पर यह सरलता से कहा जा सकता है कि यह तत्व लोक–चित्रकला में पाये जाते हैं। उनमें क्रमशः आकार प्रतीकात्मक, धरातल गुल और गोहा की भित्तियाँ और खनिज रंगों का प्रयोग किया था।

3) आकार :–

चित्रित आकार का निर्धारण रेखायें करती हैं। प्रागैतिहासिक युग से वर्तमान तक सभी शास्त्रीय व लोक चित्रों का आकार निर्धारण रेखाओं की सहायता से होता है। लोक–चित्रों में देवी–देवता एवं धार्मिक प्रतीकात्मक आकृतियों की रेखायें गहरी व स्पष्ट होती है। जो स्पष्टता और सजीवता की सूचक है। इनसे निश्चय व शक्ति का बोध होता है।

शास्त्रीय चित्रों में कई प्रकार की रेखाओं का प्रयोग होता है। जैसे– मोटी, पतली, हल्की, गाढ़ी, वक्राकार आदि चित्रों के प्रभाव के अनुकूल ही रेखायें होती हैं।

ब) धरातल :–

लोक–चित्रकला में भूमि व भित्ति चित्रण नाम के अनुकूल स्थानों पर होता है। भूमि व भित्ति का धरातल मिट्टी व गोबर से निर्मित हो या पक्का फर्श हो चित्रांकन में कहीं असुविधा नही होती है। सरलता से उपलब्ध साधन ही प्रयुक्त होते हैं।

शास्त्रीय कला में धरातल तैयार किया जाता है उसे रंगों व चित्र के अनुसार तैयार करना पड़ता है जैसे – कैनवास, बोर्ड आदि। कालाकार को कलाकृति तैयार करने के लिये विशेष साधन जुटाने पड़ते हैं।

स) रंग :–

प्राकृतिक रूप से तीन रंग हैं पीला पृथ्वी से प्राप्त, लाल सूर्य से प्राप्त, नीला आसमान से प्राप्त प्रमुख हैं। इनका प्रयोग लोक–चित्रकला में मान्य है। रज व हल्दी का पीला, सिंदूर, रोली, महावर व गेरू का लाल, नील का नीला रंग लोक–चित्रों के भाव व सौन्दर्य को प्रगट करता है। इन्हें बिना किसी मिलावट के प्रयोग किया जाता है। कुछ चित्रों में तो रंगों का प्रयोग होता ही नही है। लोकचित्रों के रंग प्रकृति के समीप होते हैं

शास्त्रीय कला में चित्रानुसार वास्तविक रंगों का निर्माण इन्ही प्रमुख रंगों के सम्मिश्रण से किया जाता है। रंगों को आवश्यकतानुसार हल्का और गहरा बना लिया जाता है। यह सम्मिश्रण रंगों की प्राकृतिक अवस्था को परिवर्तित कर कृत्रिम बना देता है।

3 मुद्रा :—

लोक चित्रों की आकृतियां सदैव एक ही मुद्रा में रहती है। हाथ व पैरों की स्थिति गतिवान चित्रित की जाती है। किन्तु शरीर सामान्यतः स्थिर चित्रित किया जाता है। कभी पूरा चेहरा और कभी आधा चेहरा (अर्ध मुख एक आंख व नाक दिखना) चित्र में बनाया जाता है। कार्य करती आकृति का चित्रण करते समय, हाथ, अंगुलियों और शरीर की वास्तविक स्थिति स्पष्ट नही होती हैं। जबकि शास्त्रीय कला में मुद्रा का विशेष महत्व है उसमें सूक्ष्म गतिविधियां चित्रांकित की जाती है। कार्य करने की स्थिति में आंखें, हाथ, पैर शरीर सभी क्रियाशील प्रतीत होते हैं।

4) संतुलन :—

शास्त्रीय चित्रण में 'भाव' और 'कला' का संतुलित प्रयोग आवश्यक हैं। लोक—चित्रकला में दोनो का उचित सम्मिश्रण प्राप्त होता है। लोक—चित्र में स्वयं कलात्मकता तथा निष्कलुष भावों का प्रगटीकरण होता है।

शास्त्रीय चित्रण में भाव व कला चित्र के अनुसार होते हैं। इसे बनाये रखने का प्रयास चित्रकार को करना होता है। जबकि लोक—चित्रकला में यह भाव बिना किसी प्रयत्न के विद्यमान रहते हैं।

5) लय :—

शास्त्रीय—चित्रकला में लय का महत्व है। लय मानवाकृति प्रकृति चित्रण और सामाजिक चित्र सभी में पाई जाती है। लोक—चित्रकला में भी लय जो अल्पना, चौक, कल्पवल्लियों, वैवाहिक द्वार सज्जा में पाई जाती है। इनमें एक ही आकृति की पुनरावृत्ति की जाती है। चित्रों मे लय कलाकार की भावनाओं का प्रकटीकरण होता है।

6) रस :—

साहित्य के अनुसार नौ रस होते हैं शास्त्रीय चित्रों के प्रभाव के अनुसार रस—युक्त चित्रण किया जाता है। जैसे — राधा कृष्ण के चित्र से श्रृंगार रस, महारानी लक्ष्मी बाई का अंग्रेजों से युद्ध करने का चित्र वीर—रस का भाव प्रकट करेगा किन्तु लोक चित्रों में प्रायः भक्ति

रस का भाव होता है, जो व्यक्ति में आध्यात्मिकता का भाव उत्पन्न करता है।

7) संयोजन :–

लोक–चित्रों में निश्चित सीमा के भीतर निश्चित आकृति का निश्चित स्थान पर संयोजन किया जाता है। मुख्य आकृति के आस–पास अन्य आकृतियों को स्थानानुसार संयोजित किया जाता है। निश्चित सीमा का आकार चौकोर या गोल होता है। सभी आकृतियों के प्रभाव का ध्यान रखा जाता है। शास्त्रीय चित्रकला में मुख्य आकृति के अनुसार ही आस–पास की वस्तुओं का आकार व स्थान निश्चित कर संयोजित किया जाता है। यह संयोजन मुख्य आकृति को प्रभाव हीन न करे, ऐसी व्यवस्था की जाती है कि, वे सहयोगी लगें। इसमें निश्चित सीमा कोई नही होती।

8) भाव :–

लोक–चित्रों में 'सत्यं–शिवं–सुन्दरं' का भाव मुख्य होता है। चित्रांकन सम्बन्धी कथा या प्रतीकों के रहस्य भाव आत्मा को उद्दीपित कर भक्ति भाव और आस्था उत्पन्न करते हैं। इसी भक्ति भाव से आत्म बोध तथा अंत में ईश्वर प्राप्ति का भाव आता है।

शास्त्रीय चित्रों में यथार्थ–भाव की प्रमुखता रहती है। चित्र के अनुसार भावों का प्रगटीकरण होता है। कभी–कभी निश्चित उद्देश्य भी नही पाया जाता है।

9) तकनीक व साधन :–

लोक–चित्रों में सरलता व सहजता होती है। घर की महिलाओं द्वारा चित्रण, पारम्परिक सहज–सुलभ साधनों से किया जाता है। यह अवसर के अनुकूल भावों में प्रफुल्लता लाता है। चित्रण में कला का महत्व होता है। शास्त्रीय चित्रण, कैनवास या कागज, पेंसिल, रबर, ब्रश, रंग के अभाव में होना असम्भव है। इसके लिये उचित शिक्षा तथा पूर्ण ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। तकनीक व साधनो का अभाव कलाकार को कुंठा ग्रस्त कर देता है। शास्त्रीय चित्र कला में कलाकार का महत्व होता है। वह चित्र के सम्पूर्ण अस्तित्व को अपने प्रभाव मे रखता है। किन्तु लोक–चित्रकला स्वयं में पूर्ण है। कलाकार गौण होता है। वह केवल माध्यम होता है, लोक–चित्र कला स्वयं प्रकाशित होती है।

उपरोक्त समता–विषमता के अतिरिक्त लोक–चित्रकला की कुछ अन्य विशेषतायें भी हैं–

1. स्वतंत्र भाव प्रकाशन होता है।
2. जीवन व धर्म का सम्बन्ध प्रगट करने की क्षमता होती है।

3. जनहित, कल्याणकारी तथा परोपकार की भावना होती है।
4. प्रत्येक लोक–चित्र सम्पूर्ण सृष्टि का पर्याय होता है।
5. आर्थिक लाभ के लोभ से मुक्त होती है।
6. सांस्कृतिक मूल्यों की स्पष्टता होती है।
7. परम्परायें ही ज्ञान को प्रकाशित करती हैं।
8. 'कला ईश्वर प्रदत्त है' यह धारणा रहती है।
9. स्मृति के आधार पर बनाई जाती है। पूर्व निश्चित होती है।
10. सम्पूर्ण समाज में बिना किसी परिवर्तन के एक सा चित्रांकन किया जाता है। जिससे सार्वभौमिकता प्रगट होती है।
11. लोक–चित्रकला समाज का दर्पण है। यह परजनः सुखाय है।
12. जाति प्रधान होती है। रीति–रिवाजों व जन्म जात संस्कारो के अनुसार चित्रित की जाती है।
13. धर्म–प्रचार एवं संस्कृति संरक्षण की भावना रहती है।
14. चित्रांकन से मानसिक सुख व संतोष मिलता है।
15. वेद, उपनिषद्, शास्त्र, धार्मिक ग्रन्थ प्रामाणिकता सिद्ध करते हैं।
16. लोक – संस्कृति व लोक–विश्वास इसके समर्थक होते हैं।
17. भौतिकता से परे है। व्यावहारिक मनोरंजन करने मे समर्थ है।
18. सामाजिक व्यवस्था के अर्न्तगत लोक – चित्रकला का सम्मान है। यह समाज के सुन्दर व आदर्श रूप को प्रस्तुत करती है।
19. प्रतीकों व चित्रण के सार्थक अर्थ मानव भावनाओं को परिष्कृत करने मे सहायक होते हैं।
20. विषय सदैव एक ही रहता है – 'धर्म के मार्ग पर चलकर ईश्वर की प्राप्ति।'
21. लोक कला सभी प्रदेशों मे है, किन्तु क्षेत्रीयता का प्रभाव अलग–अलग है।
22. निश्चित रूप–रंग होने पर भी निर्बाध गति से समाज मे पीढ़ी – दर – पीढ़ी हस्तांतरित होती रही है।
23. लोक–चित्रकला अभौतिकतावादी होती है।

लोक–कला समाज मे व्याप्त है यह तो सत्य है। किन्तु उसका प्रयोग जीवन के किन क्षेत्रों मे किया जाता है ? इन प्रश्नो के उत्तर प्राप्ति हेतु हम लोक कला को चार भागों में विभजित करेंगे।

1. धर्मानुप्राणित –

लोक–कला मे धर्म की भावना प्रधाना होती है। ईश्वर की महान शक्ति की अर्चना, पूजा, उपवास का माध्यम लोक – कला ही होती है। अवसरों पर गेरू, खडिया, चंदन, हल्दी, सिंदूर इत्यादि से चित्रण धर्मिक महत्ता को प्रदर्शित करता है। मनुष्य की आस्था को लोक चित्रण प्रदर्शन और स्थायित्व प्रदान करता है। इससे सामाजिक सत्यता, सर्वहित की भावना और आत्मिक सौंदर्य का प्रकाश फैलता है।

उपयोगी –

लोक–चित्रकला समाज के लिये उपयोगी होती है। हमारी दैनिक उपयोग की वस्तुयें बर्तन, औजार, कपडे, आभूषण आदि के आकार तथा साज–सज्जा लोक शिल्पियों द्वारा ही की जाती है। यह समस्त वस्तुयें क्षेत्रीय आवश्यकतानुसार निर्मित की जाती है। इसकारण इनमे लोक परम्पराओं का प्रतिबिम्ब होता है। जब उपयोगी वस्तुयें बन जाती हैं तब उनमे धार्मिक या कलात्मक भाव गौण हो जाता है बल्कि उपयोगितावाद प्रधान होजाता है।

सामाजिकता –

समाज मे होने वाले उत्सव व कार्यक्रमो मे व्यक्तित्व को लोक शैली मे सजाने संवारने मे लोक कला का महत्वपूर्ण स्थान होता है ऐसे समय कभी कभी यह व्यक्तिवादी भी बन जाती है। तब वह निजी आवश्यकताओं की पूर्ति करने लगती है। यह लोक–कला और व्यक्ति का पारस्परिक सम्बन्ध है। स्त्रियों द्वारा अवसर के अनुकूल जूड़ा, वेणी गहने पहनना, फूलों से घर, मन्दिर तथा स्वयं को लोक शैली मे सजाना सामाजिक रूप से व्यावहारिक तथा रूचि सम्पन्नता का प्रतीक है। शरीर पर पारम्परिक 'गोदना' गुदवाना भी सामाजिकता निर्वाह की भावना है।

मनोविनोदार्थ –

जीवन मे बहुत से ऐसे अवसर आते है जब मनो–विनोद हेतु लोक कलाओं का प्रयोग किया जाता है। मेंहदी लगाना, बच्चों के लिये पुतरा–पुतरियां बनाना, सावनी भेजने की मटकी को कलात्मक लोक–चित्रांकन से सजाना, सूप, डलिया, मौर की साज सज्जा कपड़ों पर कढ़ाई करना आदि। यह सभी कार्य लोक–कला के स्वरूप को प्रदर्शित करते हैं।

लोक चित्रकला का अन्य कलाओं से सम्बन्ध

जब कलाओं के अर्न्तसम्बंध की बात की जाती है तब उन सभी माध्यमों से एक विशेष तरह का अंतरावलंबन प्रत्यक्ष प्रगट होता है। मनुष्य का प्रथम सम्पर्क प्रकृति से ही है। इस कारण प्रकृति और

मनुष्य एक दूसरे के पूरक बन गये हैं। [illegible] अपनी विकासशील प्रवृति के कारण प्रकृति के अनुपम रूप को अपने लाभ के लिये प्रयोग किया। जिससे उसकी बुद्धि विवेक और चातुर्य ने प्रकृति से कलात्मक तादात्म्य बना लिया। प्रकृति ने बुन्देलखण्ड के इन सभी कला माध्यमों में अपनी एक सी छवि प्रस्तुत की।

उस छवि को कला के विभिन्न पक्षों में व्यक्ति ने प्रदर्शित किया। समाज ने उस कलात्मक अभिव्यक्ति से प्रभावित होकर उसे अपना लिया। जिसका प्रदर्शन जीवन के सभी क्षेत्रों में हुआ। कला ने मानव जीवन को इस प्रकार प्रभावित किया कि वह सभी क्षेत्रों में कलात्मकता खोजने का प्रयास करने लगा। उसी के परिणाम स्वरूप साहित्य, संगीत, शिल्प सभी कलात्मकता से परिपूर्ण हो गये। आदि मानव का कला प्रेम वर्तमान तक कला अभिव्यक्ति और कला रूचि सम्पन्न समाज में परिवर्तित हो गया। साहित्य में जब तक भाव–व्यंजना के कलात्मक शब्द न हो उसका रस–भाव प्रगट ही नहीं होता है। संगीत की रस–धारा भी कला की आश्रित है। जब तक ताल, वाद्य, लय, सुर, शब्दों का सही ताल–मेल नहीं होगा, तब तक कर्णप्रिय संगीत की कल्पना भी नहीं की जा सकती है। नर्तकी या नर्तक बिना सुर–ताल के सुन्दर नृत्य प्रस्तुत करने में असमर्थ होते हैं। वाद्य यन्त्रों से लयात्मक स्वर प्रस्फुटित होता है उनके आकार प्रकार से, और उनके आकार की रचना करता है लोक–कलाकार।

लोक कलाकार वास्तव में 'लोक' का ज्ञाता होता है वह लोक की आवश्यकता पूर्ति का रचनाकार है, और माध्यम बनती है उसकी कला। मनुष्य के जीवन की आवश्यकतायें ही रचना की पृष्ठभूमि होती हैं। कलाकार लोकहित में अपने कार्य को पूर्ण करता है। चित्रकार प्रत्येक वस्तु को अलंकृत करने का कार्य करता है। वास्तव में समस्त कलायें मानव हित के लिये ही हैं जब उनका सम्बंध मानव से है, उसके जीवन से है तो कलाओं में आपसी सम्बंध होना आवश्यक है। सामान्य लोक–जीवन बिताने के लिये सर्व–सुलभ एवं मनमोहक साधनों का प्रयोग ही किया जाता है। लोक–वातावरण में जब लोक–धुन पर लोक–कला का प्रदर्शन होता है, तब वह सरल, सहज गति से प्रवाहित होकर स्वच्छंद भाव से मानव मन की सीमाओं को लाँघ जाती है। इसी कारण लोक कला के प्रदर्शन के माध्यमों में चाहे कितना अन्तर हो किन्तु वह मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में एकरूपता से आच्छादित रहती है। मानव जीवन में दैनिक क्रिया–कलाप हो या साहित्य, काव्य, संगीत व शिल्प की रचना सभी तो कला के भावों से युक्त हैं। सृष्टि के सम्बंध में एक उक्ति है– "ईश्वर स्वयं महान कलाकार है।" इसकी सत्यता प्रकृति का सौन्दर्य देखकर प्रमाणित होती है।

मानव–जीवन में मनाये जाने वाले उत्सव व संस्कार कला से अभिप्रेरित हैं। तीज त्योहारों पर चित्रांकन धार्मिकता और कलात्मकता का अपूर्व संगम है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र की विशेषता है कि यहाँ की प्रकृति एक जैसी है। प्रकृति के साथ मनुष्य की सहवर्ती क्रिया कलाप भी एक जैसे ही हैं। उनकी आवश्यकतायें, पूर्ति के साधन, आचार, व्यवहार, आध्यात्मिकता, कर्म कांड, उत्सव, तीज–त्योहार इत्यादि लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र मे एक जैसे हैं।

कृषि कार्य मे भूमि की बनावट, गुण धर्मिता उपजाऊ शक्ति, ऋतुयें एक सी फसलें उनका वपन काल और निष्पादन काल एक जैसा होता है। जब बुन्देलखण्ड की धरती के कृषि उद्योग, लोकोत्सव, लोक व्यवहार, लोक–धर्म सभी एक जैसे है। तब उनमें अर्न्तसम्बन्धों की खोज सरलता से की जा सकती है। समस्त कलायें लोक–जीवन शैली से सम्बद्ध है। इस कारण उनसे यहाँ के निवासी जीवन भर सम्बन्धित रहते है। यही सम्बन्ध मानव–जीवन को सम्पूर्णता देता है। उसी से मानव की शारीरिक और मानसिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है।

लोक चित्रकला बुन्देली लोक–जीवन के प्रत्येक पक्ष में सम्बद्ध रहती है। उसकी व्यापकता सर्वत्र दर्शनीय है।

लिपि कला

लोक कला तो समस्त कलाओं की जननी है वह भावना से उत्पन्न हुई है प्रागैतिहासिक काल में आदि–मानव ने भावाभिव्यक्ति का माध्यम कला को ही बनाया था।

गुहा चित्रों में चित्रित प्रतीक ही सभ्य समाज का उद्‌भव एवं विकास निश्चित करने का माध्यम बने। उन्ही प्रतीक चिन्हों को वैदिक युग से पूर्व भाव प्रगट करने का माध्यम बनाया गया। भाषा उत्पत्ति के अभाव में मानव अपने भावों को इंगित या संकेतों द्वारा ही प्रगट करता था। किन्तु जैसे–जैसे विकास की स्थिति बदली मानव ने प्रकृति से तादाम्य बिठा लिया तब भावों के असीमित भंडार के प्रगटीकरण की समस्या उसके समक्ष आ गई। उसके मनोभाव स्पष्टीकरण के बिना अधूरे थे, उनमें पूर्णता का अभाव था। जब स्वरों के विभिन्न प्रकारों से बोली का विकास हो गया तब समस्या आई कि उनका विस्तृत भाव कैसे प्रगट हो। लिपि के निर्माण से पूर्व भी साहित्य था। उस समय किवदन्तियाँ, कथा–कहानियाँ आपसी अनुभवों के आधार पर जन्म ले चुकी थीं। जीवन में नित नवीन घटनाओं, प्राकृतिक परिवर्तनों, उपलब्धियों और नवीनताओं को लिपिबद्ध करना आवश्यक था। गुहा चित्रों के प्रतीकों के आधार पर चित्र–लिपि का निर्माण हुआ। ऐसे प्रमाण मिलते हैं कि कुछ ऐसे चित्र थे जो मूर्त पदार्थों का बोध कराते थे किन्तु उनके साथ सहयोगी रेखायें भी थीं। वे रेखायें अमूर्त भाव को भी प्रगट कर देती थीं। उन अमूर्त रेखाओं से भावों में बोधगम्यता आ जाती थी। इन भावों चित्रों को प्रतीकात्मक रेखायें खींचकर आदि–मानव ने धीरे–धीरे नई सुगम पद्धतियों को निर्माण किया। चित्र रचना की इन प्रक्रियाओं से मानव विचार प्रदर्शन की नवीन पद्धतियों का विकास हुआ।

प्रतीकात्मक लिपि–चित्रों को विकसित करने के उद्देश्य से इन चित्रों को शिलाओं, वृक्ष की छालों, जीव–जन्तुओं के चर्म पर, हड्डियों और दाँतो पर चित्रित किया गया। इस प्रकार के चित्र प्रागैतिहासिक कालीन स्थानों पर अवशेष रूप में पाये गये हैं। यह कैलिफोर्निया की घाटी में, स्कॉटलैण्ड की शिलाओं तथा फ्रांस में पशुओं के सींगों पर पाये गये।

जब विचारों का आदान प्रदान बढ़ने लगा और संवाद प्रेषित करने में और ग्रहण करने में कठिनाईयाँ होने लगी तथा कभी–कभी चित्रों के माध्यम से विपरीत अर्थ निकलने लगे। तब चित्र–लिपि का महत्व कम होने लगा। भाषा और विचार के विस्तार के उद्देश्य से लिपि का जन्म हुआ। यह विस्तार ही मानव को अक्षर–लिपि तक ले गया। जिससे मानवता के विकास क्रम की कथा और विचारों का प्रदर्शन भली प्रकार हुआ प्रागैतिहासिक लोक–चित्र ही भाषा लिपि के जनक हैं। इन्ही के कारण लिपि का अस्तित्व न हुआ।

साहित्य कला

'साहित्य समाज का दर्पण है' यह उक्ति लोक–समाज के लिये अत्यन्त उपयुक्त है। लोक विषय पर जब साहित्य की रचना होती है, तब वह लोक–साहित्य बन जाता है। लोक–साहित्य की रचना लोक–साहित्यकार द्वारा लोक–विषय पर लोक–हित में की जाती है। साहित्य के दो रूप होते हैं – गद्य और पद्य। जब लोक–हित की बात आती है तो लोक–परम्परायें और साधन सर्वोपरि हो जाते हैं। साहित्य का कार्य है – भावों का शाब्दिक चित्रण करना और उस चित्रण को कलाकार रंग व कल्पना के आधार पर चित्रित कर प्रदर्शित करता है। इसी प्रकार कलाकार की मौलिक अभिव्यक्ति को साहित्यकार शब्दों में बाँधकर स्थायित्व देने का प्रयास करता है। यह सम्बन्ध क्रमिक रूप से चलता रहेगा।

लोक–परम्पराओं में प्रकृति, ऋतु परिवर्तन, तीज–त्योहार, मनुष्य के जीवन के सोलह संस्कार, लोकोत्सव इत्यादि सम्मिलित हैं। इन माध्यमों में एक प्रकार का अंतरावलंबन होता है, जो प्रत्यक्ष रूप से मानव एवं प्रकृति के एकात्म बोध को प्रगट करता है।

पद्य–साहित्य के अन्तर्गत लोक काव्य परम्परा में प्रकृति के बदलते रंगों का सूक्ष्म विवेचन किया गया है। 'बारह मासा' लोक–काव्य उसी का प्रमाण है। उसमें सावन–भादों में वर्षा की झड़ी, प्रकृति की हरियाली, बादलों का गर्जन है तो पौष–माघ में ठिठुरती ठंड, कृषि पर पड़ता पाला भी काव्य का एक अंग है। फाल्गुन–चैत्र में विहँसता जंगल, वैशाख और जेठ में सूखती नदियाँ और नाले प्रकृति के शाब्दिक चित्रण ही तो हैं। इन्हे शब्दों से चित्रों में परिवर्तित करना कलाकार की सूझ–बूझ पर निर्भर करता है।

लोक–साहित्य में घर–आँगन, कुआँ, तालाब, नदी, पनघट, गैल, घाट, पीपल, नीम, पहाड़, बगिया, मोर, तोता, हिरन, राम–सीता, कृष्ण–राधा, देवी–देवता दैनिक आवश्यकताओं की वस्तुयें आदि सभी का शाब्दिक विस्तृत वर्णन प्रस्तुत किया जाता है–

– दिन की ऊंगन किरन की हेरन, सुरहिन वन को जाय मोरी मॉंय। (सूर्योदय)
– हरी रे चिरैया तोरे पियरे रे पंख (पक्षी)
– लै लो कलेवा मै ठाड़ीं पिया (खेत पर भोजन लेकर जाती स्त्री)
– ऊपर बादर घथरांय हो नैचें गोरी पनियाँ को निकरीं (वर्षा में नारी सौन्दर्य)
– गाड़ी वारे मसक दै बैल अबै पुरवइया के बादर उनये (वर्षा प्रारम्भ दृश्य)
– राधा खेले होरी मोहन के संग मोरे रसिया (होली दृश्य)
– धनुष चढ़ाये राम ने, सो प्यारे थकित भये सब भूप (सीता स्वयंवर)
– ने मानो गगरी धर राखो लिखे हैं परेबा मोर (गगरी पर चित्रण)
– हरे बाँस मंडप छाये सिया जू कौ राम ब्याहन आये (विवाह दृश्य)

पद्य शैली में कम शब्दों में अधिक बात कहने की क्षमता होती है और गद्य शैली में विस्तृत विवरण किया जाता है। इन शाब्दिक भावों को अर्न्तमन के नेत्रों से देखकर चित्रकार चित्रण करता है।

संगीत कला –

"गीतं वाद्यं तथा नृत्यं संगीतामुच्यते" अर्थात, गीत वाद्य और नृत्य तीनों के मेल को संगीत कहा जाता है।

लोक–चित्रकला लोक–संगीत को स्थायत्व प्रदान करने का कार्य करती है और लोक संगीत लोक–चित्रकला को वाणी एवं भाषा से व्यक्त करने का काम करता है। दोनों की विशेषताओं में भी साम्य है–

1) इनके रचियता लोक–स्तर के कलाकार होते है।
2) इनमें लोक भावनायें, लोक के प्रतीक, लोक देवता तथा लोक आकांक्षाये सम्मिलित होती है।
3) यह दोनो लोक जीवन मे रस, आनंद और उल्लास का संचार करती है।

लोकोत्सवो पर लोक चित्रांकन तथा लोक–संगीत दोनो का समुचित प्रयोग होता है जैसे– सुआटा के समक्ष बनाई गई अल्पनाओं मे लोक चित्रांकन का प्रयोग किया जाता है। साथ ही तत्सम्बन्धित लोकगीत गाने की परम्परा भी है।

बुन्देली लोकगीतों के अनेक प्रकार हैं – जीवन के सोलह संस्कारों के प्रत्येक चरण पर गाये जाने वाले, संस्कार गीत, देवी–देवताओं के पूजा विषयक गीत। बालक–बालिकाओं के क्रीड़ात्मक उपासना गीत, अक्ती, सुआटा, मामुलिया टेसू, नौरता, झिंझिया, हप्पूगीत। ऋतु विषयक लोकगीत– सावन, राछरे, रावला, सैरे, भुंजरिया, बरसाती रसिया, फाग, दिवारी।श्रृंगार गीत – प्रेम, विरह, प्रतीक्षा, बेमेल विवाह, सोनारा मेंहदी, दादरा आदि।

श्रमगीत–बौनी को रसिया, बिलवारी, दिनरी, जतसार (जो चकिया चलाने समय गाते हैं) जातियों के लोक गीत – गड़रियाऊ, ढिमरयाऊ, कछयाऊ, धुबियाऊ, कहरव (जो कहार गाते हैं)। शौर्य व प्रशस्तिगीत – चँद्रावली का राछरा, रानी लक्ष्मी बाई प्रशास्ति गीत आदि। इन सभी लोकगीतों का परम्परागत संगीत होता है। वाद्यों के बिना लोक – संगीत अधूरा होता है। लोक – वाद्य चित्रकार की कल्पना और संगीतकार की आवश्यकता से निर्मित हुये लोक वाद्याों का आकार ही उनमे भिन्न भिन्न ध्वनि उत्पन्न करने मे सहायक होता है। भाषा साहित्य के विकास के साथ सर्वप्रथम देवताओं की संगीत सभा का वर्णन मिलता है। उसी के आधार पर गायक, वाद्ययन्त्र, नर्तकी सभी चित्रकार ने चित्रित किये। उन चित्रों मे प्रदर्शित वाद्य यन्त्रों को साकार रूप शिल्पकार ने दिया। लोक वाद्यो पर सुन्दरता वृद्धि तथा भावानुरूप उन पर लोक चित्रकारी भी की जाती है। लोक वाद्यों का आकार व साज–सज्जा उनकी क्षेत्रीय विशेषताओं को प्रगट करने मे सहायक होता है। प्रमुख बुन्देली लोकवाद्य हैं–

1. बांसुरी, तुरही, रमतूला। यह फूँक मार कर बजाये जाते हैं।
2. नगड़िया, नगाड़ा, ढाँक, चंग, हुड़क, ढोलक, मृदंग आदि खोखली लकडी के बने और उन पर चमड़ा चढ़ाकर बनाये जाते हैं। यह संगीत मे ताल – वाद्य के रूप मे प्रचलित हैं।
3. लोक–वाद्यों मे तार वाले वाद्य हैं – इकतारा, तमूरा सारंगी आदि
4. घन–वाद्य वे होते हैं जो अधिकांशतया धातु से निर्मित होते हैं और परस्पर आघात से ध्वनि करते हैं जैसे– झींका, मंजीरा, कसेरू, चटकोरा आदि।
5. ग्रामीण स्तर पर चौपालों, खेतों, लोक – देवताओं के चबूतरों पर मनोरंजक और धार्मिक लोक–संगीत का कार्यक्रम होता है। तब थाली, लोटा, पत्थर, चिमटा, आदि संगीतात्मक लय उत्पन्न करने मे सहायक बनते हैं।

लोक नृत्यों मे प्रयुक्त घुंघरू भी महत्वपूर्ण है। नर्तकी की वेशभूषा भी कलात्मकता का प्रभाव उत्पन्न करती है। राई नृत्य, मौनिया, सैरा आदि नृत्यों मे नर्तकी व नर्तक लोक–वेशभूषा धारण करते हैं।

आधुनिकता के प्रभाव से लोक नृत्य विलुप्त होते जा रहे है चित्रकार उन्हें चित्रकला के माध्यम

से चित्रित कर स्थायीत्व प्रदान कर सकता है।

शिल्प कला –

प्रतिदिन तथा विशेष अवसरों पर हम जिन वस्तुओं का प्रयोग करते हैं जैसे वस्त्र, आभूषण, बर्तन, मूर्तियाँ खिलौने आदि।

वस्त्र –

बुन्देलखण्ड मे वस्त्रों का अपना परम्परागत पुरूषों के सिर पर पहनने वाले वस्त्रो मे साफा, पगड़ी, अँगौछी, टोपी और शरीर पर कुर्ता, धोती, मिर्जई (अंगरखा), बंडी, फतुई, कमीज, जाडे मे रूई भरी बंडी, परदनी (पुरूष की धोती) तहमद आदि प्रयोग करते हैं। कंधे पर पिछौरिया, तौलिया या साफी डालते हैं। पैरों मे चमरौधा जूते या पनइयाँ पहनी जाती हैं महिलायें लोक–जीवन मे परिश्रम के कार्य करते समय काँछ की धोती पहनती है। आम जीवन मे वे धोती, पोलका (कमर तक का ब्लाउज) चोली, घांघरा, चोली, चुनरिया आदि प्रयोग करतीं हैं। पैरो मे फिचँऊ पन्हइयाँ पहनने का चलन है। आधुनिकता ने इस पहनावे पर भी प्रभाव डाला है। अब दूर–दराज के गाँवों मे अल्प–संख्या मे यह वस्त्र धारण करे स्त्री–पुरूष दिखाई देते हैं।

कढ़ाई द्वारा तथा धागे से बेलें बना कर लगाने का प्रचलन कहीं–कहीं देखने को मिलता है। वस्त्रों के रंग तथा छापे पारम्परिक होते हैं। चटख रंगो का प्रयोग होता है। किनार दार धोती पर फूल की बेलें बहुत प्रचलन मे हैं। ब्लाउज भी अधिकतर छापे वाले पहने जाते हैं, वे भी चटख रंगो के फूलदार होते हैं। पुरूषों के कपडों पर चित्रकारी बहुत कम देखने को मिलती है। विशेष अवसरों पर या नृत्य की वेशभूषा में फूलदार वस्त्रों का यदा–कदा पुरूष प्रयोग करते हैं।

धातु शिल्प –

धातुओं में हम सबसे पहले आभूषणों की कलात्मकता से परिचित होंगे। आभूषण सौदंर्य को बढ़ाने वाले तथा समृद्धि के प्रतीक होते हैं। वैदिक कालीन चित्रकला में स्त्री–पुरूष आभूषणों से अलंकृत चित्रित किये गये हैं। ऐसा प्रतीत होता है मानव ने प्राचीन चित्रों व मूर्तियों मे आभूषण धारण किये स्त्री–पुरुष सुन्दरता से प्रभावित होकर स्वयं भी आभूषण धारण किये। शासक वर्ग में सोने व रत्न जड़ित आभूषण प्रयोग किये जाते थे। सामान्य वर्ग अपनी सज्जा के लिये सोना, चाँदी रूपे पीतल आदि धातु के आभूषण प्रयोग करता था। उसमे मोती मनके भी लगे रहते थे। इन आभूषणों को बनाने वाले सुनार सुघड शिल्पकार तथा चित्रकार होते थे। वे कल्पना या प्रेरणा से आभूषणों के चित्र बनाकर, अपनी कुशलतानुसार उन्हें साकार रूप प्रदान करते थे।

प्रत्येक क्षेत्र के आभूषणों की बनावट अलग अलग होती है। उनके नाम भी भिन्न होते है। इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में भी अनेक कलात्मक आभूषण तैयार किये जाते हैं। यहाँ महिला, पुरूष व बालक–बालिकाओं के पहनने वाले आभूषण अलग–अलग हैं।

महिलाओं के आभूषण बहुत होते हैं उनमे से प्रमुख हैं–

महिलायें पैरो में – बिछिया, बाँके, छला, अनौठा, पाँवपोस, पैंजना, टोडर, झांझें, लच्छा, चूरा, पायल, गूजरी, जेहर आदि पहनती हैं।

कमर मे करधौंनी, बिछुआ, पेटी, झालरदार छँटा आदि धारण करतीं है।

हाथों मे – अँगूठी, छला, अर्स्याऊ, जहरयाऊ, इत्रयाऊ, हथफूल, दस्तबद, ककना, बंगरी, गजरियाँ, पटेला, नौगराई आदि पहनती है तथा कुहनी के ऊपर बरा, बजुल्ला, बांके, बाजू बंद, बखौरिया, बेंगुआ आदि प्रमुख हैं।

वे गले में – खंगोरिया, सुतिया, कंठा, तिदानौ, लल्लरी, गुंज, हार, हमेल, ठुसी, हंसली मोहन माला आदि पहनती हैं। वे कानों में – कनफूल ढारें, कनौती, झुमकी, बारी, खुटियां, बाला, झाला, लोलक, बिजली आदि पहनती हैं। और नाक में – नथ, बारी, खुटिया, पुंगरिया, दुर, कील आदि धारण करती हैं। मस्तक पर बैंदी, बैंदा, झूमर, सीसफूल आदि धारण करने का रिवाज है।

पुरुष भी विशेष अवसरों जैसे – विवाह व जन्म संस्कार तथा लोक नृत्य आदि मे आभूषण धारण करते हैं। वे पैर में – कड़ा व चूड़ा पहनते हैं। हाथों में – छल्ला, मुंदरी, चूड़ा, कड़ा आदि पहनते हैं। गले के आभूषण – कंठा, गुंज, गोप, जंजीर, हार, तबिजिया, मोती माल वगैरह धारण करते हैं।

कान के आभूषण हैं – कुण्डल, लौंग, गुखरू, झेला, बारी आदि बालकों के आभूषण भी लगभग पुरुष स्त्रियों के आभूषणों जैसे ही छोटे आकार के होते हैं। बालक पैरों में चूरा, पैंजनिया, व कमर में करधौंनी पहनते हैं। बच्चे के हाथों मे कडा, चूरा, पौचिया पहनाई जाती हैं। गले मे कठुला, हाय, तबिजिया, चन्दा आदि तथा कान में बारी और लौंग आदि आभूषण पहनाये जाते हैं। इन सभी आभूषणों की कलात्मक डिजाइनें स्वर्णकारों और बुन्देलखण्ड के लोक जीवन की कलात्मक अभिरूचि की प्रतीक होती है।

लोक जीवन में अन्य धातुयें जैसे – लोहा, पीतल आदि से बने बर्तन गृहस्थी के सामान प्रयुक्त किये जाते हैं। लोहे से बने कृषि यंत्र, कृषि कार्यों मे प्रयुक्त किये जाते हैं। लोहे से बने कृषि यंत्र, कृषि कार्यों मे प्रयुक्त कलात्मकता और लोक–जीवन की आवश्यकताओं के प्रतीक है। इनकी निर्माण विधियाँ तथा आकृति भी प्राचीन कला व संस्कृति से प्रभावित होती है।

मूर्ति कला व खिलौने –

लोक–जीवन में मूर्तियों का बहुत महत्व होता है। वे मिट्टी से निर्मित होती है। मूर्तियाँ अधिकतर धार्मिक होती है। इनका विभिन्न अवसरों पर महत्व व आकार निश्चित है जैसे– गणगौर और तीजा की गौर, दीपावली के गणेश – लक्ष्मी, महालक्ष्मी का हाथी और संक्राति के गड़िया–धुल्ला आदि।

इसी प्रकार रंग–बिरंगे मिट्टी से निर्मित खिलौने लोक जीवन में बच्चों के लिये बहुत महत्व रखते हैं। लगभग सभी मूर्तियों और खिलौनों पर रंगों के प्रयोग से चित्रकारी की जाती है। जिससे उनका सौंदर्य द्विगुणित हो जाता है।

काष्ठ शिल्प –

बुन्देलखण्ड के घरो के दरवाजों चौखटों पर की गई नक्काशी विशिष्ट होती है। पूजा की चौकी, मण्डप, भगवान का सिंहासन, कलमदान, नक्काशीदार पेटियाँ, आसन (पटा) वगैरह कुशल शिल्पियों द्वारा तैयार किये जाते है। चित्रकूट में लकड़ी के बने आकर्षक खिलौने भी मिलते है। इनकी कलात्मक बनावट तथा उनपर की गई चित्ताकर्षक होती है।

अन्य कलात्मक शिल्प –

बाँस, खजूर, सरकंडा व खाडू से बनी गृहोपयोगी वस्तुयें जैसे डलिया, पंखे, सूप, आदि लोक कला के सुन्दर नमूने है। इनकी साज सज्जा हेतु उन पर लोक चित्रकारी भी की जाती है।

गोदना –

लोक जीवन मे 'गोदना' कला का बहुत महत्व है। यह चित्रकारी मानव शरीर पर की जाती है। स्त्रियाँ गोदना गुदवाना बहुत पसन्द करतीं है। पुरूष भी गोदना गुदवाते हैं। गोदना लगभग सम्पूर्ण भारत मे गुदवाने की प्रथा है, किन्तु क्षेत्रीयता के आधार पर उनकी आकृतियों मे अन्तर होता है। बुन्देलखण्ड की गोदना कला अत्यन्त प्राचीन है इसके प्रमाण भी मिलते है। गुदना गुदवाने के कुछ लोक–विश्वास भी होते हैं जैसे– शारीरिक सौंदर्य वृद्धि, शरीर अलंकरण, जादू–टोने से सुरक्षा आदि। इनमे धार्मिक, प्राकृतिक प्रतीक, पशु, पक्षी, फूल अपना और प्रिय का नाम गुदवाना अत्यन्त प्रचलित है। गोदना गोदने वाली को 'गुदनारी' कहते है। गोदना गोदने का पारम्परिक तरीका है– शुद्ध घी के दिये की कालिख, हरी बेल की पत्तियों का रस और बेल की गोंद मिलाकर मिश्रण तैयार करते हैं। उसको आक के काँटे मे लगाकर शरीर के अंगो पर चुभाकर गोदना गोदा जाता है।

उपरोक्त समस्त कलाओं का चित्रकला से अंर्तसम्बन्ध है। इनका विवेचन जिस प्रकार शास्त्रो

और प्राचीन ग्रंथों में किया गया, वैसा ही लोक में चित्रित किया गया और शिल्पकारो ने प्रदर्शित किया। इन्हीं के आधार पर हम समाज व संस्कृति के ऐतिहासिक और वर्तमान तथ्यों को उद्घाटित कर सकते है।

इसी दृष्टिकोण से यदि यह स्वीकार कर लिया जाये कि लोक निर्माण मे लोक–कलाओं का महत्वपूर्ण योगदान है। लोक–कलाये मानव जीवन को अनुरजित करती है। वह समानता, स्वतंत्रता और भाई चारे की तंरगो से उद्वेलित रहती है तथा एवं लोकतंत्र की भावना से परिपूरित है। लोक के प्रति अदम्य निष्ठा को आत्मसात किये हुये लोक–कला समस्त लोक से सम्बन्ध स्थापित रखती है।
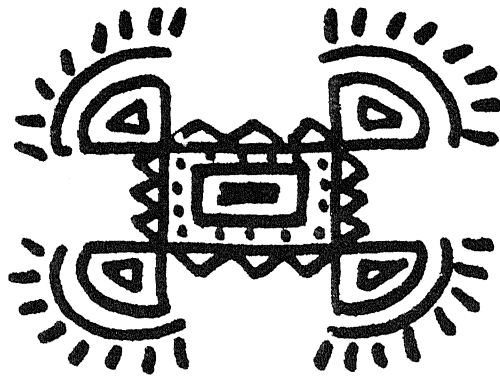
अध्याय – 5

बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला

बुन्देलखण्ड में पूरे वर्ष ऋतुओं के अनुसार व्रत, पर्व, त्योहार और उत्सव होते रहते हैं। जीवन से इनका सम्बन्ध सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। लोक जीवन में अनेक कार्य तिथिवार तथा त्योहारों के अनुसार ही किये जाते हैं। इनमें सामूहिक भावना का समावेश होता है। त्योहार लोक जीवन में रस का संचार करते हैं। ये हमारे सुख के प्रदर्शन होते हैं। जीवन में जो अभाव हो उसी की पूर्ति हेतु मनुष्य संलग्न रहता है। बुन्देलखण्ड में कृषि कार्य की प्रमुखता होने के कारण फसल बोने उसकी हरियाली और समृद्धि आने तक की क्रियाओं से सम्बन्धित अनेक 'पर्व' और 'त्योहार' होते हैं। पर्व का अर्थ होता है 'भरना' अर्थात् जिस प्रकार गन्ने के पर्वों (पोरों) के मध्य रस भरा रहता है ठीक उसी प्रकार पर्व आने पर जीवन में रस भर जाता है। 'पर्व' शब्द से किसी एक विशेष बिन्दु पर ध्यान केन्द्रित हो जाता है जैसे– दीपावली का पूजन, कार्तिक वदी अमावस्या को संध्या के समय होना निश्चित है। किन्तु होली के त्योहार पर होलिका दहन किया तो जाता है परन्तु समय निश्चित नही रहता है। इस कारण उसे त्योहार कहते हैं। त्योहार पर बहुत पहले से तैयारी की जाती है। दीपावली के पूजन के अतिरिक्त उसको आरम्भिक काल से तो हम त्योहार के नाम से ही पुकारेंगें क्योंकि उसकी तैयारी बहुत पहले से की जाती है। 'व्रत' का अर्थ संकल्प लेना होता है। यह संकल्प भोजन न करना, विशेष भोज्य पदार्थ का त्याग करना या मौन रहना आदि होते हैं। व्रत का सम्बन्ध दीक्षा लेने, कोई अनुष्ठान करने या मांगलिक कार्य करते समय भी रखे जाते हैं। जब हम वर्ष में एक बार या किसी विशेष प्रयोजन हेतु व्रत रहते हैं तब वह नैमित्तिक व्रत हो जाते हैं। किन्तु जब प्रति सप्ताह या प्रतिमाह में निश्चित दिन या तिथि के अनुसार व्रत रखते हैं तो उसे नित्यव्रत कहते हैं। यह व्रत नियमानुसार किये जाते हैं। नित्य व्रतों का 'उद्यापन' (समापन विधि विधानानुसार) किया जाता है। 'व्रत' रखते समय शरीर और मन दोनो का संयम आवश्यक माना गया है। कष्टकारी व्रतों को त्योहार में परिवर्तित कर देने से उसके टूटने की आशंका नहीं रहती। चंद्रमा को अर्ध्य देकर व्रत तोड़ने वाले जैसे–

करवा चौथ, अहोई अष्टमी पर महिलायें दिनभर भित्ति चित्रांकन, पूजा के विशेष पकवान बनाने की तैयारियों में जुटी रहती हैं। इसी प्रकार निर्जला व्रत 'तीजा' में रात्रि जागरण किया जाता है। भजन–कीर्तन करते हुये रात बिताने की परम्परा है। देवठान, हरछठ और जन्माष्टमी आदि भी ऐसे ही व्रत हैं, जिनमें व्रत रहते हुये चित्रांकन करने की परम्परा है। महालक्ष्मी व्रत करने का संकल्प याद रखने का अनोखा तरीका बुन्देलखण्ड में प्रचलित है। 'गड़ा लैनी आठें' से महालक्ष्मी तक प्रतिदिन पवित्र डोरे में गांठ लगाते हैं। जिससे 'व्रत' रखने का संकल्प याद रहे। अधिकांश व्रत व्यक्तिगत तथा त्योहार सामूहिक होते हैं। व्रत में तप और योग का अद्भुत संयोग होता है इसमें स्वेच्छा से विरक्ति 'तप' तथा चित्तवृत्ति पर नियंत्रण करना 'योग' है। त्योहार पारिवारिक एवं सामाजिक क्षेत्र में एकता तथा धर्म सम्भाव के सूत्राधार हैं। 'मांयकी पूजा' या 'बाबू की दौज' केवल परिवार के सदस्यों द्वारा की जाने वाली पूजा है। जिसमें सदस्य के न उपस्थित होने पर भी उसका 'कोरा' (प्रसाद) निकाला जाता है। त्योहार व लोकोत्सव में निहित तत्व ही उन्हें महत्व दिलाते हैं। सम्बन्धित देवता तथा उद्देश्य ही मानवीय विश्वास को सबलता प्रदान करते हैं। इन त्योहारों में वृक्षों का भी अति महत्व होता है। सोमवती अमावस्या पर पीपल की और तुलसी की परिक्रमा करना, वर अमावस्या पर वट वृक्ष की परिक्रमा करना, इच्छा नवमीं पर आंवले की परिक्रमा आदि वृक्षों के ईश्वरीय गुणों को प्रगट करती है। नारी–जीवन में सुहाग–व्रतों का अत्यन्त महत्व है। करवा–चौथ, तीजा, गणगौर, वट सावित्री व्रत इत्यादि पर पति की दीर्घायु की कामना करती नारी भारतीय संस्कृति के मूल्यों की रक्षा करती हैं। हमारे धार्मिक तथा सांस्कृतिक मूल्य सदैव से विश्व में आदर की दृष्टि से देखे जाते रहे हैं। तीज–त्योहार हमारे जीवन के रस–भीने पन्ने हैं जो जीवन में मनोरंजन तथा नवीनता लाते हैं। लोक–जीवन के त्योहारों में भूमि और भित्ति अंलकरण तथा चित्रण करने की लोक–परम्परायें हैं। अवसर विशेष की कथा–कहानियां और पूजन विधान भी होती है। समस्त कारक वर्ष भर होने वाली पूजा और त्योहारों में विविधता उत्पन्न करने में सहायक होते हैं।

बुन्देलखण्ड में लोक–चित्र बनाने के अनेक अवसर होते हैं। इनका चित्रण धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अवसरों पर किया जाता है। लोक–चित्र अधिकांशतः मानवीय भावों को चित्रित करने का कार्य करते हैं।

बुन्देलखण्ड में तो लोक चित्रों की अति प्राचीन परम्परा रही है। पारम्परिक लोक–चित्रों का स्त्रोत आदिम भित्ति–चित्र ही है। उनमें अंकित प्रतीक आज भी लोक चित्रकला का हिस्सा बने हैं। उनका आकार–प्रकार गुहा चित्रों की श्रृंखला की वर्तमान कड़ी है। मानव सदैव से रहस्यात्मक प्रवृतियों की ओर आकर्षित रहा है। धार्मिक पूजन में बनाये जाने वाले प्रतीकों में जीवन के अनेक रहस्य विद्यमान रहते हैं। बुन्देलखण्ड के पौराणिक इतिहास के अनुसार यहाँ सदैव धार्मिकता का समावेश रहा है। यहां

का लोक–जीवन संघर्षशील रहा है धार्मिक भावनायें मानव जीवन को यथार्थ के दुःखों को सहने की शक्ति प्रदान करती है। इसी विचार से धार्मिकता का समावेश यहां प्रत्येक क्षेत्र में देखने को मिलता है। रबी और खरीफ की फसल आने पर होली, दीवाली मनाना नये अनाज को होली की अग्नि में समर्पित कर उसका उपभोग करना। यह भावना उस ईश्वरीय शक्ति के प्रति श्रद्धा भाव है जिसने श्रम को फली–भूत किया। यही अगाध श्रद्धा ही ईश्वरीय सत्ता पर विश्वास करने हेतु बाध्य करती है। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति की उपासना के प्रतीक होते हैं 'जवारे', जो देवी के समक्ष 'चैत्र' तथा 'क्वांर' में बोये जाते हैं। प्रकृति के प्रत्येक कोण में ईश्वर के निराकार रूप को अनुभूति वाला प्राणी को ईश्वर के साकार रूप के दर्शन हेतु प्रेरित करती है। लोक चित्र निराकार ब्रह्म के साकार प्रतीक हैं। ईश्वर किस प्रकार हमारे जीवन को प्रभावित करता है। यह भाव परम्परागत रूप में चित्रित करना लोक–चित्रण का सबल पक्ष है।

लोक–चित्रों के माध्यम भी सरल, सुगम्य होते हैं– जैसे– चूना, गेरू, गोबर, मिट्टी व चूने के रंग, घर में प्राप्य सामान्य वस्तुयें जैसे– हल्दी, चावल, आटा, सिंदूर, रोली, महावर, चंदन, काजल, नील आदि। यह सब साधारण जीवन में प्रस्तुत होने वाली सुलभ सामग्रियाँ हैं। इनका प्रयोग का भाव भी मानव की समर्पणता को परिभाषित करता है।

लोक–चित्रों में संप्रेषणीयता होती है, जो एक चिन्ह या चित्र के माध्यम से प्रगट होती हैं। लोक–चित्रों के सम्बन्ध से मेरा यह मानना है कि सामान्यतः यह कहा जाता है कि लोक–चित्र लिखे जाते हैं। साधारण सा दिखने वाला यह वाक्य अपने में सारगर्भित है। इसका उदाहरण – दीपावली लिखना, हरछठ और करवा चौथ लिखना, अहोई अष्टमी लिखना आदि है। यहाँ यह स्पष्टता आवश्यक है कि 'लिखना' शब्द का प्रयोग भाषा लेखन–कार्य हेतु प्रयोग किया जाता है। किन्तु जब लोक–चित्र बनाते हैं तब 'लिखना' शब्द का तात्पर्य क्या हो सकता है ? वास्तव में जब कथात्मक चित्रों को चित्रित किया जाता है तब वे कथा–चित्र या लोक–कहानी चित्र बन जाते हैं। उनके पीछे एक या अनेक कथायें विद्यमान रहती हैं। वही कथायें और कहानियाँ लोक–चित्रण को 'चित्र–लिखना' में परिवर्तित कर देती हैं। लोक–चित्रों की भाषा ही सामान्य जन के जीवन संघर्ष तथा उपलब्धियों को प्रदर्शित करती है। वह जीवन के प्राप्य–अप्राप्य तथा दुर्लभता को प्रदर्शित करने की क्षमता भी रखती हैं।

लोक–चित्रों के समान उनसे सम्बन्धित कथाओं की अत्यन्त सुदीर्घ एवं समृद्ध परम्परा है। मानवीय सभ्यता और संस्कृति के साथ यह पुष्पित एवं पल्लवित होती रही। इन कथाओं को प्रारम्भ कब से हुआ यह कहना तो असम्भव है किन्तु वेद, पुराण, उपनिषद, रामायण, महाभारत, कथा–सरित्सागर मे विद्यमान पुरा कथायें इनका रूप कही जा सकती हैं। लोक–भाषा में कही जाने वाली धार्मिक कथाओं की भाषा सरल, सहज तथा बोधगम्य होती है। इनकी रचना मे किसी भी शास्त्रीय शैली के लिये स्थान

नही होता। यह उनसे ऊपर होती हैं। इनका विषय मनुष्य की दुष्प्रवृत्तियों का निषेध तथा सद्–प्रवृत्तियों का समर्थन होता है। समाज से कदाचार समाप्त कर सदाचार की भावना का प्रसार ही इनका उद्देश्य होता है। इनका प्रभाव सम्पूर्ण मानव जाति पर पड़ता है। वे ईश्वर की परम सत्ता के प्रति आस्था भाव जगाकर सामुदायिक भावना को बल प्रदान करती है। यह सामान्य जन की अनुभूतियों को बिना किसी आडम्बर के प्रस्तुत करने में सक्षम होती है। इनमें कथा तत्व का महत्व होता है। यह हमारी लोक–संस्कृति की वाचिक धार्मिक परम्परा है, जिसमें स्मृतियां एवं आशय प्रस्तुतीकरण को सफल बनाते हैं।

इन धार्मिक कथाओं की भाषा तथा विषय वस्तु संवेदनात्मक होती है। इनमें प्रेम, विश्वास, क्रोध, घृणा, भय, करूणा, मुस्कान समाहित रहते हैं। लगभग सभी कथाओं में प्रारम्भ में कदाचार से दुःख तथा संकट उत्पन्न होते हैं, किन्तु ईश्वर की भक्ति व आर्शीवाद से सदाचार की भावना उदित होती है जिससे इच्छित फल की प्राप्ति होती है। अज्ञानता के नाश से ही ज्ञान का प्रकाश फैलता है, यह सर्वविदित है। ये कथायें इसी बात का घोतक होती हैं।

भारतीय संस्कृति में वर्षभर धार्मिक पूजा–पाठ चलता रहता है। अवसर विशेष पर किये जाने वाले व्रत–पूजन के साथ धार्मिक कथा या कहानी भी कही जाती है। उस कहानी का रूप व्रत या पूजा के मुख्य उद्देश्य के अनुसार ही होता है। यदि माता पुत्र के लिये व्रत रखकर पूजा कर रही है तो पुत्र की दीर्घायु व मंगल कामना का भाव कथा में होता है। किन्तु जब पत्नी अपने पति की दीर्घायु हेतु व्रत–उपवास कर रही है तब कथा में पति–पत्नी के आपसी प्रेम, विश्वास और पति की दीर्घायु कामना की भावना निहित रहता है। इसी प्रकार धन, पुत्र या सुख प्राप्ति हेतु भी पूजन किये जाते हैं। उनकी कहानी या कथा भी पूजन के उद्देश्यानुसार ही होती है। हिन्दी साहित्य कोश भाग–9 के अनुसार 'लोक–कथा' और 'लोक–कहानियाँ' दोनों की परिभाषाओं में भिन्नता बताई है।

"कथा शब्द सामान्यतः कहानी का पर्यायवाची है, इस दृष्टि से तो लोक–कथा और लोक–कहानी में कोई अन्तर नही होगा, किन्तु वस्तुतः ऐसा है नही। कथा शब्द का प्रयोग एक विशेष प्रकार की धार्मिक कहानी के लिये आता है। यह कहा जाता है कि रामायण की कथा हो रही है या इसी प्रकार सत्यनारायण की कथा, गणेश चौथ की कथा आदि। इन प्रयोगों से प्रकट होता है कि कथा कोई ऐसी वार्ता है जो किसी के द्वारा कहकर सुनाई जाती है और उसे सुनने वाले को धार्मिक सन्तोष प्राप्त होता है, धर्मलाभ होता है। अन्य कोई मानता पूरी होती है या पूरी करने के लिये सुनी जाती है। ऐसी लोक कथा का बहुधा धर्मगाथा या पौराणिक कथा से सम्बन्ध होता है।"

इसी प्रकार पूजा–कहानी के बारे में भी बताया गया है – "एक पूजा–कहानी होती है, उसमें भी धार्मिक अभिप्राय रहता है, पर यह कहानी सामान्यतः पूर्ण रूपेण लोक–कहानी होती है, जिसमें

देवी–देवता भी अपने अनोखे रूप में आते हैं। ये पूजा–कहानियाँ प्रायः स्त्रियों में चलती हैं और उनके अंर्तगत करवा चौथ, अहोई आठें, भैयादूज, अनन्त चौदस, हरछठ आदि अवसरों पर कहीं जाने वाली कहानियाँ आती हैं।''

कथाओं–कहानियों का सम्पूर्ण स्वरूप कहने व सुनने वाले को आत्म विभोर कर देता है। व्रत–उपवास, अनुष्ठान व लोकोत्सव पर कही जाने वाली कहानियाँ व्रत धारक के आस्था एवं विश्वास को संतुष्टि प्रदान करती हैं। उसे यह संतोष होता है कि जिस उद्देश्य से वह धार्मिक पूजन कर रहा है उसमें सार्थकता है। यह मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण मनुष्य की अन्तश्चेतना को बल प्रदान करता है। एक प्रकार से कथा–कहानियाँ लोक–वेद हैं, जिनमें जीवन के सुख–दुःख, विश्वास, चमत्कार एवं भविष्य की सुखद अनुभूति का समावेश होता है। जो व्यक्ति को कष्ट भोगने की क्षमता तथा कार्य की सफलता हेतु आशावादी बनाती हैं।

लोक चित्रों और सम्बन्धित कथाओं का पूरक तत्व होता है विधि–विधान। विधि–विधान से ही धार्मिक कार्यों की पूर्णता मानी जाती है। प्रत्येक धार्मिक लोक–चित्र में मानव आकांक्षाओं का चित्रण होता है। उस आकांक्षा पूर्ति हेतु व्रत–उपवास रखकर ईश्वर के समक्ष लोक–चित्र के अनुसार कथा या कहानी कही जाती है। वेद–पुराणों के अनुसार पूजन विधि–विधान से करना आवश्यक होता है। विधि–विधान मनुष्य को आत्मिक तुष्टि देते हैं, कि जो पूजा उसने की है उससे सम्बन्धित कामना अवश्य पूरी हो जायेगी। पूजा के विधि–विधान में कई बार विशेष वस्तु प्रयुक्त होती है। जैसे– आसमाई और ऋषि पंचमी का चित्रण पान के पत्ते पर किया जाता है। हरछठ में भैंस के दूध का दही एवं घी का प्रयोग अनिवार्य होता है। यह सभी बातें पूजा को विशेष बनाती है। कई बार पूजा में विशेष नियम भी होते हैं। जैसे– निर्जला व्रत, चंद्रमा को अर्घ्य देने के बाद व्रत तोड़ना आदि। विभिन्न देवी–देवताओं की पूजा करते समय भिन्न–भिन्न प्रसाद चढ़ाना भी नियम के अर्न्तगत आता है। कुछ पूजन अधिक समय या दिवस तक भी चलते हैं। उनके पारम्परिक विधानों को नियम पूर्वक करना प्रत्येक साधक के लिये आवश्यक होता है। जैसे – दीपावली का पूजन, नवरात्रि का आनुष्ठानिक पूजन आदि। अनुष्ठानों में कठोर नियमों के पालन से ही साधक की मनोकामना पूर्ण होती है, ऐसा विश्वास है।

लोक–चित्रों का स्वरूप और आवश्यकता

मनुष्य जिस ईश्वर की पूजा करता है उसके साकार रूप के दर्शन भी करना चाहता है। इस भावना में सहायक होती है, उसकी कलात्मक अभिरूचि जो भावनाओं को साकार रूप प्रदान करती है। सभी महिलायें चित्रकार तो होती नहीं है। वह अपनी परम्पराओं तथा सीमित साधनों में कल्पना के आधार पर पूज्य देवी–देवता को चित्रित करती है। प्राचीन काल में वर्तमान के समान छपाई का सुन्दर

कार्य नही होता था। स्त्रियां स्वयं ही अपने घर की भूमि–भित्ति पर मनचाहे आकारों को गढ़ती थीं। समाज में व्याप्त लोक चित्र–कला महिलाओं के गुण में सम्मिलित थी। यह शुभ चित्र घर में देवी–देवताओं के संरक्षण के प्रतीक माने जाते थे। घर की लिपी–पुती दीवारों पर यह चित्र वर्ष भर बने रहते थे, इस कारण स्त्रियां बहुत रूचि तथा सम्पूर्ण योग्यता से इन्हें सुन्दर बनाने का प्रयास करती थीं। पास–पड़ोस और सगे–सम्बन्धियों में सभी स्त्रियों में त्योहार पर गृह–सज्जा एवं लोक–चित्रण में प्रतियोगी भावना भी रहती थी। एक दूसरे की कला को देखने–परखने से समाज में उल्लास तथा प्रेम का वातावरण बना रहता था।

लोक चित्रण की विशेषतायें

1. महिलायें ही प्रमुख कलाकार होती हैं। यह उनके एकरस जीवन में नवीनता का संचार करते हैं।
2. यह अस्थायी होते हैं।
3. अवसर के अनुकूल चित्रणों में भिन्नता पाई जाती है। चित्रण की साज–सज्जा कल्पना व योग्यतानुसार की जाती है।
4. चित्र रचना के माध्यमों पर ऋतु परिवर्तन का प्रभाव भी पड़ता है।
5. पवित्र स्थान जैसे– पूजागृह की भूमि या भित्ति पर बनाये जाते हैं। सामान्य स्थान आंगन या घर के प्रमुख द्वार पर भूमि–चित्रण करने से पूर्व गोबर से स्थान लीपकर पवित्र किया जाता है।
6. चित्रण करते समय शारीरिक एवं मानसिक स्वच्छता का ध्यान रखा जाता है। व्रत धारिणी स्त्रियां स्नान आदि से निवृत होकर चित्रण करती है।
7. लोक–चित्रण करने वाली स्त्री को चित्रण की विधि, माध्यम, पूजन विधान तथा सम्बन्धित कथा का ज्ञान हाता है।
8. लोक–चित्रण में श्रद्धा तथा धैर्य होना अत्यंत आवश्यक है।
9. पूजा से पूर्व धार्मिक लोक–चित्रों को मिटाना मान्यताओं के विपरीत माना जाता है।
10. लोक–चित्रों को पूजा के बाद मिटाने की या सामग्री को 'सिराने' (विसर्जित करना) का भी निश्चित प्रावधान होता है।
11. अधिकांश चित्रों और पूजा से सम्बन्धित मूर्तियां तथा सामग्री को वर्ष पर्यन्त रखकर फिर विसर्जित किया जाता है।

12. लोक चित्रण सदैव चौकोर, आयताकार अथवा गोलाकार सीमारेखा के मध्य किया जाता है।
13. चित्रण में संख्याओं का ध्यान भी रखना अनिवार्य होता है। जैसे– सात, पांच या नौ पुतरियां, भुंजरिया के नौ दोने, सुराती के सोलह कोठा, सुरेता के नौ कोठा, छः भाईयों की एक बहन, देवरानी–जेठानी इत्यादि को चित्र कथानुसार संख्या में निश्चित होते है।
14. कुछ लोक चित्र एक दिन में पूर्ण नही हो पाते उन्हें निश्चित दिवस से कई दिन पहले से बनाया जाता है। किन्तु कुछ विशेष भाग छोड़ दिया जाता है जिसे पूजन वाले दिन ही बनाया जाता है जैसे – करवा चौथ, हरछठ, जन्माष्टमी, अहोई अष्टमी आदि।
15. कृत्रिम रंगों का प्रयोग पारम्परिक नही माना जाता है। रंगों को प्राकृतिक रूप से तैयार या प्राप्त किया जाता है। जैसे– हल्दी, महावर, सिंदूर, रोली तथा चंदन आदि।

लोक चित्रण, अवसर व कथायें

लोक चित्र अनेक प्रकार से बनाये जाते हैं किन्तु वर्णन की सुविधा से उन्हें तीन भागों में विभाजित करेंगें।

1) भूमि–चित्रण
2) भित्ति–चित्रण
3) अन्य वस्तुओं पर चित्रण

भूमि चित्रण

बुन्देलखण्ड के भूमि चित्रण में गोबर व मिट्टी का प्रयोग विशेष रूप से किया जाता है।

चौक पूरना

बुन्देलखण्ड के भूमि चित्रण में प्रत्येक शुभ अवसरों पर 'चौक–पूरना' अनिवार्य है। यह आटे या सूखे रंगों से बनाया जाता है। इसे 'चौक डालना' भी कहते है। चौक–पूरना में 'पूरना' शब्द पूर्णता का अपभ्रंश प्रतीत होता है जो 'चौक' अर्थात् आंगन या चारों दिशाओं की पूर्णता का भाव प्रगट करता है। यह चौक नित्यव्रत, नैमित्तिक व्रत–त्योहार तथा सोलह–संस्कारों के प्रत्येक चरण पर बनाये जाते हैं। सभी परिवारों में पारम्परिक चौकों को बनाना शुभ माना जाता है। 'चौक' का चित्रांकन, बनाने वाली स्त्री की कल्पना शक्ति तथा कलात्मकता का घोतक होता है। संस्कारों के समय चौक घर की वरिष्ठ महिला या 'खबासिन' (नाई की पत्नि) डालती है। मृत्यु संस्कार के पश्चात् शव के जाने के बाद रिक्त स्थान पर गोबर से लीपकर चौक पूरी जाती है। चौक कई आकारों की होती है – जैसे चर्तुभुजी, छः या सात

कोणीय, फूलदार चौक, अष्टकोणीय और नौ ग्रहों की प्रतीक 'नौ खंडीय' चौक आदि। चौक चक्राकार या गोलाकार भी होती है। चौक बनाने में शुभ चिन्हों का प्रयोग अवश्य होता है। कलश, स्वास्तिक, आड़ी, सीधी व गोलाकार रेखाओं का प्रयोग होता है। पितृपक्ष में भी घर के मुख्य द्वार पर प्रतिदिन 'उरैन' (गोबर से लीपकर) डालने की परम्परा है। उस पर चौक भी बनाया जाता है, उस चौक में पितृों के चरण बनाये जाते हैं। इसी प्रकार देवठान और दीपावली की चौक में प्रभु चरण बनाये जाते हैं। होली पर रंगों से चौक बनाने की परम्परा है। 'चौक' बनाने की प्रक्रिया में 'चुटकी' (अंगूठे और तर्जनी उंगली की पकड़) की महत्वपूर्ण भूमिका होती है। लकीरे सरलता से खींची जाती है। यह मुक्त हस्त कला है। इसका आधार केवल स्मृति होती है। महिलायें अपनी स्मृति के आधार पर ही विभिन्न प्रकार के चौक बनाती है। कभी–कभी नवीनता देने के लिये कल्पना का सहारा भी लेती है। जिससे चौक की सुन्दरता बढ़ जाती है। कुछ पूजा ऐसी भी होती है, जिसका चौक पारम्परिक होता है। उसमें फेर–बदल की सम्भावना नही होती है। उन्हें पारिवारिक और सामाजिक नियमानुसार ही बनाया जाता है। विवाह के अवसर पर बनने वाली चौक मंडप के नीचे पंडित बनाता है।
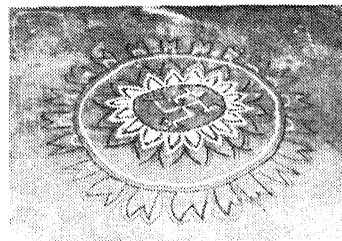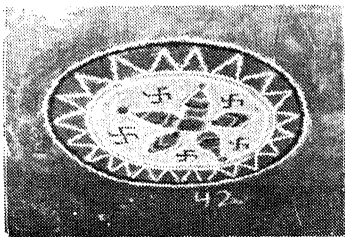
चौक पूरना
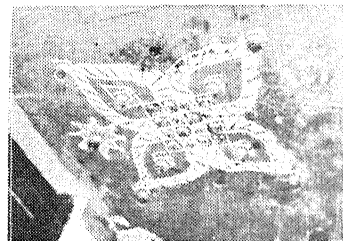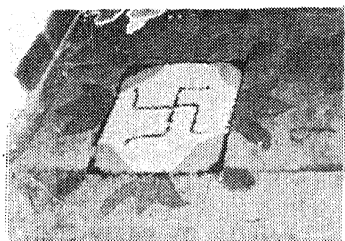
उरैन

"उरैन" का शाब्दिक अर्थ है उर (ह्रदय) मे रैन (रहना) अर्थात हदय में रहना। प्रातःकाल घर के मुख्य द्वार की भूमि को गोबर और थोड़ी मिट्टी मिलाकर लीपते हैं यह लिपाई चौकोर आकार में करते हैं। उंगलियों के पोरों की सहायता से उस चौकोर आकार के चारों कोनों को थोड़ा सा बाहर निकाल

देते हैं। महिलायें सुन्दरता की दृष्टि से कभी–कभी उरैन के चारो ओर गोबर से ही गोलाकार या आड़ी तिरछी रेखाओं से सुसज्जित कर देती हैं। उस लीपे हुये स्थान पर आटे या सूखे रंगों से चौक बनाये जाते हैं। श्राद्ध पक्ष या पितृपक्ष में प्रतिदिन उरैन डालना आवश्यक होता है। इसके पीछे यह भावना रहती है कि क्वांर मास कृष्ण पक्ष में स्वर्ग से पितृों का आगमन पृथ्वी लोक पर होता है। उनके लिये यह उरैन स्वागत का प्रतीक माना जाता है। पितृ पक्ष में बनाये गये उरैन में, पितृ आगमन के प्रतीक 'चरण–चिन्ह' बनाने की परम्परा है। बुन्देलखण्ड में पितृ पक्ष को 'कनागत' (कर्णागत) भी कहा जाता है। कर्णागत अर्थात कर्ण का आना या कर्ण आये। इसी सम्बंध में कथा भी प्रचलित है।

कथा

कुन्ती ने क्वांरेपन में सूर्य द्वारा एक पुत्र को जन्म दिया था जिसके शरीर पर स्वर्ण का कवच एवं कानों में कुण्डल थे। कुन्ती उस समय कौंतार–चेदि प्रदेश में थी उन्होंने पुत्र को सांसारिक लाज–वश नदी में बहा दिया। कालान्तर में वही पुत्र दानवीर कर्ण के नाम से विख्यात हुआ। वह प्रतिदिन पूजन के बाद स्वर्णदान किया करते थे। महाभारत युद्ध में वे कौरवों के सेनापति बने। कुन्ती ने अपने पांडव पुत्रों में से प्रिय अर्जुन के प्राणों की रक्षा हेतु कर्ण से वचन लिया। जिसका पालन करते हुए रणभूमि में कर्ण की मृत्यु हो गईं मृत्यु से पूर्व उसने अपने दान देने की परम्परा बनाये रखते हुए अपने दांतो में लगे स्वर्ण को भी दान कर दिया। मृत्यु के बाद जब वे देव लोक गये वहाँ उन्हें भोजन के स्थान पर स्वर्ण खाने को दिया गया। उन्होंने जब अन्न मांगा तो उनसे कहा गया कि "पृथ्वी लोक पर तुमने केवल स्वर्ण ही दान किया है इस कारण तुम्हें स्वर्ण ही यहाँ मिलेगा। यदि अन्न दान करते तो अन्न प्राप्त करने के अधिकारी होते।" यह जानकर कर्ण ने ईश्वर की कृपा से क्वांर मास के पितृपक्ष में पुनः पृथ्वी पर आकर पन्द्रह दिनों तक अन्न दान दिया जिससे उन्हें स्वर्ग लोक में समस्त सुखों की प्राप्ति हुई।

इसी कथा के आधार पर 'कनागत' में दान–कर्म करने की परम्परा है। प्रत्येक परिवार में पितृों की स्मृति में मृत्यु की तिथि पर ब्राम्हण को भोजन कराने की परम्परा है। मनुष्य के साथ गाय और कुत्ते को भी ग्रास दिया जाता है तथा कौए को आवाज देकर 'कागौर' देते हैं। अर्थात इन दिनों पितृों की आत्मा की शान्ति हेतु दान–पुण्य किया जाता है। पशु–पक्षियों में पितृ रूप मानकर भोजन कराते हैं। यह 'करयै' अर्थात 'कड़वे' दिन कहलाते हैं। इन दिनों शुभ कार्य आदि नहीं किये जाते बल्कि विवाहादि की चर्चा, सम्बंध तय करना भी निषेध है।

'उरैन' मांगलिक अवसरों पर भी डाले जाते हैं, किन्तु उस समय पितृों के चरण नहीं बनाये जाते हैं।
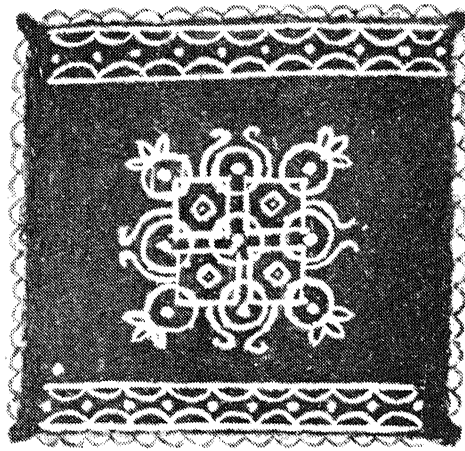
उरैन

पितृपक्ष में उरैन

देवोत्थान एकादशी

इसे बुन्देलखण्ड में 'देवठान' के नाम जाना जाता है। एकादशी व्रत धार्मिक रूप से अत्यन्त महत्वपूर्ण और फलदायक माना जाता है। एकादशी व्रत की महिमा स्कन्द पुराण, मारकन्डेय पुराण तथा पद्म पुराण में वर्णित है। महाभारत में भी कहा गया है कि – एकादशी व्रत सभी इच्छित मनोकामनाओं

को पूर्ण करने वाला व्रत होता है। इस व्रत के नियम भी होते हैं। वैसे तो एकादशी व्रत निर्जला रहना शुभ माना जाता है किन्तु यदि न रह सके तो फलाहार के साथ भी रहा जा सकता है। 'देवठान' एकादशी का महात्म्य सर्वाधिक माना गया है। इसे प्रबोधनी एकादशी के नाम से जाना जाता है क्योंकि इस दिन को भगवान विष्णु का देवशयनी एकादशी के पश्चात सोकर उठने का 'जागरण काल' माना गया है। इसके सम्बंध में यह कथा है कि – विष्णु भगवान देवशयनी एकादशी पर पाताल लोक में विश्राम हेतु चले जाते हैं। इस बीच वे सांसारिक व्यक्तियों की पूजा स्वीकार नहीं करते हैं। किन्तु 'देवठान एकादशी' पर जब पाताल पुरी से वापस आते हैं, तब पूजा स्वीकार करते हैं।

कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष ग्यारस को 'देवठान एकादशी' मनाई जाती है। इस दिन आँगन की भूमि को गोबर से लीप कर उस पर गेरू, चूने या आटे से चतुर्भुजी चौक पूरी जाती है। उसके मध्य में प्रभु चरण बनाये जाते हैं। उस निश्चित आकार की चौक को महिलायें इच्छानुसार कलात्मक रूप से जितना बढ़ाना चाहती हैं बढ़ा देती हैं। घर के मुख्य द्वार की ड्योढ़ी, अन्य कमरों तथा पूजागृह की ड्योढ़ी पर भी अनेक कलात्मक भूमि चित्रण किये जाते हैं। इनका अर्थ सामान्य रूप से यही माना जाता है कि भगवान घर के प्रत्येक स्थान पर शुभागमन करें। कहीं–कहीं पूजागृह से चौक तक प्रभु चरण बनाये जाते हैं। देवठान का पूजन सांध्य बेला के पश्चात किया जाता है। चौक के ऊपर गन्ने का मंडप बनाया जाता है। आंगन में बनी चौक पर पूजागृह से भगवान लाकर बिठाये जाते हैं। भगवान को नवीन वस्त्र धारण कराके परिवार के सभी सदस्य क्रम से इसकी पूजा करते हैं। नवीन फसल के गन्ने, भाजी, मूँग की कौंसे (फलियाँ), बेर, शकरकन्द, सिंघाड़ा, कचरियाँ इत्यादि चढ़ाये जाते हैं। भगवान के नये बिस्तर (गद्दा, तकिया, रजाई) ऋतु अनुकूल बनाकर समर्पित किये जाते हैं। सर्दी का आगमन होने पर ईश्वर को प्रथम समर्पित कर इन वस्तुओं का उपभोग हम करें इसी भावना से पूजन किया जाता है। पूजन के पश्चात चौक की परिक्रमा देने की परम्परा है। परिवार के वरिष्ठ जन भगवान का सिंहासन या पटा उठा कर झूले के समान झुलाते हैं और कहते हैं –

"उठो देव, उठो देव क्वाँरन के
ब्याव होंय, ब्याहतनके चलाय हौय।"

देवठान से शुभ दिन प्रारम्भ, माने जाते हैं। घर में विवाह, चलाव (गौना) आदि शुभ कार्यक्रम प्रारम्भ होने लेगते हैं। इस सम्बंध में यह भी लोक–विश्वास है कि जिनका विवाह नही हो रहा हो, वे दूसरे दिन प्रातःकाल इस चौक पर मौन धारण कर बैठ जायें तो उनका विवाह शीघ्र हो जाता है। छोटे बच्चों को चौक पर चलाया जाता है जिससे ऐसा विश्वास है कि बच्चों के पैरों में मजबूती आती है उनका स्वास्थ्य अच्छा रहता है। पुत्र प्राप्ति हेतु भी देवठान एकादशी का व्रत व पूजन करना चाहिये ऐसी आम धारणा है।

पुराणों में कहा गया है कि 'पाप रूपी घास—फूस को नष्ट करने के लिये एकादशी महात्म्य है।' इसी भाव से जलती घास को पहले भगवान के आसन के चारों ओर फिराते हैं तत्पश्चात उसी जलती घास को अपने तथा परिवारीजनों पर फिराया जाता है। घास का 'पूला' (गट्ठा) फेरते समय कहते जाते हैं –

औध नई, बोध नई तेली कौ तेल नऔ
छिपी की सूज नई, नाऊ की मसाल नई
नौंनी–नौनी सबई भईं दाद जाय खाज जाय

अर्थात, शुभ कार्यों हेतु वर्ष नया और बुद्धि नई हो। तेली के यहाँ नया तेल हो, दर्जी की सुई नई हो नाऊ की मशाल नई हो। शरीर की व्याधियाँ दाद—खाज नष्ट हो जिससे शरीर स्वस्थ हो।

देवठान की पूजा परिवार के मंगल तथा स्वास्थ्य कामना से की जाती है। जिसके यहाँ पूजा में गन्ने या ईख की खेती होती है, वे इस दिन खेतों मे जाकर गन्ने की पूजा करते हैं। इस दिन गन्ने चूसना आवश्यक समझा जाता है। वर्तमान में दाँतों की मजबूती और स्वच्छता हेतु गन्ना चूसने को महत्व देते हैं। लोग प्रातःकाल अपने पशुओं को गेरु आदि से दीपकों के ठप्पे से सजाते हैं। रस्सियाँ बदलते हैं सींग रंगते हैं।

पूरे वर्ष भर प्रत्येक माह में 2 एकादशी पड़ती हैं। बुन्देली में इन्हें 'ग्यारस' (ग्यारहवीं तिथि) कहा जाता है। किन्तु 'देवठान ग्यारस' का महत्व इन सबसे विशेष है। शेष एकादशियाँ – भीमसेनी, योगिनी, देवशयनी, कामिका, पुत्रदा, अजिता, वावन या परिवर्तनी, इन्दिरा, पापाकुशा, रमा, वैतरणी, मोक्षदा, सफला, षटतिला, जया, विजया, आमलकी, पाप मोचनी, कामदा, बरूथनी, मोहिनी, पदमश्री व परमा हैं।

'देवठान पर किया गया भूमि चित्रांकन तथा घरों में पूजन विधान विशेष होता है।

देवठान

गोधन

गोधन अर्थात 'गो–धन' या 'गौ–वर्धन' यह बुन्देली संस्कृति में अत्यन्त महत्वपूर्ण चित्रांकन है। इसके शाब्दिक अर्थ के अनुसार गाय धन के समान होती है अर्थात गायों (पशुओं) की संख्या बढ़े इस भाव से पूजन होता है।

दीपावली के दूसरे दिन कार्तिक शुक्ल प्रतिपदा को गोधन की पूजा की जाती है। वैसे तो इस त्योहार का पौराणिक महत्व ब्रज से सम्बंधित है, किन्तु बुन्देलखण्ड कृषि प्रधान तथा पशुपालन क्षेत्र होने के कारण इसका महत्व यहाँ भी समान रूप से स्वीकार्य है।

कृषि कार्य सदैव वर्षा पर आधारित रहता हैं इसी भावना से श्री कृष्ण के अवतरण के समय तक भगवान इन्द्र जोकि वर्षा के देवता माने जाते हैं, उनकी पूजा का विधान था। इन्द्र को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ कराये जाते थे। उस समय गौ बलि देने का प्रावधान भी था। श्री कृष्ण ने गौ–बलि की इस पाशविक कृत्य को समाप्त किया।

इस सम्बंध में कथा प्रचलित है – एक बार श्री कृष्ण ने सम्पूर्ण ब्रज को पूजा तथा यज्ञ की तैयारी करते देखा। उन्होंने पूछा तब पता चला कि वे वर्षा के देवता भगवान इन्द्र को प्रसन्न करने हेतु यज्ञ व पूजन करने की तैयारी कर रहे हैं। यज्ञ में गौ–बलि भी दी जाती है, यह जानकर श्री कृष्ण ने पूजन रूकवा दिया। इससे क्रुद्ध होकर इन्द्र ने अति–वृष्टि की जिससे सम्पूर्ण ब्रज त्राहि–त्राहि करने लगा। सब श्री कृष्ण से सहायता की गुहार करने लगे। श्री कृष्ण ने गोवर्धन पर्वत को अपनी कनिष्ठ उंगली पर उठाकर छतरी समान बना दिया जिसके नीचे सम्पूर्ण ब्रजवासियों, पशुओं आदि ने शरण ली। तब से ब्रज में गोवर्धन पर्वत की महत्ता बढ़ गईं ब्रजवासी इन्द्र की पूजा छोड़कर गोवर्धन पर्वत की पूजा करने लगे। गाय का वध करना समाप्त हुआ उसे भी पूज्य माना जाने लगा।

कालान्तर में पर्वत व श्री कृष्ण के प्रतीकात्मक चित्र की गोबर द्वारा रचना कर पूजा की जाने लगी। बुन्देलखण्ड में भूमि को गोबर से लीपकर उस पर गोबर की सहायता से चौकोर आकार में हल्की उभरी चार–दीवारी बना लेते हैं नीचे की ओर 'द्वार' बना देते हैं। उस चौखानें में कृष्ण–बलराम की एकाकार आकृति बनाई जाती है। एकाकार से तात्पर्य यह है कि एक धड़, दो सिर, दो हाथ तथा दो पैर बनाते हैं। आकृति के पेट में एक गड्ढा बनाया जाता है। आकृति के ऊपर वाले भाग में गोवर्धन पर्वत बनाते हैं। आस–पास गाय–बछड़े तथा बरेदी (गाय चराने वाला) दूध–दही बेचने वाली आदि बनाते हैं। चौखाने के चारों कोनों में अर्धवृत्ताकार सीमा रेखायें बनाकर 'कोठे' बना दिये जाते हैं। कुछ लोग कृष्ण बलराम के दो पुतले अलग–अलग या केवल कृष्ण का पुतला ही बनाते हैं। किन्तु एकाकार आकृति अधिक बनाई जाती है। पूजन विधान में चारों कोठों में खील, लाई, बताशा तथा अनाज भर दिया

जाता है। तत्पश्चात् दूध–चावल या खीर बनाकर प्रसाद स्वरूप कृष्ण–बलराम की एकाकार आकृति के पेट में बने गड़ढे में भर देते हैं। कहीं–कहीं कढ़ी–चावल भरने का रिवाज भी है। घर के पुरूष यह पूजा करते हैं। गोधन के चारों ओर पाँच या सात गगरी रखी जाती है जो कलश कहलाती है। उन कलशों में पकवान डाल दिये जाते हैं पूजा में मथानी भी रखी जाती है। सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में यह पूजा होती है, किन्तु चित्रण या पूजन विधान में थोड़ी भिन्नता प्राप्त होती है। भिन्नता होने पर भी भाव एक समान होते हैं। कार्तिक प्रतिपदा को दिवारी नृत्य भी किया जाता है। अहीर जाति के युवक ही यह नृत्य करते हैं। वे कमर में फुँदनादार बंडी तथा रंग–बिरंगे जांघिया पहनते हैं। प्रमुख नर्तक हाथ में मोर पंख के 'मूठ' (गड्डी) लेकर नृत्य करते हैं। वे कमर में झेला (घुघरूं) बांधते हैं।

गोधन

दौज

इसे 'भाई दौज' या 'भैया दूज' के नाम से जाना जाता है। चैत्रमास में कृष्णपक्ष द्वितीय को तथा कार्तिक मास में शुक्ल पक्ष की द्वितीया को 'दौज' गोबर से बनाई जातीं है। यह घर के मुख्य द्वार के दोनों ओर बनाई जाती है। सर्वप्रथम गोबर की चपटी गोलाकार आकृति बनाई जाती है, इसे धनात्मक चिन्ह द्वारा चार भागों में विभाजित कर दिया जाता है। बीच में जहाँ दोनों रेखायें मिलती हैं वहाँ देवी आकृति बनाते हैं, जिसे 'दौज माई' कहते हैं। विभाजक रेखा की समाप्ति पर कुंड बनाये जाते हैं।

विभाजक रेखाओं के बीच खाली स्थान पर समृद्ध गाँव का दृश्य योग्यता एवं कल्पना के आधार पर बनाते हैं। जिसमें दूध बिलोती देवरानी–जेठानी, भोजन बनाने तथा धान कूटने आदि का दृश्य, ग्वाले, पशु, पर्वत आदि बनाये जाते हैं।

पूजन करते समय चारों 'कूड़ों' में दूध भरकर ढक्कन से बंद कर देते हैं। यह चारों दिशाओं की समृद्धि प्रदर्शित करते हैं। मध्य में निर्मित 'दौज माई' की पूजा करने के बाद बहनें अपने भाइयों को टीका करती हैं। इस पूजन का मुख्य उद्देश्य बहन द्वारा भाई की रक्षा व दीर्घायु होने की मंगल कामना करना होता है। दौज पूजन के बाद बहनें द्वार पर रूई की बनी 'आसें' भी लगाती हैं यह भाई की दीर्घायु कामना या उम्र जोड़ना कहलाती है। इसके लिये रूई की एक लम्बी माला बनाई जाती है जिसे हल्दी और पानी की सहायता से बीच–बीच में दबाते चले जाते हैं। इस कारण रूई के सफेद 'गुरिया' (मोती) जैसे दिखने लगते हैं। भटकटैया के काँटेदार पत्तों को मूसल से कुचल कर बहनें कहती हैं–

जो कोऊ बुरई नजर से भैया को देखे,
ऊ की आँखें फूटैं, जो कोऊ गारी देवै,
ऊ कौ मौ बरे, ऊ कौ मौ दौजे–दौजे।

सरल शब्दों में बहन द्वारा भाई के निष्कंटक जीवन की यह मंगल कामना होती है। ऐसा लोक–विश्वास है कि 'दौज' के दिन भाई को अपनी बहन के हाथों का बना भोजन अवश्य करना चाहिये इससे भाई का मंगल होता है। जो भाई बहन के यहाँ भोजन नहीं करता है उसके वर्ष भर के सुकृत नष्ट हो जाते हैं। इसी प्रकार जो बहन दौज का पूजन नहीं करती वह सात जन्म तक भाई के बिना रह जाती है। यह बहन द्वारा भाई का रक्षा कवच होता है।

दीपावली के बाद आने वाली दौज को 'यम द्वितीया' के नाम से भी जाना जाता है। सम्बंधित कथानुसार – भगवान सूर्य की पुत्री यमुना और यमराज भाई बहन थे। यमराज यमुना के यहाँ कभी नहीं जाते थे। यमुना उन्हें हमेशा बुलाती थीं। एक बार बहुत आग्रह के बाद यमराज कार्तिक मास की शुक्ल पक्ष की द्वितीया पर यमुना के घर गये। यमुना ने स्वागत कर उनका टीका किया और प्रेम पूर्वक भोजन कराया। बहन का प्रेम देखकर यमराज बहुत प्रसन्न हुए। उन्होंने बहन के मांगने पर वचन दिया कि जो भाई इस दिन अपनी बहन के घर जायेगा और टीका कराके भोजन करेगा मैं उसे मृत्यु से मुक्त कर दूंगा। इसी कथा के कारण समाज में भाई दूज मनाने की परम्परा सदियों से चली आ रही है। बुन्देलखण्ड के कुछ भागों में उपरोक्त कथा को थोड़ा सा परिवर्तित करके भी कहा जाता है कि यमराज को क्षयरोग हो गया तो वे अपनी बहन यमुना के पास गये जब बहन ने भोजन कराया तब उनका रोग ठीक हुआ। इस कथा संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि यमुना नदी बुन्देलखण्ड क्षेत्र में प्रवाहित होती है।

लोक जीवन में 'दौज' की एक कहानी भी बहु–प्रचलित है, जो इस प्रकार है – एक भाई अपनी बहन के यहाँ 'दूज' का टीका करवाने गया। बहन ने आदर पूर्वक भाई को भोजन कराया टीका कर लड्डू देकर विदा किया। भाई के जाने के बाद उसने एक लड्डू कुत्ते को दिया। लड्डू खाकर कुत्ता मर गया। बहिन ने भाग कर भाई का पीछा किया। उसने देखा मार्ग में एक पेड़ के नीचे भाई सो रहा है और लड्डू की पोटली पेड़ पर लटकी है। बहन वहीं बैठकर भाई के जागने की प्रतीक्षा करने लगी। इसी बीच उसने पेड़ पर बैठे पक्षियों की बात सुनी वे कह रहे थे कि यह लड़का अपनी बहन का बहुत लाडला है लेकिन विवाह के समय आने वाली आपदाओं से इसकी मृत्यु हो जायेगी। दूसरे पक्षी ने बचने का उपाय पूछा तब पहले पक्षी ने कहा– यदि लड़के की आपदा कोई बिना कारण बताये नष्ट करता जाये तो यह बच सकता है। विपत्तियाँ कौन–कौन सी होंगी और बचाव क्या है यह सब बहन ने सुन लिया। यह सुनकर वह बहुत दुखी हुईं उसने मन ही मन उपाय सोचा और बांवरी होने का अभिनय करने लगी। अपने भाई को गालियाँ देने लगी। उसी के साथ–साथ घर तक गईं जब भाई का विवाह होने वाला था तब वह बारात में 'बिजुरिया खांडौ' (तेज धारदार शस्त्र) लेकर साथ गईं नदी पार करते समय बहन ने मगरमच्छ को मारकर भाई की जान बचाईं विवाह के समय सभी नेग–चार में बहन पहले जाकर खड़ी हो जाती थी जिससे टीके के समय मुख्य द्वार का गिरना, फेरों के समय मंडप का गिरना इत्यादि आपदायें टल गईं। जब बारात घर लौट कर आई तब बहन ने सुहागरात को भाई–भाभी के साथ सोने की जिद की। भाई स्नेहवश मान गया रात्रि में एक भयंकर काला नाग भाई को डसने आया। बहन ने उसे बिजुरिया खांडौ से मार दिया। प्रातःकाल बहन सामान्य व्यवहार करने लगी। सबने कारण पूछा तब बहन ने पक्षियों की बातें बता दीं। सभी ने बहन के प्रेम की प्रशंसा की। इस दिन कायस्थ परिवारों में चित्रगुप्त की पूजा का विधान भी है। कलम दवात को भी दौज पूजा में रखा जाता है।
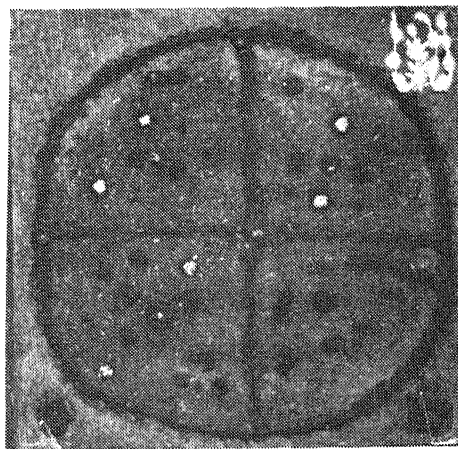
भाई दौज

दसैरा

'दशहरा' का त्यौहार आश्विन शुक्ल पक्ष की दशमी को मनाया जाता है। इस दिन भगवान श्रीराम ने लंका के राजा रावण का वध कर विजय प्राप्त की थी इस कारण इसे 'विजय दशमी' भी कहा जाता है। 'ज्योति निर्बन्ध' में लिखा है कि आश्विन शुक्ल दशमी को तारा उदय होने के समय 'विजय' नामक काल होता है। विजयदशमी या दशहरा से सम्बंधित अनेक पौराणिक एवं ऐतिहासिक कथायें तथा प्रसंग हैं। जो दशहरा महात्म्य को उद्घाटित करती हैं। मार्कण्डेय पुराण के अनुसार–

प्राचीन काल में देवताओं और असुरों में कई वर्षों तक युद्ध हुआ। असुरों का राजा महिषासुर बड़ा अत्याचारी था। उसे तपस्या करने से यह वरदान मिला था कि उसे कोई पुरूष नहीं मार सकता। ब्रह्मा ने अन्य देवताओं के कहने पर माँ दुर्गा से प्रार्थना की तब दुर्गा जी ने काली का रौद्र रूप धारण किया। उन्होंने महिषासुर से नौ दिन तक युद्ध किया। आश्विन शुक्ल दशमी को देवी दुर्गा ने महिषासुर का वध किया जिससे महिषासुरमर्दिनी कहलाईं। इस कथा के अनुसार प्रतिपदा से नवमीं तक दुर्गा की प्रतिमा का पूजन किया जाता है। दशमीं को दुर्गा की प्रतिमा का विसर्जन बड़ी धूम–धाम से करते हैं।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र रामायण और महाभारत काल की घटनाओं का साक्षी रहा है । रामायण कालीन कथानुसार– भगवान श्री राम ने रावण पर विजय प्राप्त करने के लिये नौ दिनों तक दुर्गा के शक्ति स्वरूप की उपासना की। श्री राम ने पूजन में एक सौ आठ पद्म पुष्पों को अर्पित करने का संकल्प लिया था। माँ दुर्गा ने परीक्षा लेने के लिये एक पुष्प अदृश्य कर दिया। श्री राम ने संकल्प पूर्ण करने के उद्देश्य से अपने कमल समान नेत्र को अर्पित करने का निश्चय किया। जैसे ही उन्होंने नेत्र निकालने का प्रयत्न किया उसी समय माँ दुर्गा ने प्रगट होकर श्रीराम को ऐसा करने से रोका और रावण वध का आर्शीवाद दिया। दशमी को राम ने माँ शक्ति की प्रतिमा का पूजन कर विसर्जन किया। तत्पश्चात् रावण से युद्ध कर उसका वध किया।

दशहरा पाप का अन्त करने, असत्य पर सत्य की विजय के संदर्भ में महत्वपूर्ण है। क्षत्रियों में दशहरा 'विजय पर्व' के रूप में मनाया जाता है, क्योंकि श्रीराम ने इसी नक्षत्र में लंका पर चढ़ाई करके विजय प्राप्त की थी।

दशहरे पर शमी वृक्ष की पूजा करना भी शुभ माना जाता है। महाभारत कालीन घटना के अनुसार जब दुर्योधन ने पांडवों को जुए में हरा दिया और यह शर्त रखी कि वे बारह वर्ष वनवास में रहें और एक वर्ष अज्ञातवास में बिताएं। अज्ञातवास में पहचाने जाने पर उन्हें पुनः वनवास भोगना पड़ेगा। अज्ञातवास काल में अर्जुन ने अपना 'गांडीव' तथा शस्त्र एक शमी वृक्ष में छुपा दिये और स्वयं वृहन्नला रूप में राजा विराट के यहाँ रहे। राजा विराट के पुत्र कुमार के साथ जब अर्जुन गौओं की रक्षा

के लिये वन में गये, तब शमी वृक्ष से अपना धनुष बाण लेकर शत्रुओं का नाश किया। शमी वृक्ष ने अर्जुन के शस्त्रों की रक्षा की इस कारण पूजनीय हो गया। इसी प्रकार श्री राम के लंका विजय हेतु प्रस्थान करते समय शमी वृक्ष ने राम की विजय कामना की थी। सम्बंधित कथाओं में युद्ध वर्णन के कारण दशहरे का महत्व क्षत्रियों के लिये अधिक बढ़ गया।

बुन्देलखण्ड में दशहरे का अलग महत्व है। यहाँ कृषि कार्यों की प्रधानता है। इसी के साथ ईश्वर को स्मरण कर सभी कार्य प्रारम्भ किये जाते हैं। इसी श्रृंखला में 'गोबर' पाथने' (कंडा बनाने) का क्रम दशहरे से ही प्रारम्भ किया जाता है। इस कारण विशेषतया ग्रामीण क्षेत्रों में दशहरे के दिन घरों में आँगन की भूमि लीप कर उस पर आटे से चौक पूरी जाती है। उस चौक पर गोबर की दस टिकियाँ रखी जाती हैं, जिन्हें 'दसरैंया' कहते हैं। उन दसरैयों की पूजा काशीफल या तुरई के फूल, 'ऐपन' (हल्दी और चावल का पिसा मिश्रण) तथा अन्य पूजन सामग्रियों से 'दसरैयाँ' पूजी जाती हैं यह पूजन गोबर की उपयोगिता एवं गुणों का आदर प्रदर्शित करता है।

दशहरे पर शमी वृक्ष की पत्तियाँ बांटी जाती हैं। प्रातःकाल 'सोन' (मछली) देखना तथा नीलकण्ठ का दर्शन शुभ माना जाता है। 'दसरये को पान' खिलाकर आपस में प्रेम बढ़ाने की परम्परा है। अनेक स्थानों पर मेले भी लगते हैं।
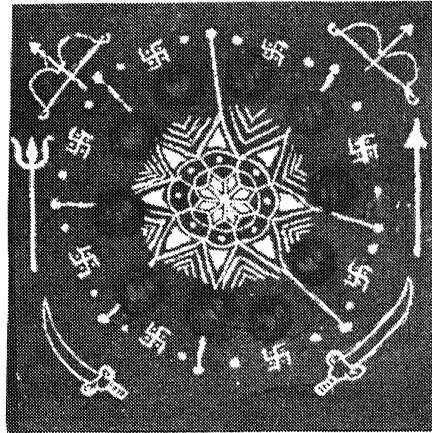
दसरैयां

नौरता

बुन्देलखण्ड में क्वांरी कन्याओं द्वारा नवरात्रि में 'नौरता' खेलने की परम्परा है। नौरता का शाब्दिक अर्थ है नौ रातें या नवरात्रि। 'नौरता' बुन्देलखण्ड का लोकोत्सव है यह सुआटा, झिंझिंया, टेसू तथा झिंझिंया टेसू का विवाह चार भागों में खेला जाता है। इस लोकोत्सव में लड़के-लड़कियां सभी भाग लेते हैं। सुआटा भित्ति चित्रण है इस कारण उसका विस्तृत विवरण आगे किया जायेगा। 'सुआटा' के समक्ष प्रतिदिन कन्यायें रंगीन अल्पनायें या चौक बनाती हैं जो भूमि चित्रण होते हैं। भूमि पर बनाई गई यह अल्पनायें बालिकाओं

की कलात्मक प्रतिभा की परिचायक होती है। इन भूमि चित्रणों की विशेषता यह होती है कि उसमें प्रयुक्त रंग भी बालिकायें स्वयं तैयार करती हैं। गहरा लाल रंग गेरू से तथा भूरा लाल खपरैल पीस कर तैयार किया जाता है। इसी प्रकार दूधिया पत्थर को घिस कर सफेद रंग बनाती है। ईंट से हल्का लाल, हरी पत्तियों को सुखाकर पीसकर तथा छानकर हरा रंग तैयार किया जाता है।

इस प्रकार लगभग सभी रंग प्रकृति से तैयार किये जाते हैं। इन अल्पनाओं की विशेषता यह होती है कि प्रत्येक बालिका प्रतिदिन नवीन आकृति एवं संयोजन प्रस्तुत करने का प्रयत्न करती है। इस प्रकार वे आगामी जीवन में कला की अभिव्यक्ति के महत्व को समझती हैं। खेल की भावना से वे अनेक चौक बनाती हैं। जिसके माध्यम से उनमें कलात्मक अभिरूचि जागृत होती है। चौक बनाने के लिये गाँव में किसी के घर के सामने का चबूतरा चुना जाता है वहीं भित्ति पर सुआटा बनता है। बालिकायें गोबर से लिपे चबूतरे को चूने की 'ढिक' (मोटी लकीरें) देकर अनेक भागों में विभाजित कर लेती हैं तत्पश्चात एक–एक भाग प्रत्येक बालिका का निश्चित क्षेत्र हो जात है। उसमें वे प्रतिदिन प्रातःकाल स्नान कर चौक या अल्पना बनाती हैं। यह आपसी प्रतिस्पर्द्धा भी होती है कि अधिक सुन्दर अल्पना कौन बनायेगी। ग्रामीण क्षेत्रों में यह लोकोत्सव बहुत उत्साह से मनाया जाता है। यहाँ अवसर पर बनाई जाने वाली कुछ अल्पनायें प्रस्तुत हैं।
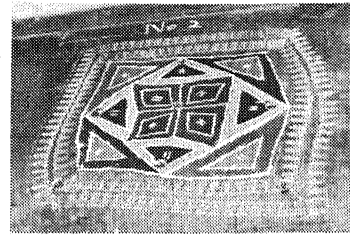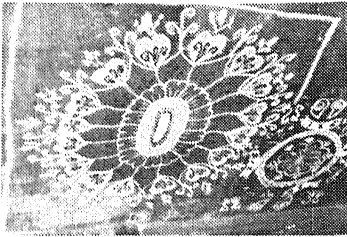
नौरता
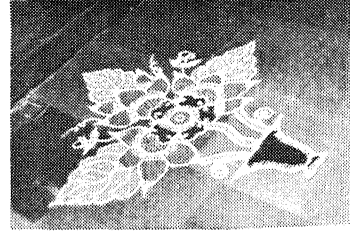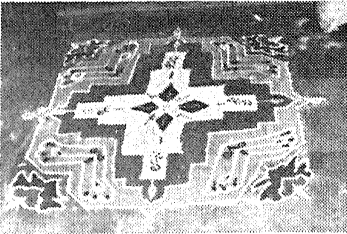
भूमि चित्रण अन्य कई अवसरों पर भी किया जाता है। अक्षय तृतीया या 'अक्ती' बैशाख शुक्ल तृतीया पर भूमि की लिपाई कर चौक पूरी जाती है। मध्य में कलश तथा चार छोटी मटकियाँ रखते हैं। जिनमें क्रमशः आषाढ़, सावन, भादों एवं क्वांर महीनों के नाम भी लिखे जाते हैं। उनका सम्बंध वर्षा की स्थिति से होता है। मटकियों के चने के दाने प्रत्येक मटकी में भिगोते हैं । उन पर ढक्कन लगाकर मौसमी फल आम, ककड़ी तथा गर्मी के मौसम के पंखा, सत्तू आदि भी पूजा में रखे जाते हैं। पूजन के दूसरे दिन भीगे चने प्रत्येक मटकी से निकाल कर देखते हैं। जन–मानस में ऐसा विश्वास है कि जिस इंगित मास की मटकी के चने फूलेंगे उस मास अच्छी वर्षा तथा जिस मटकी के चने नहीं फूले उस मास सूखा या निम्न वर्षा स्थिति रहेगी। यह लोक–विश्वास पर आधारित वर्षा अनुमान है जो कृषि सम्बंधी

कार्यों में सहायक माना जाता है। यह देवताओं द्वारा बताई गई वर्षा की स्थिति समझी जाती है। इस दिन कन्यायें कपड़े से बने पुतरा–पुतरियों (गुड्डा–गुड़ियों) का विवाह भी करती हैं।
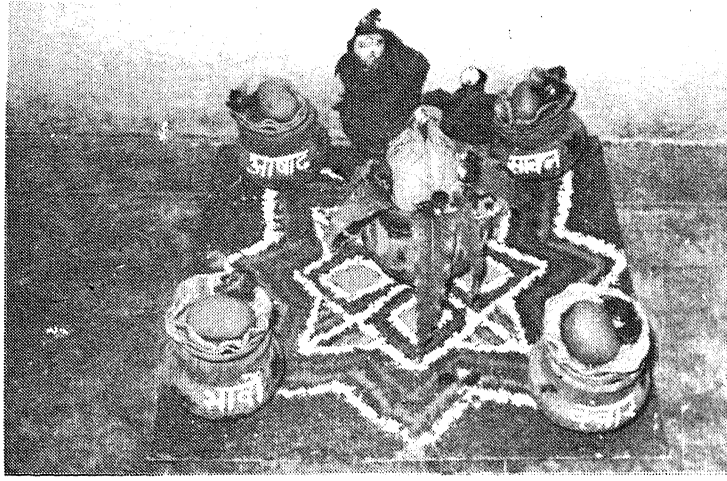
अक्ती

इसी प्रकार हरायतें भी अक्ती के दिन कृषि पर्व के रूप में मनाया जाता है यह पृथ्वी तत्वों का आवाहन होता है। बैशाख वदी अमावस्या के बाद सूर्य की स्थिति व शुभ नक्षत्रों के आधार पर किसान आगामी वर्षा का लाभ उठाने हेतु खेतों की भूमि का पूजन करते हैं और शगुन स्वरूप उसी दिन हल भी चला देते हैं। खेतों में भूमि पर 'चौक' पूरकर उस पर अनाज से भरा 'घैला' (छोटी मटकी) रखते है। उस पर ज्वार के दाने तथा मिट्टी का गोला बनाकर उसमें जरिया–छेवला की टहनी लगाकर रखते हैं। पंडित पूजा कर के मंत्रों से चारों दिशाओं आकाश–पृथ्वी का पूजन कराते हैं। हल बैल तथा किसान के हाथों पर 'स्वास्तिक' चिन्ह हल्दी से बनाया जाता है। यह जुताई का प्रथम दिन होता है।

हरायतें

उपरोक्त दोनों अवसरों का सीधा सम्बंध भूमि चित्रण से नहीं है, किन्तु लोक चित्रकला के सम्बंध में उन अवसरों का संक्षिप्त वर्णन करना उचित प्रतीत हुआ जिनमें भूमि चित्रण करना अनिवार्य होता है साथ ही हमारे लोक जीवन में उनका महत्व भी होता है ।

साँझी

'साँझी' श्राद्धपक्ष में आश्विन कृष्ण पक्ष में भूमि पर चित्रांकित की जाती है । प्रथम दस दिन गोबर व फूलों से सजाई जाती है और शेष पाँच दिन रंगों से बनाई जाती है । यह वास्तव में ब्रज का लोक–चित्रांकन है किन्तु बुन्देलखण्ड का कुछ भू–भाग विशेषतया दतिया, ब्रज क्षेत्र से सर्वाधिक प्रभावित रहा है । इस कारण वहाँ साँझी का चित्रांकन देखने को मिल जाता है । जब कोई लोक–कला एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानांतरित होती है तब उसका लोक रूप परिवर्तित हो जाता है । इसी तरह साँझी भी परिवर्तित रूप में पाई जाती है । सांध्य बेला में चित्रांकन करने के फलस्वरूप इसे 'साँझी' कहते हैं ।

मान्यता यह है कि श्राद्ध पक्ष में हरियाली हो जाती है । श्रीकृष्ण गाय चराने जंगल जाते थे संध्या को जब वे वापस लौटते थे तब गोपियाँ उनके मार्ग में फूल बिछा देती थीं । उसी परम्परा को लोक मान्यता मिल जाने पर घर–घर साँझी सजाई जाने लगी । बुन्देलखण्ड में पुराने समय में 'साँझी' का चित्रांकन करने के लिये एक चौकोर सीढ़ी युक्त मिट्टी का चबूतरा बनाकर इसके पास मिट्टी की दो दीवारों से यमुना नदी बनाते हैं । उसमें पानी भर दिया जाता है । मिट्टी के चबूतरे पर साँझी चित्रांकन किया जाता है। इसमें फूल–पत्ती बेल की अलंकारिक आकृतियों के साथ कुछ विशेष चित्र जैसे– अमावस्या पर पाँच चपेटे, प्रतिपदा को एक पटा, द्वितीया को दो पंखे, तृतीया को एक दूसरे के भीतर रखे तीन कटोरे, चतुर्थी को चौपड़ पंचमी को पाँच कटोरे, षष्ठी को छैः पंखुड़ी का फूल, सप्तमी को साँतिया आदि अलग–अलग आकृतियाँ भी प्रतिदिन बनाई जाती हैं। दतिया में कागजी साँचों से भी साँझी तैयार की जाती हैं। दूधिया पत्थर से सफेद रंग बनाते हैं। सफेद चूर्ण में नीला–पीला रंग मिला देते हैं। खसकीला पत्थर को घिस कर पीला रंग प्राप्त करते हैं। चील बट्टा पत्थर का रंग खैर जैसा लाल–काला होता है। धीरे–धीरे तैयार रंगों का प्रयोग भी किया जाने लगा है। साँझी कला का प्रदर्शन अन्य प्रकार से भी होता है। परातों में पानी भरकर उस पर पिसी सेल खड़िया की पर्त धीरे से डालकर उस पर कागजी साँचों से रंग बिछाकर सुन्दर साँझी तैयार की जाती है। इसी प्रकार परात की तह में तैलीय रंगों से साँझी चित्रण कर सूखने पर ऊपर से पानी भर देते हैं। वर्तमान में बुन्देलखण्ड के कुछ भागों में ही साँझी बनाई जाती है।

भित्ति चित्रण

बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला में भित्ति चित्रण अनेक हैं। ईश्वर की आराधना से श्रद्धा भाव का सम्बंध रहता है जिससे पृथ्वी पर किया गया चित्रांकन दीर्घ काल तक स्थायी नहीं रह पाता। क्योंकि हमारे मन में यह भाव रहता है कि कहीं धार्मिक चित्रण पर हमारे पैर न लग जायें। किन्तु भित्ति चित्रण में यह स्वतंत्रता रहती है कि यह चित्रण दीर्घ काल तक परिवार में स्थायी रहता है। इसमें प्रयुक्त सामग्री भी अल्प स्थायी या दीर्घ स्थायी होती है। भित्ति चित्रण अधिक कलात्मक होते हैं इनमें कुछ चित्रों में सघन चित्रण किया जाता है। किन्तु कुछ चित्र केवल 'पुतरिया' बनाकर पूर्ण समझे जाते हैं।

चितैरी कला

यह बुन्देलखण्ड की प्रमुख लोक–चित्रकला है। इसे विवाह के अवसरों पर घर की मुख्य भित्ति मुख्य द्वार के दोनों ओर बनाने का प्रचलन है। चितैरी कला राजस्थान की कला से अभिप्रेरित है। पिछले अध्याय चार में 'अपभ्रंश शैली' का वर्णन है। चितैरी कला उस शैली के बताये गये बारह लक्षणों के अत्यन्त समीप है। जो कलाकार भित्तियों पर चितैरी कला चित्रित करते हैं उन्हें "चितैरे" कहा जाता है।

चितैरी मुक्त हस्त चित्रण है इसके खिलते हुए रंग आकर्षक होते हैं देखने वालों को प्रतीत होता है कि घर में शुभ कार्य सम्पन्न होने जा रहा है। विवाह के अवसर पर गृह सज्जा का यह सुन्दर पक्ष है। चित्रण में श्री गणेश उनके दोनों ओर ऋद्धि–सिद्ध, मूषक मुख्य द्वार की चौखट के ऊपर चित्रित किये जाते हैं। श्री गणेश विघ्न हरण माने जाते हैं। वे शुभ कार्यों को बिना विघ्न बाधा के सम्पन्न करायें तथा परिवार में ऋद्धि–सिद्धि व्याप्त रहे इसी भाव से यह चित्रण अवश्य कराया जाता है। घर की मुख्य भित्ति चित्रकार का कैनवास होती है। वह मंडप में वर–वधू, मंगल कलश धारिणी स्त्रियाँ तथा वरमाला लिये वर–वधू को चित्रित करता है। चित्र में लोक वाद्य वादक–नगड़िया, तुरही, रमतूला आदि बजाते दिखाये जाते हैं। वाद्य यन्त्रों के चित्रण से प्रतीत होता है कि मंगल–ध्वनि बजाई जा रही है। शिव–पार्वती, राधा–कृष्ण, विष्णु–लक्ष्मी आदि देव चित्रित किये जाते हैं। दरबान, बारात का दृश्य जिसमें वर पारम्परिक पालकी में बैठा है इसी प्रकार विदा का दृश्य, जिसमें वधू पालकी में बैठी चित्रित की जाती है। चित्र में सभी स्त्री–पुरूष पारम्परिक वेश–भूषा में दिखाये जाते हैं। स्त्रियां घाघरा, चुनरी तथा पुरूष अंगरखा, साफा या टोपी पहने चित्रित होते हैं। मुख्य द्वार पर बेल–बूटे पत्तियों की बेल बनाकर चित्रण सज्जा के माध्यम से अवसर के अनुकूल वातावरण बनाया जाता है। कभी–कभी 'चितैरी' में हिरन, शेर, हाथी, बाघ आदि का चित्रण तथा युद्ध दृश्य शिकारी, शौर्य तथा पराक्रम प्रदर्शित करते वीर योद्धा शिकारी इत्यादि भी चित्रित किये जाते हैं। 'चितैरी' भित्ति पर ही नहीं वरन् सावनी की मटकियों, मिट्टी

के कलात्मक बर्तनों और खिलौनों की साज–सज्जा के लिये भी प्रयुक्त होती है।

चितैरी बनाने में चूने के रंगों का प्रयोग होता है। रंगों को पक्का करने के लिये बबूल की गोंद या सरेस पानी में पकाकर तैयार कर मिला देते हैं। रंगों का प्रयोग चित्रानुसार किया जाता है। प्रमुख रंग गुलाबी, नीला, पीला, लाल, नारंगी, हरा (हल्का, गहरा) होते हैं। चित्र उभारने के लिये काले रंग की रेखाओं का प्रयोग होता है। चित्रकार सर्वप्रथम गेरू से पूरी भित्ति पर आधार चिन्ह बना लेता है। तत्पश्चात् चित्र के आकार के अनुसार मुख्य रंग लगाता है यह मोटे ब्रश से लगाये जाते हैं। आकृति के चेहरे के लिये गोल, हाथों के आकार के लम्बे धब्बे और पैरों के लिये अंडाकार छोटे धब्बे चित्रित किये जाते हैं। यह धब्बे गुलाबी या पीले रंग के होते हैं। उसके बाद मध्यम मोटाई के ब्रश से मोटी रेखाओं द्वारा आकृतियों की वस्त्र रचना, वस्तु आदि चित्रित करते हैं। इस प्रकार चित्र में मुख्य रंगों को लगाना 'टिपाई' कहलाता है। उसके बाद चित्र को उभार देने के लिये पतले ब्रश की सहायता से काले रंग की रेखायें बनाई जाती हैं। जिससे आकृति की रचना स्पष्ट हो जाती है। इसे चित्रण शैली में 'खुलाई' कहा जाता है।

चितैरी की विशेषता है कि रंग सूखने की प्रतीक्षा किये बिना ही कलाकार दूसरे रंग का प्रयोग करता है। एक बार में एक रंग ही प्रयुक्त किया जाता है। चितैरी कला का प्रयोग भित्ति चित्रण के अतिरिक्त कागजों पर भी करते हैं। दीपावली तथा जन्माष्टमी के 'पना' (पन्ना) बनाने में इस कला का पारम्परिक प्रयोग किया जाता है। चितैरी कला के चित्र अपने आकर्षक रंग–विन्यास तथा चित्रण के साथ परम्परागत रूप में बुन्देलखण्ड के घरों की भित्तियों पर सजे रहते हैं। चित्रों के साथ 'स्वागतम' 'शुभ विवाह' आदि शुभ शब्दों को भी लिखा जाता है।

चितैरी

ढरकौना

यह गेरू से निर्मित शुभ प्रतीक चिन्ह है जिन्हें 'ढरकौना' कहा जाता है। बुन्देलखण्ड में देवस्थानों, लोक–देवताओं के चबूतरों, मढ़ियों तथा घर के मुख्य द्वारों पर भी 'ढरकौना' देखने को मिल जाता है। 'ढरकौना' बुन्देली शब्द है इसका शाब्दिक अर्थ है 'ढरक आना' (नीचे की ओर बहना या गिरना) इसी शाब्दिक अर्थ का पर्याय ढरकौना होते हैं। इसमें गेरू व पानी तथा रूई का प्रयोग होता है। गेरू को पानी में घोलकर थोड़ी सी रूई उसमें भिगो देते हैं। जहाँ 'ढरकौना' लगाने होते हैं वहाँ भित्ति पर उचित उँचाई पर रूई को रखकर उंगलियों से दबाते हैं। रूई मुख्य स्थान पर गेरू का गोल धब्बा बनाती है तथा उसका शेष गेरू स्वयं नीचे की ओर बह जाता है। इस प्रकार ढरकौना अपने नाम के अनुरूप बन जाते हैं। दीपावली व देवठान पर घर के मुख्य द्वार के दोनों ओर 'ढरकौना' लगाये जाते हैं। यह 5, 7, 9 या 11 संख्याओं में लगाये जाते हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में यह घर से बाहर की पूजा, जैसे – देव स्थानों या लोक–देव स्थानों पर अवश्य लगाये जाते हैं।
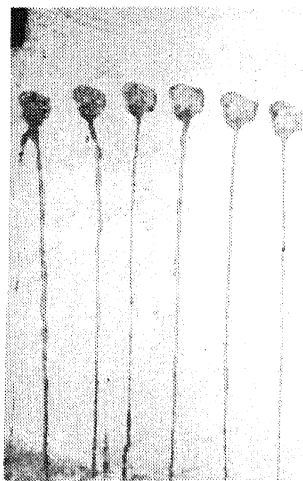
ढरकोना

आरते–मौरते और हाथे

विवाह के अवसर पर जब वर के यहाँ वधू को विदा कराके बारात लौटने वाली होती है। उस समय घर में प्रसन्नता का वातावरण होता है ऐसे में घर की मुख्य द्वार के दोनों ओर लोक चित्रकारी की जाती है। घर की कोई सुहागिन महिला गेरू, हल्दी या ऐपन से (उपलब्धि या परम्परा के आधार पर) "आरते–मौरते" बनाती हैं। यह वर–वधू के स्वागत चिन्ह होते हैं। वे गृह रक्षक तथा स्वागतोत्सुक

गृह देवता प्रतीत होते हैं। वर–वधू के आने पर मुख्य द्वार की पारम्परिक रस्मों के बाद वर–वधू हल्दी व पानी के घोल में हाथ भिगोकर भित्ति पर 'हाथे या थापे' लगाते हैं। यह आरते मौरते तथा 'हाथे' यह प्रदर्शित करते हैं कि घर में वर–वधू का आगमन हो चुका है। 'आरते–मौरते' बुन्देली शब्द ही है इसके आधार पर यह लगता है कि 'मौर' धारण करने वालों की आरती करने हेतु हम प्रतीक्षारत हैं। यह प्रतीक चिन्ह के समान हैं। वर–वधू, कुल देवी, देवता तथा देव–स्थानों पर भी हल्दी से हाथे लगाते हैं।

'आरते–मौरते' अधिकांशतया गेरू से ही चित्रित किये जाते हैं। इसके लिये गेरू को पानी में घोलते हैं। सींक में रूई लगाकर ब्रश तैयार किया जाता है। उसके बाद चूने से पुती घर के मुख्य द्वार के दोनों ओर की भित्तियों पर चित्रण किया जाता है। 'आरते–मौरतें' की मानवाकृति बनाने के उद्देश्य से उनका मुख, हाथ, पैर बनाये जाते हैं। धड़ चौकोर होता है। जिसको चित्रित करने वाली महिला अपनी कला योग्यता के अनुसार सजाती है। यह चित्रण पूर्णतः पारम्परिक होता है।
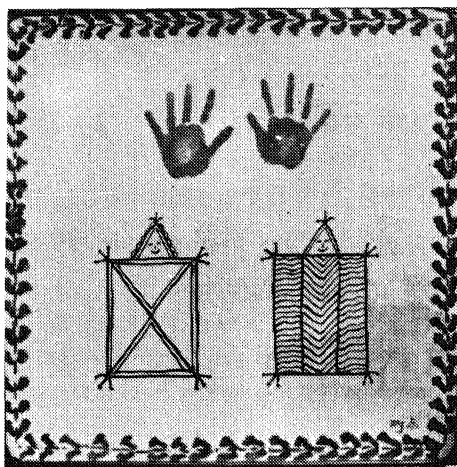
आरते–मौरते तथा हाथे–थापे

भये के सांतिया

इन्हें भये के सांतिया अर्थात जन्म के अवसर पर बनने वाले स्वस्ति चिन्ह कहा जाता है। शाब्दिक अर्थ के अनुसार इसका चित्रण शिशु जन्म के अवसर पर किया जाता है। जब शिशु जन्म लेता है तब परिवार में उल्लास का वातावरण रहता है। ऐसे में पद के अनुरूप सभी सगे सम्बंधी तथा परिवार के सदस्य लोका–चार करते हैं। जिनका लोक–जीवन में अत्यन्त महत्व होता है। ऐसे में बच्चे की बुआ अर्थात प्रसूता की ननद विशेष मान्य होती है। उसके अनेक नेग होते हैं, जो वह उत्साहित होकर करती है। इसी प्रकार प्रसूति गृह के द्वार की भित्ति पर ननद गोबर से शुभ चिन्ह अंकित करती है। उन चिन्हों

पर जौ व देवल के दाने लगाकर सजाया भी जाता है। भये के सातियों में स्वास्तिक चिन्ह आवश्यक है। इसके अतिरिक्त चक्राकार चित्रण किया जाता है वह स्वास्तिक का रूप ही होता है। चक्राकार चित्रण पुत्र जन्म पर बनाया जाता है। पुत्री जन्म की संरचना भिन्न होती है इसमें चतुर्भुज जैसी रचना की जाती है जिसमें चारों दिशाओं को इंगित करते गोलाकार कोने भी होते हैं मध्य में खाली स्थान में भी एक छोटा चतुर्भुज होता है।

पुत्र एवं पुत्री के जन्म पर बनाये गये भिन्न आकार के सांतिये जन्म के साथ ही उन की सामाजिक स्थिति विवेचित करते प्रतीत होते हैं। पुत्र जन्म का चक्राकार सांतिया जन्म की सार्थकता प्रदर्शित करता है कि जन्म लेकर अपने व्यक्तित्व का विकास करते हुए समाज के जीवन चक्र के साथ चलते सम्पूर्णता की प्राप्ति करे। चक्र का अंतिम छोर खुला होता है जो बंधन मुक्त जीवन का पर्याय है।

पुत्री जन्म के चतुर्भुज चारों दिशाओं से बंद हैं जो समाज में नारी की स्थिति प्रदर्शित करते प्रतीत होते हैं। वह सभी ओर से बंधनों में है। घर व समाज की चार दीवारी उसकी सीमा रेखायें हैं जिसमें विचरण करती वह जीवन बिताये इसी प्रकार चतुर्भुज में बनी चौकोर आकृति उसकी प्रजनन शक्ति या मातृत्व की प्रतीक है। अर्थात उसमें सृष्टि संचालित करने की शक्ति विद्यमान है।

भये क़े सांतिया बनाने के लिये गाय के गोबर को शुद्ध माना जाता है। गोबर को उंगलियों की सहायता से उभरी रेखायें बनाते हैं। चित्रानुसार रेखाओं को आकृति प्रदान की जाती हैं। उसके बाद देवल व जौ गोबर की उभरी रेखाओं पर लगा दिये जाते हैं।

भये के सांतिया

दीपावली

बुन्देली में इसे 'दिवारी' कहा जाता है। शरद ऋतु में कार्तिक मास की अमावस्या को दीपावली का त्योहार मनाया जाता है। फसल पक कर खलिहानों में आ चुकी है। भंडार भरे होते हैं कृषक वर्ग अपने नियमित कृषि कार्यों से मुक्त हो जाते हैं, ऐसे में दिवारी एक महोत्सव के रूप में आती है। वैसे तो दीपावली सम्पूर्ण भारत वर्ष में मनाई जाती है, किन्तु इस दीपोत्सव का स्वरूप बुन्देलखण्ड में अनोखा है। यहाँ दिवारी लक्ष्मी आवाहन के साथ ओजपूर्ण दिवारी गायन एवं नृत्य के लिये भी प्रसिद्ध है।

दिवारी के साथ चार अन्य उत्सव भी सम्मिलित हैं दिवारी से दो दिन पूर्व धनतेरस उसके बाद नरक चौदस तथा दिवारी के बाद गोधन तथा दूसरे दिन भैया दूज मनाया जाता है।

धन तेरस के दिन लोक विश्वास है कि धन एकत्रित करने का शुभ मुहूर्त होता है इस दिन सोना, चाँदी, सिक्के, आभूषण, पात्र इत्यादि क्रय करने की परम्परा है। रात्रि में खरीदे गये सामान को ईश्वर के समक्ष रखकर पूजा की जाती है यह भौतिकता की पूजा होती है। इसीदिन आयुर्वेद के प्रवर्तक धनवन्तरि की जन्म जयन्ती भी मनाई जाती है। इस प्रकार यह भौतिकता एवं शारीरिक स्वास्थ्य की उत्तमता हेतु मंगल कामना का त्योहार बन जाता है।

"नरक चौदस" स्वच्छता का प्रतीक है। इस दिन घर की पूरी सफाई की जाती है। लिपाई पुताई होने के बाद परिवारी जन स्नान कर अज्जा झारौ और करई तुमरिया को अपने ऊपर से उतारा करके घर के बाहर या पिछवाड़े फैंक देते हैं। इस सम्बंध में एक लोकोक्ति है –

"अज्जाझारौ, करई तुमरिया, रोग–दोस लै जाय दिवरिया"

यह एक प्रकार का टोटका लगता है या फिर पुराने समय में जड़ी बूटियों से स्नान कर स्वास्थ्य लाभ पाते होंगे उसी का यह प्रतीकात्मक रूप है।

नरक चौदस के सम्बंध में कथा है –

नरकासुर एक अत्याचारी असुर था। उससे समस्त देवगण परेशान थे। नरकासुर के कार्यों से समस्त ब्रम्हाण्ड में बुराइयाँ व्याप्त हो गई थीं उसके आतंक का अंत करने के लिये श्रीकृष्ण ने कार्तिक मास की चतुर्दशी को नरकासुर का वध किया। मृत्यु के समय नरकासुर ने श्री कृष्ण से कहा कि मुझे वरदान दें कि मेरी मृत्यु तिथि समस्त लोक में मनाई जाये। श्रीकृष्ण के दिये वरदान–स्वरूप आज तक नरक चतुर्दशी के नाम से नरकासुर को याद किया जाता है। सभी को नरकासुर के आतंक से मुक्ति मिली इस कारण उसे उत्सव के रूप में मनाया जाने लगा। नरक चतुर्दशीको विशेष रूप से सफाई करना इसी बात का प्रतीक है कि समाज से बुराई अर्थात गंदगी का अंत हुआ और अच्छाई अर्थात

स्वच्छता का आगमन हुआ।

कार्तिक अमावस्या का इतिहास श्रीराम की लंका विजय से भी जुड़ा है। इस दिन श्री राम लंका के राजा रावण का वध कर चौदह वर्ष बाद अयोध्या लौटे थे। उनका स्वागत नगर में दीप प्रज्जवलित कर किया गया था।

दीपावली से सम्बंधित पौराणिक कथायें भी हैं –

एक बार धन एवं समृद्धि की देवी लक्ष्मी देवताओं के भोग–विलास और अहम् भावनाओं से दुखी होकर अपने पिता समुद्र के यहाँ चली गईं। देवताओं में दरिद्रता की स्थिति आ गई। तब श्री गणेश ने देवताओं को सुझाव दिया कि समुद्र का मंथन कर पुनः लक्ष्मी को प्राप्त करें। देवताओं ने वैसा ही किया। समुद्र मंथन से चौदह रत्न प्राप्त हुए जिनमें से एक श्री लक्ष्मी थीं। श्री लक्ष्मी के आगमन पर दीपोत्सव मनाया गया। चूंकि श्री गणेश के बताये उपाय से लक्ष्मी का पुर्नागमन हुआ इस कारण लक्ष्मी के साथ श्री गणेश की भी पूजा की गई। जो वर्तमान में भी की जाती है।

इसी प्रकार एक पौराणिक कथा यह भी है कि – प्राचीन काल में असुर राज बलि ने तीनों लोकों पर अपना राज्य कर लिया था। विष्णु ब्राम्हण वेश (वामन अवतार) धर कर राजा बलि से दान मांगने गये। उन्होंने तीन पग धरती दान में माँगी। बलि यह षंडयन्त्र जानकर भी दान देने का तैयार हो गये। भगवान विष्णु ने तीनों पग में तीनों लोक नाप लिये और राजा बलि पाताल लोक में समा गये। किन्तु बलि की दानशीलता से प्रभावित होकर विष्णु जी ने उन्हें पाताल लोक का राजा बना दिया। इसी कथानुसार दीपमालिका प्रज्जवलित की जाती है।

दीप प्रज्जवलन के सम्बंध में 'कल्प सूत्र' में उल्लिखित है कि जब महावीर ज्ञी का निर्वाण हुआ तब सर्व सम्मति से यह निर्णय लिया गया कि अब ज्ञान की ज्योति बुझ गई है इस कारण उस दिन दीप ज्योति प्रज्जवलित की जाये। वह दिन कार्तिक मास की अमावस्या ही थी।

लोक–विश्वासों के आधार पर लक्ष्मी और दरिद्रा दो बहनें हैं, जो एक साथ दीपावली की रात पृथ्वी लोक का विचरण करती हैं। जिस घर में स्वच्छता और प्रकाश होता है देवी लक्ष्मी वहाँ निवास करती है तथा जहाँ गन्दगी और अन्धकार होता है वहाँ दरिद्रा स्थान बना लेती है। इसी भावना से बुन्देलखण्ड के दूरवर्ती ग्रामों में महिलायें आज भी सूप और डोंडी बजाकर कहती हैं – 'निकल दलिद्दर, आय लच्छमी।'

इसी प्रकार लोक में अनेक कथा–कहानियाँ दीपावली से सम्बंधित हैं किन्तु सार सबका एक है कि लक्ष्मी देवी का पूजन, दीप जलाना और स्वच्छता।

दीपावली पूजन के पाँच दिवसीय महोत्सव में अनेक भाव छुपे हैं। जो स्वच्छता, स्वास्थ्य एवं

पर्यावरण के लिये अत्यन्त आवश्यक है। दीप जलाने से वातावरण में व्याप्त रोग के कीट जलकर समाप्त हो जाते हैं। आपसी प्रेम, सौहार्द और प्रसन्नता का पर्व दीपावली होता है। आत्मिक तथा बौद्धिक प्रकाश का दीप जलाना इसका संदेश है। दीपावली से समाज से अज्ञान का अंधकार मिटा कर ज्ञान का दीप जलाये इस भावना को बल मिलता है।

बुन्देलखण्ड में दिवारी भित्ति पर चित्रित की जाती है यह संभवतः अन्य क्षेत्रों से बिल्कुल अलग विधान है। दिवारी चित्रांकन अत्यन्त जटिल प्रक्रिया है क्योंकि यह ज्यामितीय चित्रांकन है। महिलायें सही चित्रण करती हैं उन्हें इसका सम्पूर्ण ज्ञान है। यही लोक–ज्ञान होता है। दिवारी चित्रांकन को 'सुराती' कहते हैं। चित्रांकन का नामकरण संभवतः सुर रात्री अर्थात देवताओं की रात्रि से किया गया है। इस कारण दिवारी की रात देवताओं के आगमन की रात मानी जाती है।
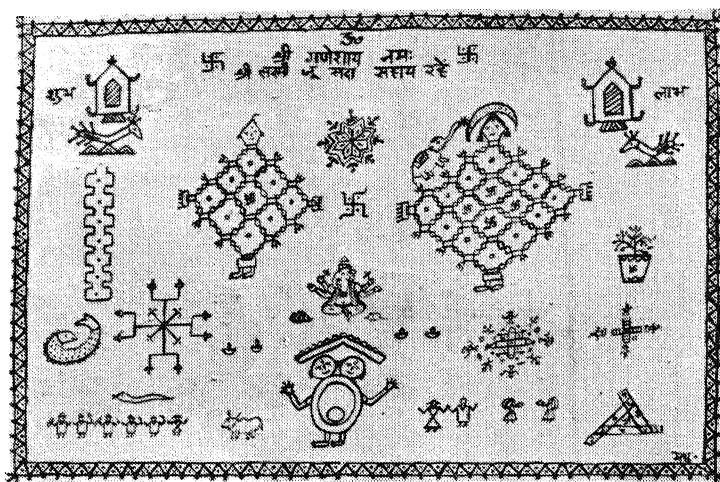
सुराती

दिवारी चित्रांकन हेतु पूजागृह की भित्ति छुई या खड़िया से पोतकर सूखने के बाद उस पर गेरू को पानी में घोलकर सुराती लिखते हैं। 'सुराती' लिखने के लिये सींक में रूई लगाकर प्रयोग करते हैं। सांतिया को जोड़–जोड़ कर सोलह कोठे की सुराती बनाई जाती है जो शुभ मानी जाती है। इसी प्रकार विष्णु रूपी 'सुरेता' नौ कोठे के शुभ होते हैं। सूरज चन्दा, श्री गणेश तुलसीघरा, डबुलिया, धन के भरे सात या नौ घट, स्वास्तिक, चौक बनाते हैं। पाँच दीपक बनाये जाते हैं जो क्रमशः बुद्धि, ज्ञान, स्वास्थ्य, सुख व समृद्धि के प्रतीक हैं। श्री यंत्र का चित्रण जो सब ओर से समान संख्या का योग देता है जो विषम परिस्थितियों में संगठन तथा एकता को शुभ होना दर्शाता है गोवर्धन, गाय और हाथी समृद्धि तथा वैभव के प्रतीक के रूप में चित्रित किये जाते हैं। चौपड़ खेलते चार व्यक्ति दूसरी ओर बिना पतियों के बच्चों के साथ पूजा करती स्त्रियां, चित्रित करते हैं। पांडव भी चित्रित किये जाते हैं जिसका आशय होता

है कि जुआ खेलने से उन्हें अपना राज–पाट हारना पड़ा और वन के दुःख भोगने पड़े। चिड़िया–चिरौटा बनते हैं, मणिधारी सांप धन का प्रतीक इत्यादि चित्रित किये जाते हैं। सेई और उसके बच्चे बनाये जाते हैं।

चित्र मे ऊपर 'ऊँ' श्री गणेशाय नमः, 'श्रीलक्ष्मी जू सदा सहाय रहें' तथा 'शुभ–लाभ' लिखा जाता है। इन समस्त आकृतियों को रेखाओं द्वारा चौखाने या आयताकार मे बंद कर देते हैं। समस्त देवी–देवताओं की कृपा धन धान्य और समृद्धि परिवार मे बनी रहें। इसका यही आशय प्रतीत होता है।

पूजन का विधान भी विशेष होता है धरती पर कमल चौक चित्रित कर मिटटी से बने गणेश लक्ष्मी की मूर्तियाँ चित्रण के समक्ष रख दी जाती है। नई फसल का धन–धान्य खील–लाई व गन्ने के रस से तैयार शक्कर के बताशे, खिलौने इत्यादि चढ़ाने की परम्परा है। आरती, हवन किया जाता है। मांय (मातृ) की पूजा आवश्यक होती है परिवार के सभी सदस्यों के नाम के 'कोरा' (हिस्सा) एक कोरे 'फरका' (रंगीन कपडा) पर रखे जाते हैं। खेत की मेड़ तुलसी घरा, पूजागृह और घिनौची (पानी रखने का स्थान) पर दिये अवश्य जलाये जाते है। कुछ घरों मे 'गोपाल सहस्त्र नाम' का पाठ भी किया जाता है। घरों में सोने–चाँदी के जेवरों तथा तिजोरी की पूजा भी की जाती है।

बुन्देलखण्ड मे पुरानी परम्परा है कि बच्चे दीपावली की रात मे 'ओद–बोद' खेलते हैं। एक तार मे कपडे के या घास के गोले को बाँध लेते हैं, और उसे जलाकर अपने चारों ओर घुमाते हैं, इसके घुमाने की कला होती है जिससे शरीर के चारों ओर प्रकाश चक्र बनता है। खेल के साथ वातावरण मे बीमारी के छोटे छोटे कीटाणु भी जलकर नष्ट हो जाते है। यह खेल स्वास्थ्यवर्द्धक माना जाता है। दिवारी की रात भर पूजा में दिया जलता रहता है उस पर काजल पारने की परम्परा है। जिसे नेत्रों के लिये लाभकारी मानते हैं। दिवारी पर 'दिवारी गीत' गाने की परम्परा है। यह गीत लोक–जीवन के गीत हैं जिनमे आदर्श नहीं वरन यथार्थ की अभिव्यक्ति अधिक होती है।

अहोई आठें

यह पुत्र प्राप्ति की कामना तथा पुत्र दीर्घायु हो इस कामना से व्रत रखा जाता है। माँ अपने पुत्र के लिये निर्जला व्रत रहती हैं। यह व्रत कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी को पुत्रवती स्त्रियों द्वारा किया जाता है। यह पूजन 'बैमाता' (भाग्य लिखने वाली देवी) का होता है। पुत्र दीर्घायु तथा सौभाग्यशाली भी हो व्रत मे ऐसी कामना भी रहती है अहोई अष्टमी का व्रत चन्द्रमा को अर्ध्य देकर तोड़ा जाता है।

अहोई अष्टमी का भित्ति चित्र रंगीन बनता है। इसे घर मे प्राप्त सामग्री हल्दी, महावर नील, गेरू, सिंदूर, रज आदि से बनाया जाता है। इसमे अहोई माता की मातृत्व भाव का चित्रण किया जाता है। देवी का चित्रण स्त्री रूप मे किया जाता है। उनका शरीर या लहंगा आयताकार या चौकोर बनाते हैं, उसमें कथानुसार चित्रण किया जाता है। साहूकार, साहूकार की पत्नी उसके सात पुत्र, सात पुत्र वधुयें, धन धान्य

से भरे पात्र, पशुधन चित्रित किये जाते हैं जो समृद्धशाली परिवार के प्रतीक होते है। चौकोर आकृति के बाहर गंगा जमुना, तुलसी घरा, देवरानी–जेठानी, सूरज चंदा इत्यादि चित्रित करते है। कुछ घरों मे यह सारे चित्र सूर्य–चन्द्रमा को छोड़कर देवी के शरीर आकृति चौखाने के भीतर ही चित्रित किये जाते हैं।
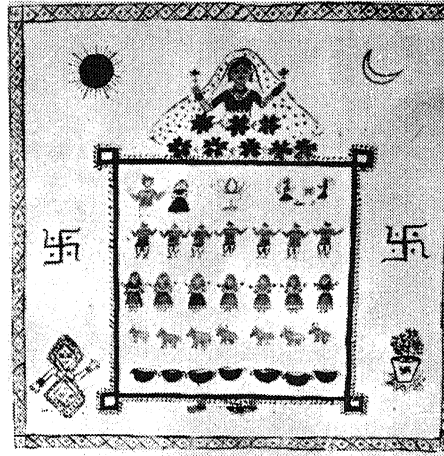
अहोई अष्टमी

अहोई अष्टमी से सम्बन्धित अनेक कथायें है किन्तु प्रचलित कहानी यह है– किसी नगर मे एक साहूकार रहता था। उसकी पत्नी रूपवती एवं गुणवती थी। उसके छः पुत्र हुये वे जन्म लेते ही मर गये। इस कारण साहूकार दम्पत्ति अत्यन्त दुःखी थे। एक बार वे जीवन से निराश होकर आत्म हत्या करने गये किन्तु तभी आकाशवाणी हुई कि तुम इस प्रकार निराश न हो। यह तुम्हारे पूर्व जन्मो के पाप है। उन पापों को दूर करने के लिये और दीर्घायु पुत्र प्राप्त करने हेतु तुम कार्तिक मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी का व्रत रखो और श्रद्धापूर्वक अहोई माता का व्रत करो। वे दोनो प्रसन्नता पूर्वक घर लौट आये। साहूकार की पत्नी ने व्रत रख कर विधि विधान से पूजा की। अहोई माता की कृपा से उसे सुन्दर और स्वस्थ बालक प्राप्त हुआ। अहोई माता जब बच्चे का भाग्य लिखने हेतु प्रगट हुई तब साहूकार ने उनके स्वागत के लिये मेवा, मिष्ठान, दूध, दही इत्यादि पकवानों के कूंडे भर कर रखवा दिये। अहोई माता भोजन कर तृप्त हुई तथा बच्चे को दीर्घायु होने का वरदान दिया। तब साहूकार की पत्नी ने बच्चे को रूला दिया। अहोई माता ने पूछा कि– बच्चा क्यों रो रहा है? तो उसने जवाब दिया कि, अपने मृत भाइयों को जीवित चाहता है। अहोई माता साहूकार की पत्नी की होशियारी समझ गई किन्तु वचन देने के कारण उन्होने मृत पुत्रो को जीवन दान दिया। इस प्रकार वह सात पुत्रों की माँ बनीं।

अहोई अष्टमी के पूजन मे सभी प्रकार के मिष्ठान और कच्चे पक्के पकवान बनाकर पात्रों मे रख दिये जाते हैं। चित्र के समक्ष चौक पूर कर पूजन किया जाता है। कहानी कही जाती है। चन्द्रमा

को अर्घ्य देकर स्त्रियाँ व्रत का पारायण करतीं हैं। अहोई माता का विधिवत पूजन करने से और चन्द्रमा को अर्घ्य देने से पुत्रों की दीर्घायु होती है तथा प्रत्येक दुःखो से रक्षा होती है, ऐसा लोक विश्वास है।

करवा चौथ

सभी हिन्दू जाति की सुहागिन स्त्रियों के लिये यह सुहाग रक्षा का महत्वपूर्ण व्रत है। यह प्रत्येक कार्तिक मास मे कृष्णपक्ष की चतुर्थी को मनाया जाता है।

महाभारत मे वर्णित एक कथा के अनुसार द्रोपदी ने श्री कृष्ण से पूछा कि, 'अर्जुन एक अनुष्ठान करना चाहते है वह निर्विध्न सम्पन्न हो इसके लिये मै क्या करूँ?' श्री कृष्ण ने बताया कि, भगवान शिव और पार्वती एक बार पृथ्वी लोक का विचरण कर रहे थे, तब उन्होने देखा कि, तालाब व नदी सूखे हैं, वृक्ष पर सड़े फल लगे हैं। गाय व बछड़ा अलग–अलग हो गये हैं। सृष्टि की यह दुर्गति देखकर पार्वती जी दुःखी हो गईं उन्होने भगवान शिव से प्रकृति को ठीक करने की प्रार्थना की। तब शिव जी ने कहा यह सब कार्तिक चौथ का व्रत न रखने के कारण हुआ है। पार्वती ने वचन दिया कि वे व्रत रहेंगी। प्रकृति ठीक हो गई, किन्तु पार्वती जी व्रत रखना भूल गईं। इस प्रकार कई साल बीत गये। शिव जी के पूछने पर वे झूठ बोली कि उनका व्रत हैं। शिव जी अर्न्तयामी थे सब समझ गये। तब पार्वती ने क्षमा माँगी और व्रत रखना प्रारम्भ किया। तब भगवान शंकर ने कहा तुम यह व्रत संसार मे बाँट दो जिससे सुहागिन स्त्रियों के सौभाग्य मे वृद्धि होगी। इस प्रकार संसार मे करवा चौथ जैसा उत्तम फलदायी व्रत रखा जाने लगा। द्रोपदी ने श्री कृष्ण के बताये अनुसार यह व्रत रखा जिससे अर्जुन का अनुष्ठान निर्विध्न सम्पन्न हुआ।
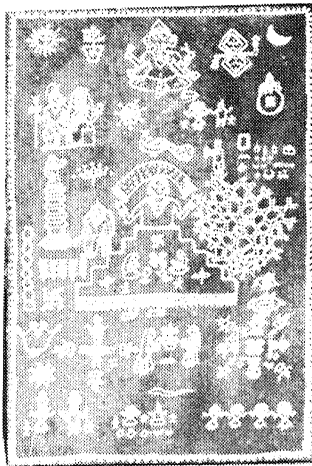
करवा चौथ

बुन्देलखण्ड मे करवा चौथ का भित्ति चित्रण किया जाता है। दीवार पर गाय के गोबर से चौरस लीपते हैं। चावल को पीस कर उसके घोल से लकड़ी के अग्र भाग मे रूई लपेट कर भित्ति चित्रण किया जाता है। यह चित्रण करने मे स्त्रियों को बहुत समय लगता है। इस कारण पर्व के नौ दिन पूर्व अर्थात दशहरे वाले दिन से चित्रण प्रारम्भ कर दिया जाता है। इसमे मध्य मे पार्वती का स्वरूप मुख्य होता है उनका सीढ़ीदार लहंगा बनाया जाता है। दाँये बाँये सूरज चन्दा, श्री गणेश, कार्तिकेय, शिव पार्वती, राधा कृष्ण, गंगा–जमुना, देवरानी–जेठानी, इमली के पेड़ पर से चलनी से दिया दिखाता भाई, सीढ़ी पर चढी पूजा करती बहन, सिंगार सामग्री, सर्प, धोबी–धोबन और कुम्हारिन–कुम्हार अपने बच्चों सहित, करवा आदि अनेक वस्तुयें चित्रित की जाती हैं। सम्पूर्ण चित्र का आधार कथात्मक होता है। चित्रण काल्पनिक तथा पारम्परिक होता है। बुन्देलखण्ड मे कुछ लोग चित्र मे दो गोला कार आकृतियाँ बनाकर नीचे सीढीनुमा बना कर भी भित्ति चित्रण करते हैं। यह चित्र भी चारो ओर से रेखाओ द्वारा बंद रहता है।

इस पूजा का विधान है कि स्त्रियाँ निर्जला व्रत रह कर सभी तरह के पक्के – कच्चे पकवान बनाती हैं। पक्के (पूडी, कचौडी, सब्जी रायता, खीर आदि) कच्चे (रोटी कढी, चावल, बरा, फरा आदि) व्यंजनो के साथ कच्चे चावल और पिसी शक्कर की पिढ़ियाँ भी कुछ घरों मे बनती हैं। संध्या बेला मे स्त्रियाँ पूर्ण श्रृंगार करके भित्ति चित्रण के समक्ष धातु का करवा तथा मिटटी का करवा भी रखती है उनमे पानी भर देती हैं। मिटटी के करवा मे पीली सींके लगाई जाती हैं। उस पर दीपक जलाकर रखते हैं। पूजन कर कथा भी कही जाती हैं। मिटटी का करवा रखना परम आवश्यक है, क्योंकि इससे सम्बन्धित कथा यह है कि एक बार पार्वती जी चौथ पर पृथ्वी लोक पर आई और कहा मैं चार घड़ी चन्द्रमा रहने तक ही रहूँगी और जो स्त्रियाँ मेरी पूजा करेगी वे अमर सुहाग का वरदान पायेंगी छोटी जाति की स्त्रियाँ झटपट मिटटी के करवा लेकर उनमे बताशा का चूरा भरकर पार्वती जी के पास पहुँची और पूजा कर अखण्ड सौभाग्यवती का वरदान पाया। किन्तु उच्च कुलीन घर की स्त्रियाँ चाँदी–सोने के करवे मे पकवान भरकर पूर्ण श्रृंगार करके पूजन हेतु पहुँची तब तक सुहाग बँट चुका था। स्त्रियों की अनुनय विनय से पार्वती जी ने अपने बाँये हाथ की कनिष्ठिका काट कर सब पर छिड़ककर सुहाग दिया। जिसको जितना मिला उतनी ही लम्बी उम्र उसके सुहाग की हुई। इसी कारण स्त्रियाँ प्रतिवर्ष मिटटी का करवा रखकर पूजा करती हैं और अपने पति की दीर्घायु की कामना गौरा जी से करती हैं। चन्द्रमा के उदय होने पर गौराजी के करवे से अपना करवा पाँच या सात बार बदला जाता है। चन्द्रमा को अर्घ्य दिया जाता है। तत्पश्चात् व्रत का पारायण प्रसाद खाकर किया जाता है।

करवा चौथ भित्ति चित्रण से सम्बन्धित एक लोक–कथा अत्यन्त प्रचलित है जिसे पूजा मे भी कहा जाता है– एक सात भाइयों की अकेली प्रिय बहन सताना थी। विवाह के बाद पहला करवा चौथ पड़ा, भाई चौथ पूजन की सामग्री लेकर सताना के ससुराल गये। जब वे भोजन कर रहे थे तब उन्होने सताना से भी खाने का आग्रह किया किन्तु सताना ने व्रत के बारे मे बताया। भाई सताना का भूख से

कुम्हलाया चेहरा देख कर दुःखी थे। बहन के प्रेम मे वशीभूत होकर छोटा भाई चलनी और दिया लेकर इमली के पेड पर चढ़ गया और दूसरे भाई ने कहा कि चन्द्रमा निकल आया। सताना को चलनी मे जलता दिया घने पेड़ से चन्द्रमा जैसा प्रतीत हुआ उसने चन्द्रमा को अर्घ्य देकर व्रत तोड़ दिया। भाई प्रसन्न होकर अपने घर लौट आये। जब चन्द्रमा निकला तब भाईयों की पत्नियों ने पूजा की। उधर सताना का व्रत खंडित होने से उसके पति की मृत्यु हो गई। छोटे भाई ने पूजा वाली घटना अपनी पत्नी को बताई। पत्नी ने सताना से कहा– तुमसे करवा चौथ की पूजा मे चूक हुई है इस कारण तुम साल भर अपने पति का शव रखो और करवा चौथ पर नियम पूर्वक व्रत रहना वे जीवित हो जायेंगे। सताना ने वैसा ही किया। गौरा जी की कृपा से सताना का पति जीवित हुआ।

इसी कथानुसार कुछ परिवारों मे भित्ति चित्र मे मृत पुतरा बनाते हैं। पूजन के बाद उसे जीवित पुतरे मे चित्रित कर बदल देते हैं। यह कथा थोड़े हेर फेर के साथ लगभग सभी स्थानों पर कही जाती है।

नाग पाँचे

श्रावण मास के शुक्लपक्ष की पंचमी नाग पंचमी के रूप मे जानी जाती हैं। इस तिथि मे नागों की पूजा करने का विधान है। वैसे तो नाग पंचमी पूरे देश मे मनाई जाती है किन्तु बुन्देलखण्ड मे 'नाग पांचे' का अलग महत्व और रूप होता है। इस तिथि पर नाग पूजा की निश्चित तिथि है। इसका उल्लेख भविष्य पुराण तथा प्रभास खण्ड मे मिलता है कि इस तिथि मे सर्प–पूजा करने से सर्पो का भय नहीं रह जाता है। ऐतिहासिक कथानुसार आस्तीक ऋषि के पिता आर्य तथा माता नाग जाति की थीं। इस कारण कई वर्षों तक उनमे आपस मे मित्रता रही। किन्तु नाग जाति के तक्षक के दुष्कर्मों के कारण नागों और आर्यो मे आपसी वैमनस्यता हो गई। जिससे मित्रता समाप्त होगई किन्तु आस्तीक ऋषि के प्रयासों से आर्यो के महोत्सव मे नाग पूजा को स्वीकार कर लिया गया। इस मित्रता को चिर स्थायी बनाने के लिये नाग पंचमी को त्योहार के रूप मे परिणित कर दिया गया। हैहय वंश मे भी नाग पूजा का वर्णन प्राप्त होता है।

वर्तमान समय मे सपेरे घर–घर जाकर जीवित सर्पो के दर्शन करा देते है किन्तु पारम्परिक रूप से बुन्देलखण्ड के कई भागों मे नाग पंचमी पर भित्ति चित्रण करके पूजा की जाती है। यह भित्ति चित्रण पारिवारिक परम्परा के अनुसार ही किया जाता है। पंचमी तिथि पर पड़ने के कारण चित्रण को स्त्री रूप दिया जाता है। मुख, हाथ, पैर, भी चित्रित करते हैं। कही घर के बाहर की मुख्य भित्ति पर चित्रण किया जाता है और कही पूजा गृह की भित्ति पर सर्प चित्रण करते हैं। भित्ति चित्रण मे गेरू, कोयला या गोबर का प्रयोग करते हैं। चूने से पुती दीवार पर एक चौखाना बना कर उसमे पाँच या सात सर्प चित्रित किये जाते है। कभी कभी चौखाने के बाहर भी सर्प चित्रण होता है। इसका तात्पर्य यह होता है कि घर के

अन्दर और बाहर के दोनो स्थान के सर्पों से हमारी रक्षा हो। इसी भावना से उन सर्प आकृतियों की पूजा की जाती है। खीर, दूध पंचामृत, कमल के फूलों से पूजा की जानी चाहिये, क्योकि यह नागों की प्रिय वस्तुयें हैं। धूप, दीप नैवेध के पश्चात् नागों के नाम स्मरण करें जो क्रमशः अनन्त, वासुकि, शेष, पद्म, कम्बल, अश्वतर, धृतराष्ट्र, शंखपाल, कालिया, तक्षक तथा पिंगल हैं। नागपंचमी की पूजा में इन सभी नागों के नाम का नैवेध चढ़ाना चाहिये। जीवित सर्पों को दूध पिलाना शुभ माना जाता है।

बुन्देलखण्ड का मुख्य व्यवसाय खेती है यहाँ नाग मित्र के रूप में माने जाते हैं। नाग चूहों के शत्रु होते हैं। प्रतिवर्ष चूहे फसल का बहुत सा भाग नष्ट कर देते हैं। किन्तु सर्प चूहों को खाकर किसानों को नुकसान से बचाते हैं। इस कारण किसानों के लिये वे मित्र रूप में पूजनीय हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में ऐसा विश्वास है कि नाग पंचमी के दिन जमीन नहीं खोदनी चाहिये और न ही खर–पतवार जलानी चाहिये। सर्प भी प्रकृति का अंश हैं उनको नुकसान पहुँचाना या मारना मानवता नहीं है। अगर हम उन्हें प्रेम करेंगे या हानि नहीं पहुँचायेंगे तो वे हमें भी नहीं सतायेंगे। इसी भावना से प्रभावित नाग पंचमी की कथायें हैं। एक बहु प्रचलित दन्त कथा इस प्रकार है– एक ब्राम्हण के सात पुत्र वधुयें थीं। जब श्रावण मास आया तब छैः पुत्रवधुयें अपने मायके चली गईं परन्तु सातवीं पुत्रवधू के कोई भाई नहीं था इस कारण उसे बुलाने कोई नहीं आया। वह अत्यन्त दुःखी होकर पृथ्वी को धारण करने वाले शेष नाग को याद करने लगी। उसका दुःख देखकर शेष नाग मनुष्य रूप में आकर उसे विदा कराके ले गये आधे रास्ते बाद वे असली रूप में आये वधू भयभीत हो गई। शेषनाग ने उसे सब समझाया तब वह प्रसन्नता पूर्वक उनके साथ चली गई। पाताल लोक में वह समस्त सुखों का भोग करती सुख से रहने लगी। उसी समय शेष–नाग के कुल में बच्चों ने जन्म लिया वे समस्त नाग लोक में विचरण करते थे। नागरानी ने वधू को एक पीतल का दीपक दिया और कहा कि तुम इसे लेकर ही नागलोक में विचरण किया करो जिससे तुम सब देख सकोगी अन्यथा बच्चे पैरों तले कुचल सकते हैं। एक दिन वधू हाथ में दीपक लेकर नागलोक में विचरण कर रही थी तभी उसकी लापरवाही से दीपक हाथों से गिर गया। कुछ नाग बच्चों की पूछें उससे कट गईं। इस घटना से शेषनाग व नागरानी को बहुत दुःख हुआ किन्तु वधू उनकी अतिथि थी, इस कारण उसे उपहार देकर विदा कर दिया गया। जब दूसरा सावन आया तब वधू अपने शेष नाग भाई की याद करके भित्ति पर सर्प आकृति बनाकर खीर का भोग लगाने लगी साथ ही रोती जा रही थी। नागलोक में जिन बच्चों की पूंछ कट गईं थी, वे वधू को इसका दोषी मानते थे, इस कारण दण्ड देने हेतु उसके घर गये। किन्तु वहाँ जब वधू को पूजा करते व रोते देखा और गलती की क्षमा मांगते सुना तब वे द्रवित हो गये। अपने क्रोध का परित्याग कर उन्होंने वधू के हाथों खीर स्वीकार की। वधू को उपहार स्वरूप मणिमाला देकर सर्पों के भय से मुक्ति का आशीर्वाद भी दिया कि जो भी श्रावण शुक्ल पंचमी को नागों की भाई रूप में पूजा करेगा वे उसकी रक्षा करेंगे।

इस कथानुसार नागों को भाई समान पूजने की परम्परा बन गई। उन्हें भित्ति पर चित्रित कर

दूध–भात या खीर का भोग लगाकर रक्षा हेतु प्रार्थना की जाती है।
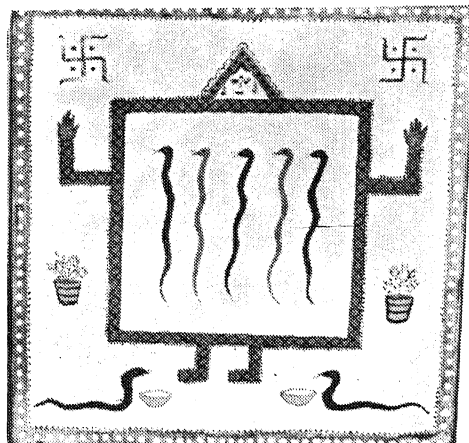
नाग पंचमी

कुनघुसूं पूने

आषाढ़ मास की शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा गुरू पूर्णिमा के नाम से जानी जाती है बुन्देलखण्ड में इसका स्वरूप भिन्न होता है। यहाँ कुलवधू या गृह वधू की पूजा इसी दिन की जाती है। स्त्री घर की शोभा है, मर्यादा है, सम्माननीय है, वंश–वृद्धि में सहायक है उसका वधू रूप गरिमामय होता है जिसमें बड़ों के लिये आदर व छोटों के लिये प्यार होना चाहिए। अपने कुल की मर्यादा में रहकर समाज में मान–सम्मान प्राप्त करना ही कुलवधू का दायित्व है। इन सभी पारिवारिक भावनाओं को अपने में समाहित किये कुनघुसूं की पूजा की जाती है।

इस पूजा का भित्ति चित्रण घर की वरिष्ठ महिला द्वारा किया जाता है। नाम के अनुरूप कुनघुसूं का चित्रण कोने में किया जाता है। पूजागृह या रसोई के चारों कोनें गोबर से लीपकर उस पर हल्दी से पुतरियां बनाई जाती हैं। यह बहुयें कहलाती हैं। संभवतः यह कुल की देवी या उन बहुओं का प्रतीकात्मक चित्रण है जो पुराने समय से कुल मर्यादा और वंश वृद्धि में सहायक बनीं। यह भी कहा जाता है कि यह भविष्य की बहुयें हैं जो परम्परानुसार परिवार को संचालित कर उसे समाज में सम्माननीय स्थिति में रखेंगी।

भित्ति चित्रण के पश्चात इन प्रतीकात्मक बहुओं को घी गुड़ का भोग लगाकर विधिवत पूजा की जाती है। वरिष्ठ महिला ऐसी प्रार्थना करती है कि "हे कुलवधू, तुम हमारे परिवार की लक्ष्मी बनकर धन–धान्य को परिपूरित कर, वंश बेल में वृद्धि करो और कुल की लाज, मान–मर्यादा तथा पारिवारिक सद्भाव बनाये रखो।" यह समस्त गुण यदि कुलवधू में हैं तो वह परिवार में सुख समृद्धि बनाये रखने और वृद्धि करने में सहायक

होगी। प्रतिवर्ष यह पूजन परिवार की वधुओं को अपने दायित्वों तथा कर्तव्यों को स्मरण कराता है।

कुनघूसूं से सम्बंधित एक पौराणिक कथा भी है –

एक बार राजा दक्ष प्रजापति ने बहुत बड़ा यज्ञ किया। उसमें समस्त देवताओं को आमंत्रित किया, किन्तु अपने दामाद शंकर तथा पुत्री सती को आमंत्रित नहीं किया। जब सती को यज्ञ के बारे में ज्ञात हुआ तब वे यज्ञ में जाने की जिद करने लगीं। भगवानशंकर ने बहुत समझाया कि विवाह के बाद पितागृह पुत्री के लिये पराया हो जाता है। बिना निमन्त्रण के वहाँ नहीं जाना चाहिये व्यर्थ ही अपमान होगा। किन्तु सती माता–पिता के प्रेम में वशीभूत हो अपनी मान–मर्यादा भूलकर यज्ञ में पहुँच गई। वहाँ सभी भगवानों के आसन थे किन्तु भगवान शंकर को स्थान नहीं दिया गया था और देवी सती का भी अपमान हुआ। क्रोधित हो सती ने हवन कुंड में कूदकर आत्मदाह कर लिया। भगवान शंकर ये घटना जान कर रौद्र रूप में आ गये। उन्होंने अपने वीरभद्र नामक गण को यज्ञ विध्वंस करने भेजा। वीरभद्र तथा अन्य गणों ने यज्ञ खंडित कर उपस्थित देवताओं को अंग–भंग कर दिया। भगवान विष्णु ने शंकर जी से शान्त होने की तथा देवताओं को पुर्नरूप प्रदान करने की प्रार्थना की। शंकर जी ने प्रार्थना स्वीकार कर सबको क्षमा कर दिया किन्तु देवी सती को वे क्षमा न कर सके क्योंकि देवी सती ने पति की आज्ञा न मान अपनी मान मर्यादा भुलाकर स्वयं अपना और अपने पति का अपमान होने दिया। देवी सती दस हजार वर्षों तक कोयल बनकर वन में रही। उसके पश्चात् राजा हिमवान की पुत्री पार्वती के रूप में जन्म लेकर उन्होंने कठिन तपस्या की तब भगवान शिव उन्हें पति रूप में प्राप्त हुए।

इस कथा का तात्पर्य कुनघुसूं पूने के पूजन उद्देश्य से मिलता हुआ है। भारतीय संस्कृति में स्त्री को अपने पतिगृह के पारिवारिक नियमों का पालन करना चाहिये। समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है।
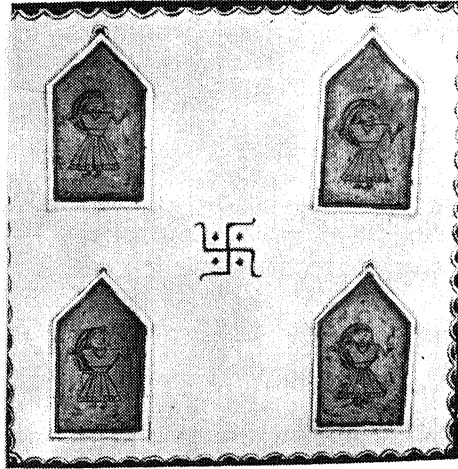
कुनघुसूं पूने

हरछठ

भाद्रपद मास में कृष्ण पक्ष की षष्ठी तिथि पर हलषष्ठी मनाई जाती है जिसे बुन्देली में 'हरछठ' या 'हलछठ' कहा जाता है। बलराम श्रीकृष्ण के बड़े भाई थे। वे अत्यन्त बलशाली थे। उनका जन्म दिवस पुत्रवती स्त्रियाँ बहुत नियम से व्रत रखकर मनाती हैं और प्रार्थना करती हैं कि बलराम जैसा बलशाली और भाग्यवान पुत्र उनका भी हो। भगवान बलराम का मुख्य आयुध हल तथा मूसल है। इसी कारण कृषि कार्य करने वाले हल की पूजा भी उस दिन करते हैं। उस दिन खेतों में हल चलाना मना है। चूंकि हल पूजित है इस कारण हल का जोता हुआ अनाज खाना व्रत में निषेध है। लोक परम्परा ऐसी है कि व्रत रखने वाली स्त्रियां हरछठ को गाय का दूध व उससे बना कोई भी पदार्थ जैसे दही, घी, इत्यादि प्रयोग नहीं करती हैं क्योंकि गाय का पुत्र बैल होता है और बैल खेतों में जुताई करने के काम आता है। इसी कारण हरछठ को भैंस का दूध, उससे बना दही व घी प्रयोग करती हैं। महुआ तथा पसई का चावल जो तालाब के समीप घासमें उत्पन्न होता है व्रत में खाया जाता है। शक्कर गन्ने से बनती है और गन्ना खेतों में बोया जाता है इस कारण शक्कर भी व्रत में वर्जित है। महुआ की दातुन की जाती है।

व्रत रखने वाली स्त्रियां भित्ति चित्रांकन कर हरछठ की पूजा करती हैं। वैसे तो यह भगवान बलराम का जन्म दिन है किन्तु षष्ठी तिथि पर होने के कारण इसे देवी का रूप मान लेते हैं यह षष्ठी देवी के रूप में चित्रित भी की जाती है। भित्ति पर भैंस के गोबर से लीपकर आयताकार आकृति बना लेते हैं जब वह सूख जाये तब चावल भिगोकर पीस कर घोल तैयार कर लेते हैं और लकड़ी में रूई लगाकर ब्रश तैयार कर लेते हैं। पिसे चावल का घोल तैयार करके ब्रश की सहायता से षष्ठी देवी का मुख बनाते हैं, तत्पश्चात उनकी वृहद काया बनाई जाती है दोनों ओर दो हाथ तथा नीचे दो पैर बनाते हैं। हरछठ में भगवान बलराम तथा श्रीकृष्ण पारम्परिक शैली के चित्र बनते हैं। सूर्य चन्द्रमा, गंगा–यमुना, माँ–पुत्र, खिलौने, दही बेचने वाली, हल चलाता किसान, स्याऊ झालर गाय, जरिया, छेवला इत्यादि चित्रानुसार आकृतियाँ बनाते हैं। बुन्देलखण्ड में यह पुरानी परम्परा का चित्रण है। ग्रामीण क्षेत्रों के दूरवर्ती भागों में छेवले के पत्ते पर हल्दी, ऐपन या चंदन से छैः पुतरियाँ या एक पुतरिया बनाकर काँस से छैः गाँठ लगाकर पत्ते को बाँध देते हैं। उसी की पूजा की जातीहै। बुन्देलखण्ड विस्तृत क्षेत्र में कई बार एक ही पूजन के विभिन्न रूप प्राप्त होते हैं।
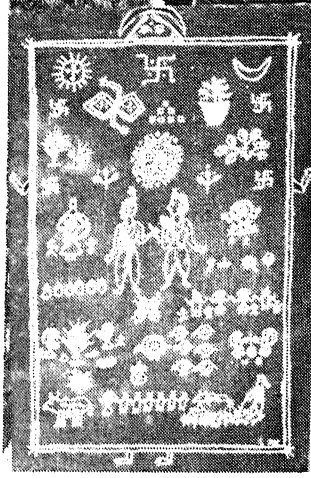
हरछठ

हरछठ पूजन करने के लिये आँगन में आटे या ऐपन से चौक बनाकर उस पर जरिया (छोटी बेरी) तथा छेवले (ढांक) की डाल मिट्टी रखकर गाड़ देते हैं। भित्ति चित्रण के समक्ष छोटी–छोटी मिट्टी की डबुलियों में छह प्रकार का भुना हुआ मिला जुला अनाज (गेहूँ, चना, जौ, मक्का, धान और महुआ) भर देते हैं। छेवले की 'दुनियाँ' (एक पत्ते से बना छोटा दोना) में पसई का चावल और दही मिलाकर रख देते हैं। डबुलियाँ और दुनियाँ संख्या में छैः होती है। पूजा में धूप दीप नैवेध आरती के साथ कथा कहना अनिवार्य है। हल षष्ठी की पूजा में छैः कहानी कहने की परम्परा है। सभी कथाओं का सार तथा संदेश यही होता है कि दूसरे के सुख व समृद्धि से कभी ईर्ष्या नहीं करनी चाहिये ईश्वर ऐसे व्यक्तियों की इच्छा कभी फलीभूत नहीं होने देते। बुरा सोचने का प्रतिफल हमेशा बुरा ही होता है। इस कारण सदैव दूसरे की भलाई की सोचें। साथ ही झूठ बोलने का परिणाम भी भुगतना पड़ताहै। इसी प्रकार के नैतिक संदेशों को समाहित करे 'हलछठ' की कहानियाँ कही जाती हैं।

एक कहानी है जो बुन्देलखण्ड में प्रमुख रूप से प्रचलित है– एक मठियारी (मठा बेचने वाली) थी वह दूसरे गाँव जाकर प्रतिदिन मठा बेचा करती थी। वह बहुत व्यवहार कुशल थी, किन्तु उसे झूठ बोलने की खराब आदत थी।

मठियारी गर्भवती हुई तब भी प्रतिदिन मठा बेचने जाया करती थी। एक बार वह खेत पार करके दूसरे गाँव जा रही थी, तभी प्रसव पीड़ा हुई। वहीं छेवले के पेड़ के नीचे उसने एक पुत्र को जन्म दिया

वह 'हरछठ' का दिन था। मठियारी ने सोचा कि मैं गाँव जाकर मठा बेच आऊँ लेकिन पुत्र जन्म होने का पता चलने पर खरीदने वाली स्त्रियाँ उसे अपवित्र समझ मठा नहीं लेंगी। इस कारण वह अपने पुत्र को छेवले के पत्तों से छुपा कर गाँव जाने लगी। खेत में एक किसान हल चला रहा था मठियारी ने उससे कहा कि, "छेवले के पेड़ के नीचे मेरा सामान रखा है तुम उसकी रखवाली करना मैं अभी मठा बेचकर आती हूँ। किसान मान गया। मठावाली गाँव में गाय के दूध के मठे को भैंस के दूध का मठा बताकर बेच आई। इधर किसान मठियारी को दिया वचन भूल गया और उसने हल छेवले के पेड़ के नीचे तक चला दिया, जिससे मठियारी के नवजात शिशु के पेट में हल का फल चुभ गया। शिशु के रोने पर किसान ने छेवले के पत्ते हटा कर देखा तो वह बच्चे को देखकर हतप्रभ रह गया। किसान ने जरिया के काँटे से शिशु के पेट में टाँके लगा दिये। जब मठियारी आई तब शिशु की हालत देखकर रोने लगी। किसान के समझाने पर वह समझी कि झूठ बोलने के कारण यह सब हुआ है। मठियारी ने गाँव जाकर सभी व्रतधारी स्त्रियों को बताया कि मठा गाय का है वे प्रयोग न करें। हल षष्ठी मइया की कृपा से मठियारी का पुत्र जीवित हो गया। इस प्रकार मठियारी ने सत्य बोलकर अपने पुत्र की जान बचाई।

दूसरी कथा है कि एक धर्मात्मा राजा थे उन्होंने जनता की भलाई के लिये तालाब खुदवाया किन्तु उसमें पानी नहीं भरा। पंडितों ने बतायाकि यदि तालाब में राजा अपने बच्चे की बलि दें तो पानी भर सकता है। माँ के रहते पुत्र की बलि दी नहीं जा सकती। इस कारण राजा ने रानी को मायके भेजकर पुत्र की बलि दे दी। तालाब पानी से भरगया। उधर रानी ने हरछठ का व्रत रखा उसे अपने पुत्र की याद आई तब उसने जाने का निश्चय किया अपनी माँ के कहने पर कि आज हरछठ है इसलिये जुते खेतों में होकर नहीं जाना। रानी मेंड़–मेंड़ चलती हुई जा रही थी और हरछठ मइया से अपने पुत्र की दीर्घायु की कामना कर रही थी। तभी उसने तालाब में कमल पत्र पर अपने पुत्र को खेलते देखा। वे पुत्र प्रेम में वशीभूत हरछठ की कृपा से पानी पर चलती हुई पुत्र को उठा लाई। इसी कथा को थोड़ी फेर बदल के साथ जेठानी की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति से जोड़कर दूसरी कथा कही जातीहै कि देवरानी के छैः बच्चों से निःसन्तान जेठानी जलती थी इस कारण देवरानी के मायके जाने पर जेठानी ने बच्चों को तालाब में फिंकवा दिया। शेष कहानी उपर्युक्त कहानी के अनुसार ही कही जाती है।

इसी प्रकार एक कहानी माँ व पुत्र के प्रेम के बारे में कही जाती है। जिसमें पुत्र पत्नी के कहने पर माँ के पास नहीं जाता था किन्तु षष्ठी देवी की कृपा से उसे माँ की याद आई। माँ द्वारा उसके खिलौने, बचपन के कपड़े इत्यादि बहुत संभाल कर रखे देख पुत्र को माँ के स्नेह का पता चला जिससे वह वहीं रह गया और पत्नी को भी बुला लिया। दोनों माँ की सेवा करने लगे।

कहानियों के बाद आँगन में लगाई छेवला और जरिया की डाल की परिक्रमा की जाती है स्त्रियाँ छैः बार कहती हैं– "जोता खाँऊ न जोता रौदूँ

आज मेरी दौं दौं।"

हरियाली अमावस्या

बुन्देलखण्ड में 'पूनें' (पूर्णिमा) तथा 'अमाउस' (अमावस्या) का बहुत महत्व होता है। यह दोनों तिथियाँ किसी त्योहार से कम नहीं होतीं। लड़कियों का यदि एक ही गाँव या शहर में विवाह हुआ होता है तो मायके में उन्हें 'अमाउस' 'पूने' भोजन पर सपरिवार आमंत्रित करने की प्रथा है। इन तिथियों में समाज में खबासन (नाइन) मेहतर और काम करने वालों (सेवक वर्ग) को 'पावन' (भोजन) देने का रिवाज है।

श्रावण मास की अमावस्या हरियाली अमावस्या कहलाती है, बुन्देलखण्ड में इसका बहुत महत्व है। यहाँ कन्या को देवी समान माना जाता है। अपने परिवार की तथा दूसरे की बेटी को सम्मान देकर पैर छूते हैं। विंध्य संस्कृति में विंध्याचल पर्वत और विंध्यवासिनी देवी पूजनीय है। ऐसी संस्कृति को मानने वाले क्षेत्र में बुन्देलखण्ड में कन्याओं में देवी रूप देखना अत्यन्त सामान्य बात है। अन्य क्षेत्रों में भी कन्या को देवी स्वरूप मानते हैं किन्तु यहाँ हरियाली अमावस्या को पूजा गृह में कन्या का चित्रांकन कर पूजने की अनोखी प्रथा है।

हरियाली अमावस्या पर परिवार के मान्यों को 'चूल्ह का न्यौता' (सपरिवार भोजन का निमन्त्रण) मान्यों में दामाद, बेटी, ननद, ननदोई तथा उनका परिवार सम्मिलित होता है। प्रातःकाल से परिवार की सभी महिलायें भोजन बनाने में लग जाती हैं। घर की वरिष्ठ महिला पूजागृह की भित्ति पर गोबर से लीप कर उस पर हल्दी से कन्या रूपी 'पुतरिया' चित्रित करती है। श्रावण मास को भाई बहन के स्नेह का मास कहा जाये तो अतिश्योक्ति न होगी। श्रावण मास में भाई विवाहित बहनों को मायके ले आते हैं बहन के उद्‌गार एक लोकगीत में प्रदर्शित हैं –

"चार मास चौमासे मोसे रहियो न जाये,

कहियो मेरे वीरन से लेअे पठाय।"

बहन–भाई के उसी प्रेम के प्रतीक 'सोनी–सोना' गेरू या हल्दी चावल को पीस कर 'ऐपन' तैयार करके चित्रित किये जाते हैं।

'पुतरिया' तथा 'सोनी–सोना' की पूजा दूध–भात या खीर का भोग लगाकर की जाती है। अक्षत रोली, धूप, दीप, फूल इत्यादि से विधि–विधान से पूजा होती है।

आमंत्रित परिवार भोजन करते हैं। प्रेम पूर्वक धन या उपहार देकर उनकी विदा सम्मानपूर्वक की जाती है।

हरियाली अमावस्या

कन्हैया आठें

कृष्ण जन्माष्टमी को बुन्देली में "कन्हैया आठें" कहा जाताहै। कृष्ण जन्म का उत्सव सम्पूर्ण भारत वर्ष में मनाया जाता है।

श्री कृष्ण गाय तथा पशुओं के रखवाले हैं वे कृषकों और ग्वालों के प्रिय है। अपनी बांसुरी की धुन पर तीनों लोकों को मोहित करने वाले हैं। ऐसे सुन्दर रूप व गुण वाले श्रीकृष्ण बुन्देलखण्ड में भी सर्वप्रिय हैं। एक कारण यह भी है श्रीकृष्ण को मान्यता देने का, कि बुन्देली संस्कृति ब्रज से प्रभावित रही है।

भादों मास (भाद्रपद) की कृष्ण पक्ष की अष्टमी को रोहिणी नक्षत्र में मध्य रात्रि (12 बजे) श्रीकृष्ण जन्मोत्सव के रूप में मनाई जाती है। स्त्री पुरूष दोनों व्रत रहते हैं। मन्दिरों व घरों में कृष्ण–जन्म व जन–जीवन से सम्बंधित झाँकियाँ सजाई जाती हैं।

बुन्देलखण्ड में घरों के भीतर पूजागृह या आंगन की चूने से पुती हुई भित्ति पर जन्माष्टमी का चित्रण करना स्त्रियों व बालिकाओं की कलात्मकता का प्रतीक होता है। यह चित्रण जन्माष्टमी से कई दिन पहले से प्रारम्भ हो जाता है। यह रंगीन चित्रण है इस कारण अत्यन्त लुभावना होता है। इस चित्रण में पारम्परिक रंगों के साथ प्राकृतिक फूल–पत्ती के रसों का प्रयोग भी किया जाता है। रंग प्रयोग भी स्वेच्छा से किया जाता है। आकार का बड़ा या छोटा होना चित्रण करने वाली स्त्री या बालिकाओं की इच्छा पर निर्भर होता है। श्रीकृष्ण जन्म से लेकर बाल्यकाल तक की विशेष घटनाओं को भित्ति पर

मनोयोग से चित्रित किया जाता है। इस चित्रण में चित्रों की संख्या या कृष्ण लीलाओं की विशेष घटनाओं के चित्रण का कोई बंधन नहीं होता है। भित्ति चित्रण बनाने वाली स्त्री के श्रीकृष्ण कथा ज्ञान पर निर्भर करता है। पुराने समय में पास–पड़ोस में सुन्दर 'कन्हैया आठें' लिखने की प्रतियोगिता सी होती थी। वर्तमान में चित्रण परम्परा लगभग समाप्त हो गई है।
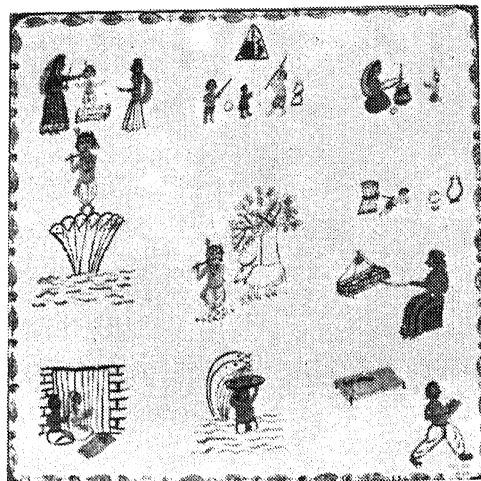
कन्हैया आठें

प्रसाद के लिये पंजीरी, पंचामृत, सोंठ के लड्डू और हरीरा बनाने का प्रचलन है। कई प्रकार के मेवा भी 'पागे' (शक्कर या गुड़ की चाशनी से जमाना) जाते हैं। वास्तव में यह पूजा ईश्वर भक्ति के साथ कृष्ण जन्म से पूर्व की तैयारी भी है जिसमें माता देवकी और यशोदा के लिये प्रसव के बाद के व्यंजन भी बनाये जाते हैं।

मध्य रात्रि में चित्रांकित भित्ति के समक्ष गोबर से लीपकर चौक पूर लेते हैं। उस पर सिंहासन रखकर बाल–गोपाल श्रीकृष्ण की मूर्ति विराजमान की जातीहै। मूर्ति को यमुना जल में स्नान कराके खीरा काटा जाता है जिसे 'नरा छीनना' कहते हें। बुन्देली लोकगीत में इसका वर्णन है –

"ऐसी मिजाजिन दाई कन्हैया को नरा न छीने
नरा न छीने मौ हूं न बोले, ठाड़ी ओंठ बिदोलें।"

तत्पश्चात मूर्ति को नवीन वस्त्राभूषणों से सुसज्जित कर सिंहासन पर विराजमान किया जाता है। झूला भी डाला जाता है जिस पर 'कन्हैया जू' को झुलाते हैं। प्रसाद चढ़ाकर भजन–कीर्तन होता है तब व्रत का पारायण किया जाता है।

श्रीकृष्ण जन्म से सम्बंधित कथा सर्वविदित है कि– अत्याचारी राजा कंस की चचेरी बहन देवकी का विवाह वसुदेव से हुआ तब आकाशवाणी हुई कि देवकी का आठवाँ पुत्र कंस का काल बनेगा। कंस ने देवकी, वसुदेव को कारागार में बंदी बनाकर रखा उनके सात बच्चों को उसने जन्म लेते ही

निर्दयतापूर्वक मार डाला। आठवें पुत्र के रूप में श्रीकृष्ण ने जन्म लिया। तब वसुदेव उन्हें यमुना पार ब्रज में नन्द और देवकी के घर छोड़ आये। वहीं पर पल बढ़ कर श्रीकृष्ण ने बाल्यकाल की अनेक लीलायें कीं। अन्त में कृष्ण ने कंस का वध कर माता–पिता को मुक्ति दिलाई।

श्री कृष्ण कर्मयोगी थे उनके जीवन का प्रभाव लोक–जीवन में बहुत पड़ा है। सामान्य वर्ग मैं कर्म पर अधिक विश्वास किया जाता है। कृष्ण पशु रक्षक हैं तथा उनके जीवन में प्रेम का रस भी है। यह दोनों पक्ष सदैव जन–मानस को आकर्षित करते रहे हैं।

बाबू की दौज

बुन्देलखण्ड में लगभग सभी देवी–देवताओं की पूजा होती है। साथ ही लोक–देवता भी पूजे जाते हैं। इसके अतिरिक्त प्रत्येक परिवार के अपने कुल देवी और कुल देवता होते हैं। उनका पूजन वर्ष में दो बार तथा जन्म या विवाह आदि मंगल कार्यों के समय किया जाता है। बाबू की दौज ऐसी ही पारिवारिक कुल देवी या देवता की पूजा है। जिसमें पूरा परिवार सम्मिलित होता है। इस पूजा को कहीं 'बाबू गुसाई' और कहीं 'मांय बाबू' की पूजा भी कहा जाता है। 'बाबू की दौज' कुछ परिवारों में नहीं होती है अधिकतर ब्राम्हण समाज में अवश्य होती है। यह पूजा पारम्परिक 'मांय के पट' के समक्ष की जाती है। 'मांय के पट' प्रत्येक परिवार की कुल देवी या कुल माता का प्रतीकात्मक चित्र होता है। इसको बनाने की विधि एक जैसी ही होती है। एक मिट्टी से निर्मित तख्ती को या फिर पूजागृह की दीवार को गोबर व चूने से पोतकर तैयार किया जाता है। उसे 'पट' कहते हैं, उस पर हल्दी या गेरू से 'पुतरियां' चित्रित की जाती हैं। इन पुतरियों की संख्या जाति व परिवार के आधार पर परिवर्तित हो जाती है। सामान्यतः छैः या सात पुतरियां बनाई जाती हैं।

बाबू की दौज की पूजा वर्ष में दो बार भाद्र पद मास के शुक्ल पक्ष की द्वितीया तथा माघ मास की शुक्ल पक्ष की द्वितीया को की जाती है।
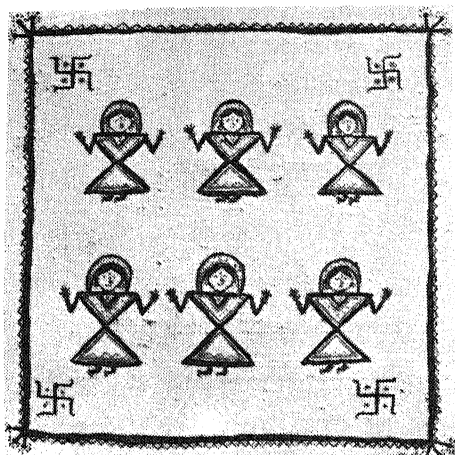
बाबू की दौज

बाबू की दौज के दिन अधिकांश घरों में कच्ची रसोई (दाल, कढ़ी, रोटी, चावल, फरा, बरा आदि) बनाई जाती है। इसे पारिवारिक भोजन की संज्ञा दी जाती है। पूजा करने से पूर्व घर की कन्याओं को पूजा में सम्मिलित होने से रोक दिया जाता है। पुत्रियों को दूसरे परिवार में जाना है। इस भावना से पारिवारिक पूजा में उनका भाग लेना वर्जित है। पट के समक्ष भूमि पर एक कोरा रंगीन कपड़ा बिछाया जाता है जिसे 'फरका' कहते हैं। उस फरके पर परिवार के सदस्यों की संख्या के अनुसार 'कोरा' (घर में पके भोजन के अंश) रखते हैं। इस क्रिया को 'कोरा पसारना' कहते हैं। 'मांय के पट' की पूजा हल्दी–चावल–पुष्प से करते हैं। घी की 'जोत' (ज्योति) जलाई जाती है। इस जोत का पूजा में अत्यन्त महत्व है, इसे 'बाबू की जोत' कहते हैं। वास्तव में जिस परिवार के सभी सदस्य मिलजुल कर पूजा करें और कुल देवी का आर्शीवाद प्राप्त करें, उस घर में ज्ञान और प्रेम की ज्योति का महत्व तो होना ही चाहिये। परिवार के सभी सदस्य इस 'जोत' को देखते हैं।

पूजा के पश्चात घर के मुखिया या वरिष्ठ महिला के हाथों सभी अपना–अपना 'कोरा' प्रसाद स्वरूप ग्रहण करते हैं। जो भी 'कोरा' लेता है वह 'मांय के पट' और अपने से वरिष्ठ के पैर छूता है। पूजा में दक्षिणा भी चढ़ाई जाती है, जो घर की वरिष्ठ महिला को सौंपी जाती है। यह परम्परा पारिवारिक धन की बचत के रूप में चलाई गई लगती है। वर्ष में दो बार 'बाबू की दौज' की पूजा के समय, वरिष्ठ महिला को सौंपी गई धनराशि परिवार की आवश्यकताओं हेतु खर्च कर दी जाती है। उस धन का कम या अधिक होना पारिवारिक आमदनी पर निर्भर करता है। कई बार ऐसा होता है कि परिवार का कोई सदस्य पूजा में सम्मिलित नहीं हो पाता है किन्तु उसका 'कोरा' अवश्य निकाला जाता है। उस 'कोरा' को परिवार का कोई दूसरा सदस्य ग्रहण कर लेता है। लोक–जीवन में पारिवारिक प्रेम ओर सामंजस्य का इतना सुन्दर उदाहरण कोई दूसरा हो ही नहीं सकता। वर्ष में दो बार होने वाली पूजा, दूर रहने वाले पारिवारिक सदस्यों को पास ले आती है।

पूजा के बाद 'जोत' के ऊपर कोई बर्तन ढंक देते हैं, जिससे जोत बुझ जाती है इसे 'जोत सिराना' कहते हैं। अगर परिवार की लड़की का विवाह ऐसे घर में हो जाये जहाँ बाबू की पूजा होती है, तो वह अपने पिता के घर होने वाली बाबू की पूजा में सम्मिलित हो सकती है।

सांउन सुदी नमें

बुन्देली लोक जीवन में तिथियों का बहुत महत्व है। तिथियों से ही तीज–त्योहार मनाये जाते हैं। सांउन सुदी नमें अर्थात श्रावण मास की शुक्लपक्ष की नवमीं को भित्ति चित्रांकन करके शिव–पार्वती की पूजा करने का विधान है। श्रावण मास में शिव–पार्वती का अर्चन करना बुन्देलखण्ड में अति शुभ

माना जाता है। श्रावण मास के लगभग सभी त्योहारों में शिव–पार्वती की पूजा की जाती है। सावन के सोमवार पर शंकर जी 'ढारने' (जल चढ़ाने) की परम्परा है। मास पर्यन्त शिवलिंग पर बेल पत्र चढ़ाने से मनोकामना पूर्ण होती है।

सांउन सुदी नमें का महत्व पूजन के साथ–साथ 'भुंजरिया' बोने के लिये भी है। 'भुंजरिया' बोने के लिये लड़कियाँ ओर महिलायें खेत की उपजाऊ मिट्टी दोने में भरकर रख देती हैं और उसमें गेहूँ के दाने बो देती हैं। भाद्रपद पूर्णिमा अर्थात रक्षा बन्धन के दिन तक गेहूँ अच्छी तरह से उग जायें इसके लिये प्रतिदिन वे उसकी देख–रेख भी करती हैं। रक्षा बन्धन पर बहनें भाईयों को राखी बाँधती हैं तथा भुंजरिया खोंट (तोड़) कर देती हैं। यह शुभ शगुन के रूप में भाई और अन्य लोग स्वीकार करते हैं। भाद्रपद पूर्णिमा को ही समीप की नदी या तालाब में भुजरियां 'सिराने' (विसर्जित करने) की प्राचीन परम्परा है किन्तु महोबा क्षेत्र में भुंजरिया भाद्रपद कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को सिराई जाती है उसे 'बासौ सांउन' कहते हैं। भुंजरियों का सांस्कृतिक महत्व है किन्तु भुंजरिया विसर्जन का महत्व चन्देल वंश में घटित ऐतिहासिक घटना के कारण द्विगुणित हो गया है।

दिल्ली नरेश पृथ्वीराज चौहान राजा परिमाल को पराजित कर उनकी बेटी चन्द्रावलि से अपने पुत्र का विवाह करना चाहते थे। भुंजरियाँ विसर्जन के दिन महोबा स्थित कीर्ति सागर तट पर पृथ्वीराज चौहान और जोगी वेशधारी, वीर शिरोमणि भ्राता– द्वय आल्हा–ऊदल के मध्य घमासान युद्ध हुआ। जगनिक ने लिखा है –

सावन सुद पूनों गई, भादों परमा आन।
इतै कुंवर जोगी, सजै, उतै भूप चौहान।

भुजरियां सिराने रानी मल्हाना व उनकी पुत्री चन्द्रावलि पालकी में बैठकर कीर्ति सागर तट पर आईं। उनके साथ नगर की अन्य स्त्रियाँ भी हाथों में भुंजरिया के दोने ले 'कजरी' गीत गाती कीर्ति सागर की ओर चलीं, किन्तु तभी रणभेरी बज उठी। पृथ्वीराज चौहान के शब्दभेदी वाणों को निष्प्रभावी कर चंदेली वीरों ने अपना पराक्रम दिखाया। अन्त में चौहान सेना पराजित हुई। आल्हा–ऊदल ने अपने संरक्षण में भुंजरियों का विसर्जन कराया। बहन चन्द्रवलि ने उनको भुंजरिया खोंट कर दी तथा हाथ में रक्षा सूत्र बाँधा। इस ऐतिहासिक घटना के कारण बुन्देलखण्ड के कुछ क्षेत्रों में जो आल्हा–ऊदल से प्रभावित रहे हैं वहाँ भाद्रपद की प्रतिपदा को राखी बाँधी जाती है।

'भुजरियों को 'कजलियाँ' भी कहते हैं। इनका आर्थिक महत्व भी है यह आने वाली रबी की फसल कैसी होगी इसकी बानगी प्रस्तुत करती हैं। खेतों की मिट्टी और बीज का गेहूँ जब भुंजरियों का

रूप लेता है तो उसके अंकुरण से यह अनुमान लगाते हैं। अगर भुंजरियाँ पीली और बिखरी है तो बेकार फसल, हरी और घनी होने पर उत्तम फसल मानी जाती है। यह मिट्टी परीक्षण का लोक जीवन में सरल तरीका है।

'सांउन सुदी नमें' के भित्ति चित्रण से पूर्व भुंजरियों के बारे में वर्णन आवश्यक था चूंकि चित्रण में भी भुंजरिया बनती हैं। सांउन सुदी नमें का भित्ति चित्रण चूने से पुती सफेद दीवार पर ही किया जाता है। यह चित्रण रंगीन होता है इसमें पारम्परिक तथा चूने के रंगों का प्रयोग होता है किन्तु विशेष रूप से स्याही तथा महावर प्रयुक्त होता है। चित्रण चौकोर या आयताकार में किया जाता है। यह चित्रण ज्यामितीय होता है। इसमें भगवान शिव की ज्यामितीय आकृति नीली स्याही से तथा देवी पार्वती की आकृति महावर से चित्रित की जाती है। भुंजरिया के नौ दोने, तुलसी घरा, श्रावणमास के पक्षी मोर, पपीहा भी चित्रित किये जाते हैं। सांउन सुदी नमें से सम्बंधित कथा की पात्र देवरानी–जेठानी सिर पर मटकी रखे, पालने में सोता शिशु पृथ्वी पर टोकरी के नीचे मृत सर्प तथा नेवला भी चित्र में बनाये जाते हैं। आल्हा–ऊदल के पराक्रम से प्रभावित क्षेत्रों में कहीं–कहीं घुड़सवार जो संभवतः आल्हा–ऊदल हैं, और पालकी में बैठी रानी मल्हना और चन्द्रावलि भी चित्रित की जाती हैं। वैसे उनके चित्र कल्पना आधारित ही होते हैं।
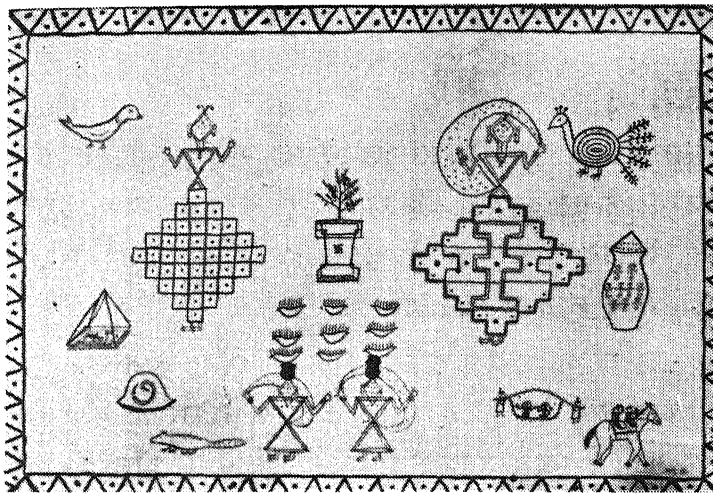
साउन सुदी नमें

पूजन विधान तो सामान्य तौर पर पकवानों और मौसम के फलों का प्रसाद लगा कर धूप, दीप, फूल, बेलपत्र इत्यादि चढ़ाकर पूर्ण किया जाता है।

सम्बंधित दन्त कथा अत्यन्त रोचक व नैतिक उपदेश देती है –

"बिना विचारै जो करै, सो पीछे पछताय।
काम बिगारै आपनो, जग में होत हँसाय।

कथा इस प्रकार है कि एक परिवार में जेठानी–देवरानी थीं वे बड़े प्रेम से रहती थीं उसके कोई सन्तान न थी। इस कारण उन्होंने एक नेवला पाला और उसे पुत्रवत प्यार करने लगीं। दोनों ने शिव पार्वती का सांउन सुदी नमें को व्रत रखकर पूजन किया। फलस्वरूप देवरानी ने पुत्र–रत्न को जन्म दिया। दोनों उसे बहुत प्यार करती थीं। एक दिन घर में कोई नहीं था। शिशु सो रहा था जेठानी–देवरानी पानी भरने गईं और नेवले को शिशु की सुरक्षा के लिये छोड़ गईं। उन दोनों के जाने के बाद एक काला सर्प शिशु को डसने के लिये आया, किन्तु नेवले ने उसे मार कर डलियाके नीचे रख दिया। फिर द्वार पर आकर जेठानी–देवरानी की प्रतीक्षा करने लगा। जब वे वापस आईं तब नेवले के मुख में रक्त लगा देखकर वे समझीं कि उसने शिशु को मार दिया है। क्रोध में आकर दोनों ने नेवले को मार दिया। जब वे दु:खी मन से अन्दर गईं तब जाना कि शिशु जीवित है। वे पछताने लगीं और शिव पार्वती का पूजन किया। वे प्रगट हुये तब दोनों ने नेवले को जीवित करने की प्रार्थना की तब भगवान शिव ने कहा कि "नेवले ने स्वामिभक्ति दिखाई इस कारण वह देवलोक पहुँच गया और तुम दोनों को अपनी करनी का पश्चाताप हो रहा है इससे तुम्हारे पाप धुल गये। प्रतिवर्ष हमारे पूजन में तुम्हारी कथा कही जायेगी जिसको सुनने से सबको ज्ञान प्राप्त होगा।"

दस्टौन

जीवन के सोलह संस्कारों में जन्म–संस्कार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। परिवार में शिशु के जन्म के साथ ही परिवार में आनन्द उल्लास का संचार हो जाता है। उसी प्रसन्नता को प्रगट करने के लिये जन्म संस्कार से जुड़े अनेक उत्सव होते हैं। ऐसा ही उत्सव है दस्टौन, जिसमें प्रसूता के मातृत्व की पूजा की जाती है। यह शिशु जन्म के दसवें दिन होता है।

इस अवसर पर प्रसूता को जड़ी बूटियों या नीम के गर्म पानी से स्नान कराके मायके से आये नवीन वस्त्र आभूषण धारण करवाये जाते हैं। शिशु के लिये भी उसकी बुआ वस्त्र–आभूषण, पालना, खिलौने इत्यादि लेकर आती है पुराने समय में पालने के स्थान पर बाँस की बनी 'चंगेल' आती थी। पुरा–पड़ोस में दस्टौन का बुलावा लगता है। सोहर व मंगल गीत गाये जाते हैं। भोजन में संमूदी रोटी (कढ़ी, चावल, दाल, रोटी, बरा, फरा, पापड़, पछयावर आदि) बनती है रिश्तेदारों की पंगत भी की जाती है। प्रसूति गृह की भित्ति पर दस्टौन का चित्रांकन गोबर या गेरू से किया जाता है। प्रसूता की ननद प्रसूतिगृह की भित्ति पर दस्टौन बनाती है वही दस्टौन का पूजन भाभी से करवाती है। घर में बनी भोजन सामग्री प्रसाद रूप में प्रयोग की जाती है। हल्दी, चन्दन, अक्षत व फूल, दीप आदि से दस्टौन के भित्ति

चित्र की पूजा की जाती है। प्रसूता की गोद में आटे से बने चन्दा–सूरज डाले जाते हैं। बुआ बच्चे को काजल लगाती है। ननद को इन सब कामों का नेग भी मिलता है।

दस्टौन के भित्ति चित्रण में सूरज–चन्दा, सांतिया, चौक, गंगा–जमुना आदि चित्रित किये जाते हैं। यह देवी स्वरूप चौकोर आकृति में चित्रण होता है।
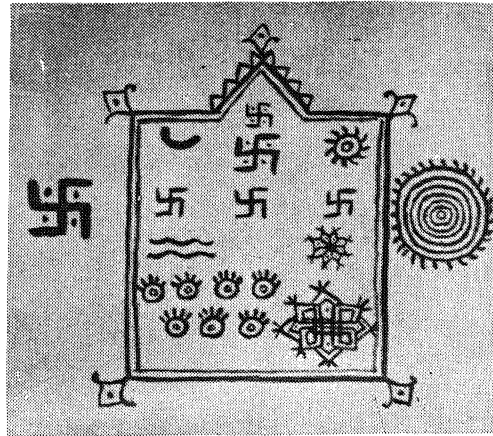
दस्टौन

दुर्गा आठें

इसे दुर्गा अष्टमी के रूप में भी जानते हैं। दुर्गा की उपासना वर्ष में दो बार चैत्र मास में तथा आश्विन मास में की जाती है। सम्पूर्ण नवरात्रि में देवी के नौ रूपों की आराधना की जाती है। यह नौ रूप क्रमशः शैल पुत्री, ब्रम्हचारिणी, चन्द्रघंटा, कुष्माण्डा, स्कन्दमाता, कात्यायिनी, कालरात्रि, महागौरी और सिद्धिदात्री होते हैं।

माँ दुर्गा का प्रादुर्भाव शक्ति स्वरूप में माना गया है। इससे सम्बंधित कथा मे असुर महिषासुर का वध करने के लिये विष्णु और शंकर के तेज से दुर्गा जी का जन्म हुआ फिर उन्होंने महिषासुर का वध किया।

नव दुर्गा में प्रतिपदा के दिन घट को चंदन से लेपकर हल्दी रोली से अलंकृत कर स्थापित किया जाता है। मिट्टी की वेदी बनाकर उसमें गेहूँ और जौ के बीज बो दिये जाते हैं। बुन्देलखण्ड में इन्हें 'जवारे' कहते हैं यह मिट्टी के खप्परों में या मिट्टी के बर्तनों में बोये जाते हैं यह धरती की उर्वरा शक्ति के द्योतक हैं। घट में हरे पत्ते जल, दूध, पंच पल्लव, पंचरत्न, डालकर ऊपर से गेहूँ व जौ से भरा पात्र ढंक देते हैं। उस पर लाल कपड़े में नारियल लपेट कर रख देते हैं। प्रतिदिन दुर्गा माँ की

आराधना की जाती है। दुर्गा अष्टमी को बुन्देलखण्ड में दुर्गा जी का चित्रांकन भित्ति पर किया जाता है।

भित्ति चित्रांकन के लिये सिंदूर या रोली को घी में घोल लेते हैं जिससे दीवार पर सिंदूर का स्थायित्व बढ़ जाये। इस घोल से एक पुतरिया बनाते हैं तथा माँ दुर्गा का शक्ति प्रतीक त्रिशूल भी बनाया जाता है। माँ दुर्गा की चित्रित छवि को कभी–कभी कपड़े से निर्मित लहंगा चुनरी से सुसज्जित भी कर देते हैं।
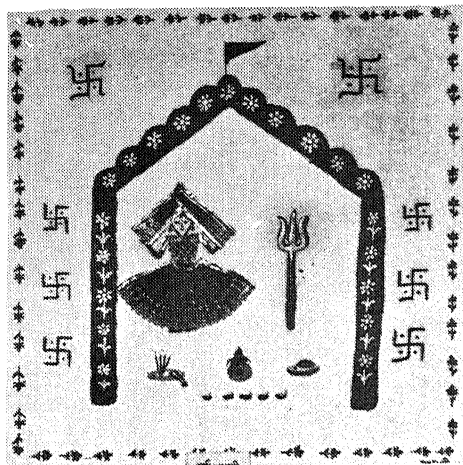
दुर्गा आठें

दुर्गा जी के समक्ष अठवाई, खीर, हलुआ आदि बनाकर प्रसाद के निमित्त रखते हैं। देवी के पूजन की पूर्णता विभिन्न सामग्रियों को अर्पित करने से मानी जाती है। जो लोग नौ दिन का अनुष्ठान करते हैं उन्हें नियमों का कड़ाई से पालन करना होता है। देवी की पूजा में– रोली, अक्षत, फूल, गन्ध, सुपारी, पान, तिल, आठ तरह का तेल, गंगाजल, नारियल का पानी, गन्ने का रस, शहद, दही, दूध, घी आदि प्रयोग करने का प्रावधान है। किन्तु भगवान भाव के भूखे होते हैं तथा दुर्गा जी हमारी माता हैं वे सदा भक्तों को बालक जान क्षमा करती हैं। यह लोक विश्वास धनी व निर्धन सभी को दुर्गा अष्टमी का पूजन करने का अधिकार देता है।

प्रसाद के आठ 'कोरा' बनते हैं नारियल फोड़ा जाता है। कन्या जिमाई (भोजन कराना) जाती है नवरात्रि में बोये गये जवारे आगामी फसल की स्थिति दर्शाते हैं। 'जवारे' सिराने से पहले खोट कर देवी के मन्दिर पर चढ़ाये जाते हैं और सबको बाँटे जाते हैं यह सुख, सौभाग्य और शान्ति के प्रतीक माने जाते हैं। जवारे की शोभा यात्रा में कोई भक्त शरीर के किसी अंग (जीभ, गाल, बाँह आदि) में लोहे की साँग (शलाका) बेध लेता है किन्तु रक्त एक बूँद नहीं निकलता इसे माँ का प्रताप माना जाता है। शुभ कार्यों हेतु नवरात्रि के सभी दिन शुभ माने जाते हैं। इन तिथियों में विवाह, सगाई इत्यादि किये जाते हैं।

कोहबर या मैहर की पूजा

विवाह के समय अनेक रीति रिवाज होते हैं। बुन्देलखण्ड में भी लोकाचार होते हैं। जब वर–वधू फेरों से उठते हैं तब कोहबर की रस्म होती है। यह एक प्रकार से वधू पक्ष वाले वर से अपने पूजागृह में पूजा कराते हैं। इसी अवसर पर साली व सलहज (वधू की बहन व भाभी) वर से हास–परिहास करती हैं। पूजागृह में विवाह के समय एक भित्ति चित्र भी बनाया जाता है। बुन्देलखण्ड में इसे मैहर की पूजा भी कहते हैं। यह भित्ति चित्र गेरू से बनाने की परम्परा है। चित्र चौखाने में देवी–देवता स्वरूप देकर चित्रित किया जाता है। चित्र में सूरज, चन्दा, सॉंतिया, चौक, गंगा–जमुना, करवा, मैरइयां आदि चित्रण किया जाता है। परिवार तथा जाति के अनुसार इसमें परिवर्तन भी हो जाता है। किन्तु मुख्यतः इन चित्रों को चित्रित किया जाता है। चित्रण के समक्ष परिवार के सदस्यों द्वारा भरी गई जल की गगरी होती है। संयुक्त परिवार में सबका मैहर एक ही होता है। परिवार में इसे 'मैहर भरना' कहा जाता है। विवाह के प्रारम्भ में ही मैहर की पूजा की जाती है। आटे की मीठी 'मांय' बनती है जो विवाह के बाद अपने परिवार में बॉंटी जाती है।

भित्ति चित्रण के समक्ष वर–वधू को ले जाया जाता है। कमरे के द्वार पर वधू की बहन दरवाजा रोककर नेग लेकर वर–वधू को भीतर जाने देती है। कमरे में कपड़े में छुपाकर अपूज्य वस्तुऐं जैसे वधू की चप्पल आदि रख दी जाती हैं उसे कुल देवी बताकर वर से पूजा करने को कहा जाता है यदि वह पूज देता है तो सभी उसका परिहास करते हैं। वधू की भाभी पूजा में दो बाती के दिये को वर से एक करने को कहती है। वर को कोई मूल्यवान धातु (सोना, चाँदी) की सींक या सिक्का देकर 'बाती मिलवाई' जाती है। यह वर–वधू के मिलन का प्रतीक भी माना जाता है। वधू के कुल देवताओं के समक्ष वर का वचनबद्ध होना भी है कि हम दोनों आज से मन–शरीर से एक होकर जीवन व्यतीत करेंगे। जलती हुई बाती प्रेम, विश्वास और जीवंतता की प्रतीक होती है। वर–वधू एक दूसरे को दूध–भात या खीर खिलाते हैं। कुछ लोगों के यहाँ बताशे या मिठाई भी खिलाते हैं।
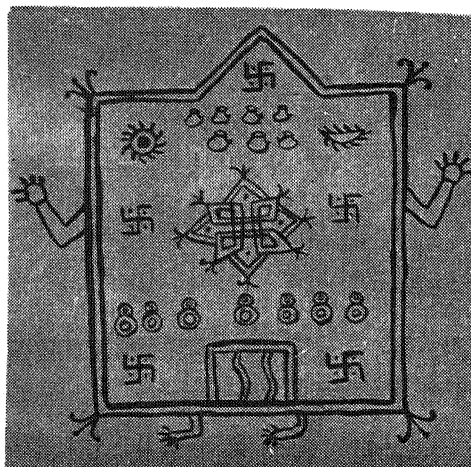
मैहर / कोहबर

सोमवती अमावस्या

बुन्देली में 'सोमती अमाउस' कहा जाता है। वैसे तो प्रतिमाह दो पक्ष होते हैं एक कृष्ण पक्ष दूसरा शुक्ल पक्ष। कृष्ण पक्ष का अन्तिम दिन अमावस्या और शुक्ल पक्ष की पूर्णिमा को माना जाता है। यदि अमावस्या सोमवार के दिन पड़ती है तो उसे सोमवती अमावस्या कहते हैं। इस दिन सुहागिन स्त्रियाँ व्रत रहती हैं। वे तुलसी घरा पर अखण्ड सौभाग्य देने वाले शिव–पार्वती का प्रतीकात्मक चित्रण हल्दी से करती हैं। शिव–पार्वती की आकृति पुतरा–पुतरिया जैसी ही बनाई जाती है। तुलसी–घरा की पूजा विधि विधान से करके महिलायें उसकी 108 परिक्रमा करती हैं। परिक्रमा की गिनती याद रखने के उद्देश्य से किसी वस्तु को जैसे – इलाइचीदाने, इलाइची या लौंग इत्यादि को गिनकर रख लेती हैं। तुलसी अपनी पवित्रता धार्मिकता एवं विश्वास के लिये संस्कृति में सम्माननीय है। सोमवती अमावस्या को शिव–पार्वती से चित्रित तुलसीघरा समस्त ब्रम्हाण्ड का प्रतीक बन जाता है। सुहागिन स्त्री द्वारा की गई प्रदक्षिणा सौभाग्यदायिनी मानी जाती है। इस दिन तीर्थ स्थानों पर जाना तथा वहाँ की नदियों में स्नान करना शुभ माना जाता है। कार्तिक मास की चतुर्दशी को भी तुलसी घरा पर हल्दी से राधा–कृष्ण के प्रतीकात्मक पुतरा–पुतरियां बनाकर पूजन किया जाता है।
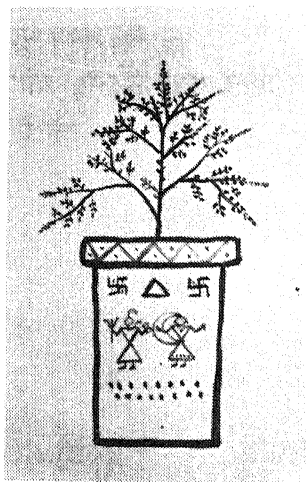
सोमवती अमावस्या

सुहागिले

बुन्देलखण्ड में प्रत्येक शुभ कार्य में सुहागिन स्त्रियों का महत्वपूर्ण स्थान होता है। देवी पूजन में 'सुहागिलें' (सुहागिनें) न्योती जाती है। लोक–जीवन में यह सुहागिनें कई प्रकार की होती हैं। इन अवसरों पर भित्ति चित्रित देवी की पूजा का विधान है। देवी की प्रतीक 'पुतरियां' अधिकांशतया सिंदूर से बनाई जाती हैं।

कालका देवी, बीजा सेन, मनसा देवी या दसारानी की सुहागिलें पारिवारिक सुरक्षा, समृद्धि एवं मनोकामना पूर्ति हेतु की जाती है। इनमें से कालकादेवी तथा बीजा सेन का वार्षिक या घर में मंगलकार्य होते समय 'पाटा भरा' जाता है। जिसका अर्थ है पूजा में संदर्भित व्यंजनों तथा वस्तुओं को देवी को अर्पित कर सुहागिनों में या परिवार के सदस्यों में वितरित करना। सुहागिल में न्योती गई महिला व्रत रखती है।

विवाह के समय भी कुछ 'सुहागिलें' होती है। लड़के की बारात जाने के बाद घर में 'गौरइयां' खिलाईं जाती हैं। लड़की जब ससुराल से पहली विदा के बाद घर आती है तब 'सुहागिलें' खिलाई जाती हैं। प्रत्येक 'सुहागिलों' में सुहागिन स्त्रियों को भित्ति चित्रित देवी की पुतरियों की पूजा करना अनिवार्य है, तत्पश्चात् उसे देवी पर अर्पित सुहाग चिन्ह, चूड़ी, बिंदी, महावर, सिंदूर आदि दिया जाता है। बुन्देलखण्ड में संकटा की सुहागिलें भी होती हैं।
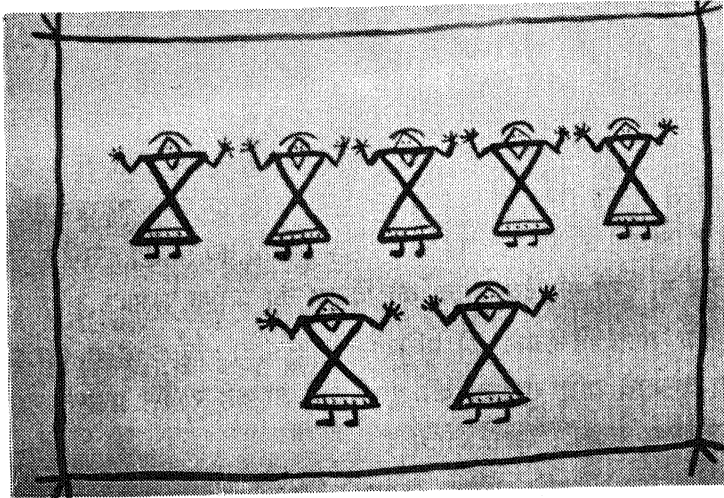
सुहागिलें

सुआटा

सुआटा बुन्देलखण्ड का प्रमुख लोकोत्सव है। यह आश्विन (क्वांर) मास की शुक्ल पक्ष की प्रतिपदा से नवरात्रि तक प्रतिदिन उषाकाल में खेला जाता है। यह नवरात्रि में खेला जाता है इस कारण इसे 'नौरता' भी कहते हैं। नौ+रता अर्थात नौ रातें।

सुआटा से सम्बंधित अनेक ऐतिहासिक पौराणिक एवं लोक कथायें प्रचलन में हैं। महाभारत कालीन घटना के अनुसार घटोत्कच का पुत्र बर्बरीक अत्यन्त बलशाली और देवी का परम भक्त था। वह महाभारत के युद्ध में पांडवों की ओर से वीरता पूर्वक लड़ा। अन्त में मृत्यु को प्राप्त हुआ मृत्यु से

पूर्व उससे भगवान श्रीकृष्ण ने अंतिम इच्छा के बारे में पूछा। बर्बरीक ने कहा मैं अविवाहित हूँ इस कारण विवाह करना चाहता हूँ तथा दूसरी इच्छा यह है कि मैं महाभारत का सम्पूर्ण युद्ध अपनी आँखों से देखना चाहता हूँ। भगवान श्री कृष्ण ने बर्बरीक की अन्तिम इच्छा का सम्मान करते हुये उसे वरदान दिया कि कलयुग में समस्त क्वांरी कन्याओं से तुम्हारा विवाह होगा। उसका सिर काट कर श्रीकृष्ण ने समीप की पहाड़ी के शिखर पर रख दिया जिससे वह युद्ध देखता रहे। इस कथानक को सुआटा से सम्बंधित करने पर सुआटा की चित्रित दानव आकृति और ढाल तलवार युक्त छवि बर्बरीक की मानी जाती है। यह भी माना जाता है कि 'सुआटा' खेल में बालिकाओं का विवाह सुआटा से होता है। वीर पुरूष की छवि लिये 'टेसू' का सिर बर्बरीक का कटा सिर माना जाता है, जो पर्वत के शिखर पर था।

किन्तु दूसरी ओर लोक कथा इसका खंडन करती है उस लोक कथा के अनुसार – संकटासुर (सुआटा) नामक दैत्य क्वांरी कन्याओं का अपहरण कर उनके साथ विवाह रचाता था। बालिकाओं ने देवी माँ की पूजा कर सुआटा से रक्षा करने की गुहार की। दुर्गा जी ने सुआटा का वध किया सुआटा को देवी दुर्गा के हाथों मुक्ति प्राप्त हुई इस कारण प्रतिवर्ष माँ दुर्गा के साथ उसका भित्ति चित्र बनाकर लोकोत्सव मनाया जाता है।

मेरा यह मानना है कि माँ दुर्गा शक्ति स्वरूप में नवरात्रि में पूजी जाती है। उन्होंने महिषासुर जैसे राक्षस से नौ दिन युद्ध करके उसका वध किया जिसे कोई पुरूष नहीं मार सकता था। दुर्गा जी महिषासुरमर्दिनी के नाम से प्रसिद्ध हुईं। संभवतः 'सुआटा' महिषासुर का लोक स्वरूप है। नवरात्रि में बालिकायें देवी स्वरूपा मानी गई हैं। नवमीं को सुआटा का अंत महिषासुर का वध ही है। दूसरी प्रकार से यह कह सकते हैं कि आसुरी शक्ति पर माँ दुर्गा की देव शक्ति की विजय का प्रतीक सुआटा लोक उत्सव है।

किवदंती है कि राजा हिमांचल की पुत्रियों को सुआटा नामक दैत्य खा जाता था तब किसी ब्राह्मण ने बताया कि कन्यायें यदि सुआटा की पूजा करें तो वह राक्षस प्रसन्न होगा। बालिकायें ऐसा ही करने लगीं इसी कारण सुआटा खेला जाता है।

लोक कथाओं में सबसे प्रचलित लोक–कथा है कि सुआटा नामक दैत्य बालिकाओं को नवरात्रि में दुर्गा उपासना नहीं करने देता था वह जंगल के मार्ग में मिलकर उन्हें परेशान करता था। बालिकायें सूरजबलि और चन्द्रबलि नामक मुँह बोले भाइयों के संरक्षण में देवी पूजन हेतु जाती थीं। कालान्तर में टेसू नामक दैत्य का उदय हुआ जिसने सुआटा को मार दिया और उसकी पुत्री 'ढ़िरिया' से विवाह किया। एक अन्य लोक–कथा में सुआटा को भूतनाथ अर्थात शंकर मान लिया गया है किन्तु अंत में उसका अंग–प्रत्यंग साज सज्जा लूट कर उल्लास मनाना इस बात का खंडन करता है।

ऐतिहासिक घटनाक्रम के आधारपर गढ़कुण्डार पर मुहम्मद तुगलक ने आक्रमण कर दिया अनेकों जुझौति वीरों ने अपना बलिदान दे दिया। स्त्रियों द्वारा जौहर किया गया। बचे हुये जुझौति वीर पूर्वजों के देश सौराष्ट्र जाने के लिये कुन्तवार (वर्तमान में भिण्ड) में डेरा डाले थे। तब उन दुःखी ग्रामीण युवतियों की गुहार उन्हें पुनः जुझौति रण भूमि ले जाने के लिये आई युवतियाँ अपने सतीत्व की रक्षा

के लिये उन्हें पुकार रहीं थीं।

"पूंछत–पूंछत आये नारे सुआटा,

कौन बड़ी से तेरी पौर।"

यहाँ लोक गीत की पंक्ति को स्पष्ट करने हेतु सुआटा का शब्द विन्यास आवश्यक है। सु+अटा अर्थात सुन्दर अट्टालिकायें तथा 'नारे' अर्थात जय जय कार। स्त्रियों की करूण पुकार सुनकर वीर सामंतों ने जुझौति के अंचलों में वेश बदल कर ग्रामीण युवकों (टेसू) को गुरिल्ला युद्ध हेतु प्रशिक्षित किया, जो शत्रु सेना से शस्त्र व रसद लूट कर उन्हें शक्तिहीन बना देते थे।

"टेसू अगड़ करें, टेसू झगड़ करें,

टेसू लेई कै टरै।"

युवतियाँ रात्रि में ढिरिया के प्रकाश में सैन्य टुकड़ियों को मार्ग दिखाती थी तथा सूचनायें पहुँचाती थी। उस समय ढ़िरिया का छिद्र युक्त घड़ा समाज की जर्जर अवस्था का परिचायक था तथा दीपक धर्म व सतीत्व का प्रतीक था।

नवरात्रि प्रतिपदा से एक दिन पूर्व सुआटा बनाने के लिये बालिकायें उचित चबूतरा चुन लेती हैं। घरों के बाहर के चबूतरे इसके लिये उपयुक्त होते हैं। दीवार के सहारे मिट्टी से हिमालय पर्वत या सिंहासन बनाया जाता है। उस पर्वत मे नौ सीढ़ियां बनाते हैं। पर्वत के ऊपर भित्ति पर मिट्टी से सुआटा दैत्य की आकृति बनाकर उसके हाथ में ढाल–तलवार दे दी जाती है आँखों, मुंह तथा नाभि में कौड़ियों का प्रयोग किया जाता है। लड़कियाँ अपने पुराने टूटे आभूषणों और चूड़ियों से उसकी साज–सज्जा करती हैं। आकृति के दोनों ओर सूरज–चंदा बनाते हैं। सीढ़ियों के नीचे दोनो ओर स्तम्भ बनाकर उन पर कुण्ड बनाये जाते हैं जिन्हें दुग्ध कुण्ड कहते हैं।
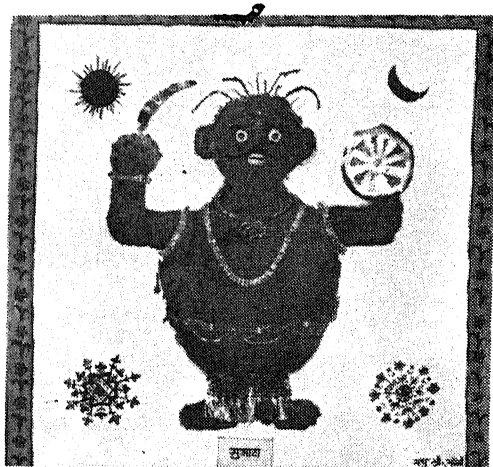
सुअटा

प्रतिपदा को प्रातः बालिकायें समीप के तालाब पर 'अज्जा झारों' से अपने सिर पर पानी ढारती हैं। अष्टमी तक वे सिर नहीं धोतीं। प्रतिपदा से वे गौरी पूजन का व्रत लेती हैं। नौ दिन वे गृह कार्य से मुक्त रहती हैं। वे नौ दिन तपस्या के समान होते हैं। स्नान करने के बाद सुआटा के चबूतरे पर जाकर पर्वत की सीढ़ियों पर चिड़िया बनाकर रखती है। पर्वत पर शिव–पार्वती की मूर्ति भी स्थापित की जाती है। प्रतिदिन सुआटा का आवाहन किया जाता है। एक कन्या दुग्ध–कुण्ड से दूध दूर्बादल की सहायता से लेकर सब कन्याओं पर छिड़कती है।

दुग्ध कुण्ड से दूध लेकर अर्घ्य छिड़क कर काँय डाली जाती है। बाकी बचा दूध 'पड़ा' (निम्न जाति का कोई बालक) को पिला देती है। कथात्मक गीत भी गाये जाते हैं जो सुआटा और गौर से सम्बन्धित होते हैं। फिर सभी कन्यायें समूह में नौरता स्थल से रंगों की एक या दो रेखायें बनाती हुई मार्ग में कुछ दूरी तक चली जाती हैं। मार्ग में रूक कर गोबर से थोड़ी जगह लीपकर बचे हुये रंगों से भूत की आकृति बनाती हैं। फिर उस आकृति के चारों ओर खड़े होकर हथेली पर थोड़ा पानी लेकर एक दूसरे की हथेली थपथपाते हुए गाती हैं। प्रतिदिन अपने घर तथा पड़ोसियों से चन्दा लेकर इस खेल की सामग्री आती है। चतुर्थी के दिन वे कुम्हार के यहाँ से गौरा रानी की सुसज्जित मूर्ति लाती हैं। उसका नियमित पूजन किया जाता है। गौरा की प्रशंसा के लोक गीत भी गाये जाते हैं। अष्टमी के दिन सुआटा का व्रत माना जाता है। उस दिन संध्या को सुआटा खेला जाता है। बालिकायें घरों से विभिन्न भोजन सामग्री लाती हैं तथा मिल बाँट कर खाती हैं। बालू का भूत बनाकर मिटाया जाता है जो दानवी शक्तियों का अंत प्रदर्शित करता है। उस दिन रात्रि जागरण होता है 'ढ़िरिया' खेली जाती है। यह एक मिट्टी की छेददार मटकी होती है जिसकी तली में थोड़ी राख भरकर ऊपर जलता दिया रखकर बालिकायें झूम–झूम कर नृत्य करती हैं। मटकी में नौ या ग्यारह छेद होते हैं। यह 'ढिरिया' पूरे गाँव में फिराई जाती है। सभी रूपया, अनाज आदि श्रद्धा पूर्वक देते हैं। बालिकायें आशीष के अक्षत घर में डालती हैं। एकत्रित धन और अनाज नौरता के बाद भोज में खर्च कर दिया जाता है। नवमीं खेल का अंतिम दिन होता है इस दिन प्रातःकाल बालिकायें तालाब पर जाकर सिर धोती हैं। काँय उतारी जाती है। बासे चौक मे काँय मौन होकर डाली जाती है दुग्ध कुण्ड से जल कद्दू के फूल से लेकर गौरा पर छिड़कती हैं। चबूतरा साफ करके घर से लाकर मलियों (बड़े दियों) में मीठे पकवान भरकर रख दिये जाते हैं। गौर के सामने चौक पूरते हैं। वे चौक पर पटा रखकर गौरा शंकर की प्रतिमायें उस पर रखकर पूजन हवन करती हैं। अनुष्ठान में हुई गलतियों की क्षमा मांगती हैं। बालक सुआटा के अंग प्रत्यंग छिन्न भिन्न करते हैं। कौड़ी घरों में सम्पत्ति के समान रखी जाती है। जिन बालिकाओं का विवाह हो जाता है, उन्हें सुआटा का उद्यापन करना होता है। इसे 'सुआटा उजाना' कहते हैं। सुआटा खेल में प्रति चरण पर लोक गीत होते हैं किन्तु यहाँ विषयानुरूप वर्णन उचित नहीं है।

बुन्देलखण्ड में प्रत्येक स्थान पर सुआटा खेला जाता है। थोड़े बहुत विधान या खेल के तरीकों में अन्तर होता है।

विभिन्न माध्यमों पर लोक–चित्रण

भूमि और भित्ति चित्रण के अतिरिक्त बुन्देलखण्ड में अन्य माध्यमों पर भी लोक–चित्रण किया जाता है उसका माध्यम – पटा, पान, मिट्टी के बर्तन आदि होते हैं।

गड़ालैनी आठें

भाद्रपद मास की शुक्लपक्ष की अष्टमी को 'गड़ा' लेने का विधान है। 'गड़ा' (गंडा) लेना से तात्पर्य है कि व्रत करने का संकल्प लेना। 'गड़ा' एक पवित्र धागा होता है। जो सौभाग्यवती स्त्रियाँ महालक्ष्मी की पूजा करती हैं वे 'आठें' से गड़ा लेकर प्रतिदिन उसमें एक गाँठ लगाती हैं। गड़ा में गाँठ लगाने का भी विधि विधान होता है। स्त्रियाँ ब्राम्हण से गड़ा लेने के बाद पटे पर हाथी का चित्रण करती हैं। यह चित्रण चन्दन या हल्दी से किया जाता है। चित्रण किया गया पटा पूजा गृह में या पवित्र किये स्थान पर रख दिया जाता है।
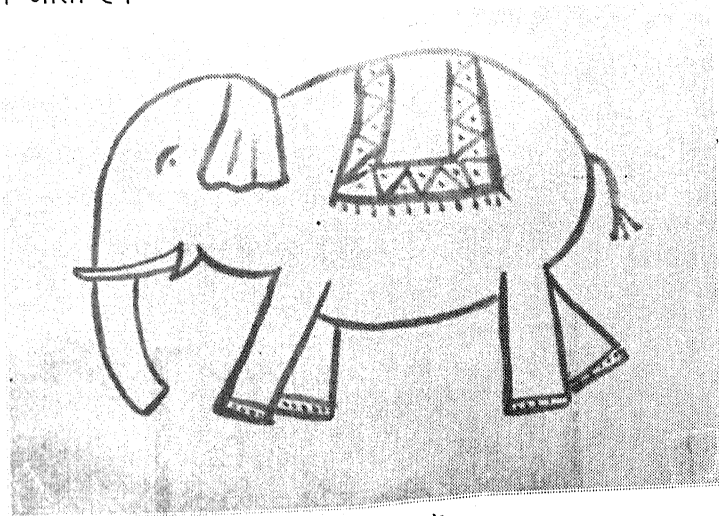
गड़ालेनी आठें

'गड़ा लैनी आठें' से लेकर महालक्ष्मी व्रत तक प्रतिदिन प्रातःकाल 'शुच्च' लेती हैं। यह शुच्च संभवतः 'शुचि' का अपभ्रंश है। इसमें शरीर पर सोलह लोटे पानी प्रत्येक अंग के नाम का डाल कर स्नान किया जाता है। स्नान के बाद वे पटे पर चित्रित हाथी के समक्ष रखे गड़े में एक गाँठ लगाती हैं, और मन ही मन महालक्ष्मी का स्मरण कर व्रत रखने का संकल्प लेती है। जब सोलह गाँठे पूरी हो जाती हैं तब अश्विन मास के कृष्ण पक्ष की अष्टमी आ जाती है। अष्टमी पर मिट्टी के अनपके हाथी को

रखकर पूजा की जाती है। ग्रंथि युक्त डोरे (गड़े) को पूजा में अवश्य रखा जाता है। आटे के मीठे सुरा, टिकियाँ या ठेंठरा प्रसाद हेतु बनते हैं। बेसन से हाथी और उस पर विराजमान राजा–रानी के आभूषण और छत्र बनाते हैं। इस पूजन में दूर्बा अवश्य रखी जाती है। महालक्ष्मी वाले दिन हरी दूर्बा से 'शुच्च' लिया जाता है। इस पूजन में सोलह संख्या का बहुत महत्व होता है। सोलह गाँठों का धागा, सोलह बत्ती का दीपक, सोलह सुरा, सोलह ठेठरा यहाँ तक कि सोलह बोल की कहानी भी कही जाती है, इसे सोलह बार कहने की परम्परा है–

"आमोती दामोती रानी, पोला पल पाटन गाँव
हमसो काते, तुमसो सुनती सोरा बोल,
की एक कानियाँ सुनो आमोती दामोती रानी
हाथी पूजियौ।"

संभवतः पितृपक्ष में होने वाली यह पूजा सोलह संस्कारों की याद दिलाती है या फिर सौभाग्यवती स्त्री के सोलह श्रृंगारों को संदर्भित करती है। पन्द्रह दिन तक गड़े में गाँठ लगाकर सोलह संख्या के महत्व को प्रदर्शित करता है।

पूजा से सम्बंधित महाभारत कालीन कथा है– कुन्ती से गांधारी ने बड़े गर्व से कहा कि मेरे सौ पुत्र हैं वे शीघ्रता से मिट्टी के हाथी का निर्माण कर लेंगे लेकिन तुम्हारे पाँच पुत्रों को देर लगेगी। इस व्यंग्य से आहत कुन्ती को सांत्वना देकर अर्जुन ने बाणों की सीढ़ी बनाकर स्वर्ग से साक्षात ऐरावत हाथी उतार कर पूजा करवाई कहानी में नैतिक संदेश है कि परिवार में गर्व से ईर्ष्या उत्पन्न होती है, जो विघटन का कारण बनती है। महाभारत का युद्ध उसी का परिणाम था।

महालक्ष्मी

कुठला पूजन

सांउन सुदी नमें को होने वाले भित्ति चित्रांकन का वर्णन पूर्व में किया गया है। उसी दिन परिवार की समृद्धि एवं धन–धान्य से पूर्ण करने की कामना हेतु किया जाता है – कुठला पूजन। कुठला मिट्टी का बनाया जाता है। यह अनाज भंडारण का बड़ा पात्र होता है। इस पूजन को पति–पत्नी दोनों करते हैं।

अनाज से भरे कुठला को गंगाजल से पवित्र करके उस पर नमें माई की नौ पुतरियां गोबर या हल्दी से चित्रित की जाती हैं। यह पुतरियां 'नौ देवी' या 'नव ग्रह' की प्रतीक होती हैं। इनको बनाने से यह भावना उत्पन्न होती है कि भंडार भरे रहे सम्पूर्ण नौ–ग्रह और नौ–देवियाँ उनकी रक्षा करें जिससे समृद्धि बनी रहे। ऐसा विश्वास रखा जाता है कि समृद्धि से ही परिवार में प्रसन्नता तथा आपसी प्रेम बना रहता है।

इस पूजा का उद्देश्य है कि पति–पत्नी के सम्बंधों में प्रेम विश्वास बना रहे। जिससे वे शुद्ध मन से एक दूसरे के साथ सद्व्यवहार कर सकें। दोनों के परिश्रम से ही घर में सुख–सम्पन्नता बनी रहेगी। यदि साथ में ईश्वर की कृपा बनी रहेगी तो उसमें उत्तरोत्तर वृद्धि होती रहेगी।

कुठला पूजन

नवमीं के दिन स्त्रियाँ व्रत रहती हैं। विभिन्न प्रकार के मीठे नमकीन पकवान बनाकर पूजन की तैयारी की जाती है। पूजन में बहुत रोचक कहानी भी कही जाती है – एक गरीब ब्राम्हण था। जाति से ब्राम्हण होते हुए भी वह अनपढ़ था। इस कारण कृषि कार्य करता था। ब्राम्हण की पत्नी उसे रूखा–सूखा खिलाकर खेतों पर भेज देती थी। बाद में पकवान बनाकर खाती थी। पुरा पड़ोस की स्त्रियों ने यह रहस्य ब्राम्हण को बताया। ब्राम्हण नवमीं को कुठला में छुपकर बैठ गया और पत्नी के कार्य–कलाप देखने लगा। सांयकाल जब ब्राम्हण खेतों से नहीं लौटा तब पत्नी अकेले ही कुठला की

पूजा करने लगी और नमें माई से प्रार्थना करने पर कुठला से उत्तर मिला। वह समझी की कुठला बोल रहा है उसकी पूजा सफल हुईं वह प्रसन्न होकर अपनी पड़ोसनों को बुला लाईं उनके सामने पति कुठला से बाहर निकला ओर पत्नी के दिन भर के कार्य कलाप बताये जिसे सुन पत्नी लज्जित हुईं

एक दिन ब्राम्हण ने कहा आज खेतों की पूजा है, छप्पन प्रकार के भोजन बनाओ तब पत्नी ने भोजन बनाया। पति ने कहा खेतों का प्रसाद स्त्रियां नहीं खाती, और पत्नी को कुछ न दिया। पत्नी इसका अर्थ समझकर क्षमा मांगने लगी। उस दिन से दोनों पति–पत्नी प्रेम पूर्वक रहने लगे और आपसी विश्वास बनाये रखने की सौगंध खाईं

लोक जीवन में ऐसी पूजा और कहानियों का बहुत सकारात्मक प्रभाव देखने को मिलता है। जिससे परिवार में एकता और प्रेम संवर्द्धन होता है। जो संस्कृति की रक्षा करने में सहायक होता है।

आस माई

आस–माई की पूजा बैशाख मास में कृष्ण पक्ष द्वितीया के दिन की जाती है। यह व्रत पुत्रवती स्त्रियाँ करती हैं। व्रत का उद्देश्य है कि पुत्र को सत्कर्म की प्रेरणा मिले तथा वह दीर्घायु हो समस्त सुखों को भोगे। जीवन में कर्म की महत्ता है। सत्कर्म ही चरित्र का निर्माण करते हैं। व्रत में पूजा के साथ कहानी भी कही जाती है जिसका संदेश यह है कि कर्मठ व्यक्ति विपरीत परिस्थितियों में भूख–प्यास व नींद का परित्याग तो कर दे, किन्तु उसे सफलता की आशा नहीं छोड़नी चाहिए।

आस माई का चित्रांकन पान के पत्ते पर चंदन व हल्दी से किया जाता है। आस–माई के साथ भूख–माई, प्यास–माई तथा नींद–माई का चित्रण भी करते हैं। पूजा में चार कौड़ियाँ भी रखी जाती हैं जो सौभाग्य का प्रतीक मानी जातीं हैं।

चित्रित पान को पटे पर रखते हैं। आँगन में गोबर से लीपकर आटे से कलात्मक चौक बनाई जाती है। चित्रित पान रखकर जल से भरा कलश भी रखते हैं। चित्रित पान यह प्रगट करता है कि मानव जीवन हरे पान के पत्ते के समान है जो विपरीत स्थिति आने पर मुरझा जाता है किन्तु हल्दी पिसने के बाद भी अपने रंग व गुण नहीं त्यागती हल्दी से चित्रित पुतरियाँ प्रत्येक परिस्थिति में कर्म करने की प्रेरणा देती हैं।
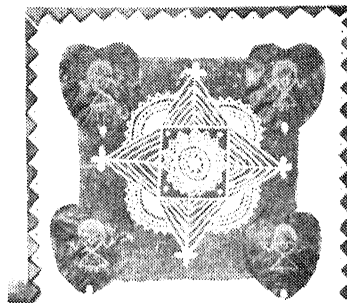
आसमाई

व्रत के पारायण हेतु सात 'आसें' (आटे व गुड़ से बने पुआ जिनके किनारे गोंठ दिये जाते हैं) बनाई जाती है। 'आसें' पूजा में रखी जाती है। भोग लगाकर व्रतधारिणी स्त्री आसें खाकर कलश का जल पीती है। पूजन में संदेशात्मक कहानी भी कही जाती है।

एक राजा थे उनका पुत्र अत्यधिक प्रेम के कारण उपद्रवी हो गया था। राह चलते लोगों को परेशान करता, पनिहारिनों की मटकी फोड़ता था। राजा के आदेश पर पनिहारिन पीतल व ताँबे के बर्तनों में जल भरने लगीं, तब राजकुमार शीशे व लोहे के गुरों से कलश फोड़ने लगा। नित्य आने वाली शिकायतों से राजा परेशान हो गया उसने राजकुमार को देश निकाला दे दिया राजकुमार दुःखी मन से घोड़े पर बैठ कर वन की ओर चला। वन में उसे चार वृद्ध स्त्रियाँ मिलीं। राजकुमार चाबुक घुमाता जा रहा था अचानक चाबुक जमीन पर गिर गया उसे उठाने के लिये वह झुका तो वृद्धाओं ने समझा कि उन्हें अभिवादन किया है। उन्होंने अपना परिचय राजकुमार को भूख–माई, प्यास–माई, नींद–माई तथा आस–माई के रूप में दिया और अपनी विशेषतायें बताईं। राजकुमार कुछ सोचकर बोला, "मैंने आस–माई को प्रणाम किया है।" आस–माई ने प्रसन्न होकर उसे चार कौड़ियाँ देकर आर्शीवाद दिया कि तुम्हारी सर्वत्र विजय हो। राजकुमार दूसरे देश पहुँचा। वहाँ का राजा तथा प्रजा सभी द्यूत–विद्या में निपुण थे। राजकुमार ने जुए में क्रमशः धोबी, कुम्हार, सेनापति तथा मंत्री को हराया। अंत में राजा को पराजित कर राजपाट जीत लिया और राजकुमारी से विवाह किया। अपनी पत्नी के कहने पर तथा आस–माई की कृपा से राजकुमार वापस अपने माता पिता के पास लौट आया।

ऋषि पंचमी

बुन्देली में इसे 'रिग पाँचे' कहा जाता है। भाद्रपद शुक्ल पक्ष की पंचमी को बुन्देलखण्ड क्षेत्र में अन्य स्थानों की अपेक्षा अधिक महत्व दिया जाता है। पुराणों के अनुसार वृत्तासुर दैत्य के वध से श्रीकृष्ण को पाप लगा तब इन्द्र की प्रार्थना पर ब्रम्हा ने उस पाप को चार भागों में विभाजित कर दिया (1) अग्नि की प्रथम ज्वाला में (2) वर्षाकाल में नदी के फेन में (3) वृक्ष से टपकने वाली मस्ती में तथा (4) रजस्वला स्त्री में। इसी आधार पर पाप नाशक व्रत के रूप में इसकी मान्यता है।

ऋषि पंचमी व्रत में सप्त ऋषियों का पूजन करने से पापों से मुक्ति प्राप्त होती है। आँगन या पूजागृह में चौक पूर कर उस पर पटा रखते हैं। पान का ताजा हरा पत्ता लेकर उस पर सात 'पुतरे' सप्त ऋषियों के प्रतीकात्मक रूप में हल्दी या चंदन से चित्रित किये जाते हैं। कुछ स्त्रियाँ अरून्धती को भी चित्रित करती हैं। जल, हल्दी, चंदन, रोली, अक्षत, हवन इत्यादि से विधि विधान से पूजन करते हैं।
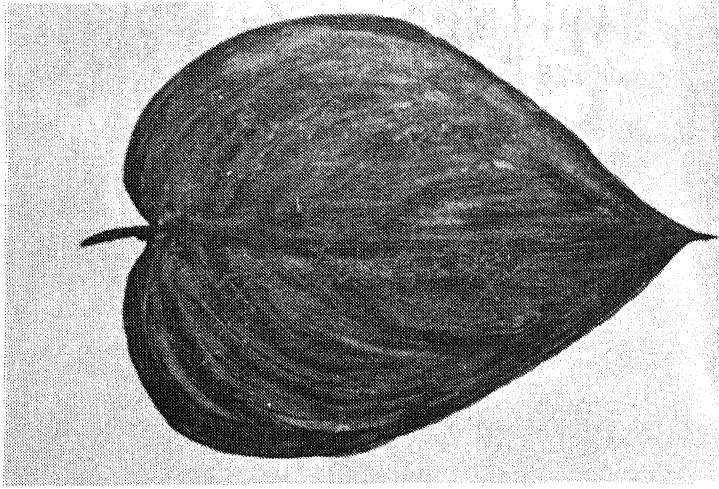
ऋषि पंचमी

स्त्रियाँ महाभारत काल के आख्यान के अनुसार इस व्रत को रखती हैं। उसमें श्रीकृष्ण ने युधिष्ठर को बताया था कि जो स्त्रियाँ रजस्वला स्थिति में गृह कार्य करती रहती हैं उन्हें पाप लगता है। उसकी निवृति हेतु ऋषि पंचमी का व्रत रहना आवश्यक है। पूजा से सम्बंधित एक कथा भी है –

सौमित्र नामक एक ब्राम्हण था उसकी पत्नी का नाम जयश्री था। जयश्री रजस्वला स्थिति में गृहकार्य करती रही। इससे दूसरे जन्म में उसे कुतिया का स्वरूप मिला और पति बैल बना। इस योनि में भी वे अपने ही घर रहे। पितृपक्ष में उनकी पुत्रवधू खीर बना रही थी उसमें सर्प गिर गया। कुतिया की योनि में जयश्री ने सोचा यह खीर यदि ब्राम्हणों ने खाई तो उनकी मृत्यु हो सकती है ऐसा सोच उसने खीर गिरा दी। पुत्र व पुत्रवधू ने क्रोधित होकर बैल व कुतिया को भोजन नहीं दिया। रात में बैल व कुतिया उसी संदर्भ में बात कर रहे थे जब पुत्रवधू ने सुना तो दुःखी हुईं पश्चाताप हेतु वह गंगातट गई वहाँ पर ऋषियों से भेंट हुई उन्होंने पशु योनि से मुक्ति हेतु भाद्रपद की शुक्ल पक्ष की पंचमी को सप्तऋषि तथा अरून्धती की पूजा का उपाय बताया। इसी कथा और महाभारत के प्रसंग के अनुसार ऋषि पंचमी का व्रत रखना स्त्रियों के लिये अनिवार्य माना गया है।

ब्रम्हपुराण के अनुसार ऋषि पंचमी का व्रत व्यक्ति को जन्मों के आवागमन से मुक्ति दिलाकर स्वर्गलोक का वासी बनाता है। व्रत में 'हरछठ' के समान हल का जोता अन्न नहीं खाया जाता है।

चैती पूनों

चैत्र मास की शुक्लपक्ष की पूर्णिमा को बुन्देली में 'पजन के पूने' या 'पजनूँ पूने' कहते हैं। 'पजन' शब्द संभवतः पवन का अपर्भंश है। अर्थात पवन पुत्र हनुमान के लिये प्रयोग किया गया है। यह

माँ व पुत्र का स्नेहपर्व होता है। प्रत्येक माता अपने पुत्र की दीर्घायु एवं स्वास्थ्य की कामना करती है। इसी उद्देश्य से चैती पूनों का व्रत रखा जाता है। एक प्रकार से यह नई उपज आने का उत्सव भी है। चैत में नई फसल के अन्न से बने पकवान मटकी में भरकर पूजा की जाती है। कुछ मान्यताओं के अनुसार हनुमान जी का जन्म दिवस चैत्र पूर्णिमा को माना जाता है।

एक नई मटकी को धोकर चूने से पोतकर उस पर हल्दी तथा इच्छानुसार रंगों के प्रयोग से चित्रण करते हैं। चित्रण में माँ तथा पुत्र की प्रतीकात्मक रचना की जाती है। चित्रण स्त्री की योग्यता पर निर्भर होता है। वह मटकी को शुभ चिन्हों तथा फूल पत्ती के अलंकरण से सजा देती है। पूजन के समय आँगन में गोबर से लीपकर उस पर आटे से चौक पूर कर उस पर मटकी स्थापित की जाती है। मटकी में घी के भुने आटे, शक्कर तथा मेवा मिश्रित पौष्टिक लड्डू भरे जाते हैं साथ में सेव, पपड़ी, खुरमे आदि भी भर देते हैं। मटकी पर मलिया ढँक कर पूजन करते हैं। समस्त पूजन सामग्री से विधिवत पूजन किया जाता है। 'पजनूं' की कहानी भी कही जाती है। कथा के बाद माँ पुत्र को टीका करती है। पुत्र मटकी के लड्डू निकाल कर माँ के आँचल में डालता है, और माँ प्रेम पूर्वक पुत्र को लड्डू खिलाती है।

चैती पूनें

माँ यह कामना करती है कि चैत्र पूर्णिमा की मटकी के स्वास्थ्यवर्धक पकवान और लड्डू खाकर पुत्र बलशाली बने। पजन पूने के लिये यह भी कहा जाता है–

पजन के लड्डू पजनई खाँय,
दौड़–दौड़ मटकियन नौं जाँय।

अर्थात पजन के लड्डू पुत्र ही खाते हैं। वे लड्डू खाने के लिये मटकी के पास बार–बार जाते हैं। सम्बन्धित कहानी इस प्रकार है – एक राजा के दो रानी थी। राजा निःसन्तान थे। छोटी रानी गर्भवती हुई तब राजा का प्रेम उनके प्रति बढ़ गया। इससे बड़ी रानी ईर्ष्या करने लगी। पुत्र जन्म पर राजा के न रहने पर बड़ी रानी ने पुत्र को घूरे पर फिंकवा दिया। और राज्य में घोषणा करा दी कि रानी ने पत्थर को जन्म दिया है। कुम्हार दम्पत्ति को वह बच्चा मिला। उन्होंने उसे पाल लिया और उसका नाम 'पजन कुमार' रखा। घटना के सात वर्ष बाद रानियाँ स्नान हेतु नदी पर गईं वहाँ पजन कुमार मिट्टी के घोड़े को पानी पिला रहा था। बड़ी रानी ने मजाक उड़ाते हुए कहाकि "मिट्टी का घोड़ा भी कभी पानी पीता है?" पजन ने उत्तर दिया, "जब रानी पत्थर को जन्म दे सकती है तो मिट्टी का घोड़ा पानी क्यों नहीं पी सकता?" छोटी रानी उत्तर से आशंकित हुई और सत्यता जानने हेतु कुम्हार को बुलाया। तो उसने पजन का घूरे पर मिलने की घटना बताई सत्यता की पुष्टि हेतु पजन की परीक्षा ली गईं उसे गर्म आंवा (भट्टी) में बंद किया गया जिससे वह जीवित निकल आया। छोटी रानी को कच्चे सूत के झूले पर झुलाया गया झूला नहीं टूटा। राज्य में हर्ष की लहर छा गईं पजन राजकुमार बना। बड़ी रानी को दण्ड स्वरूप हाथी के पैरों तले कुचलवा दिया गया।

इस कथा का यही संदेश है कि मनुष्य की ईर्ष्यालु प्रवृत्ति उसके जीवन के समस्त सुखों का नाश कर देती है। दुर्बुद्धि की जननी ईर्ष्या है।

चरूआ

बच्चे के जन्म के समय परिवार की वरिष्ठ महिला (सास) प्रसूता के लिये जड़ीबूटी युक्त जल तैयार करती है। यह जल जिस मिट्टी के पात्र में पकाया जाता है, उसे चरूआ कहते हैं। 'चरूआ' एक संस्कार है।

चरूआ के लिये एक मिट्टी का घड़ा लेते हैं उसे धोकर पवित्र किया जाता है, फिर उस पर सास गोबर से शुभ चिन्ह बनाती है। उस पर जौ, देवल चिपकाकर सुसज्जित करती है। तत्पश्चात् उसमें प्रसूता के स्वास्थ्य के लिये उचित जड़ी बूटियाँ डाली जाती हैं जो लोक–ज्ञान का उदाहरण हैं। चरूआ में पानी भरकर उसमें सुपाड़ी, हल्दी की गाँठ, पीपरा मूल, सौंठ, लौंग, तांबे के पैसे, खैर की लकड़ी आदि डालने की प्रथा है। इसे चरूआ की साज कहते हैं।
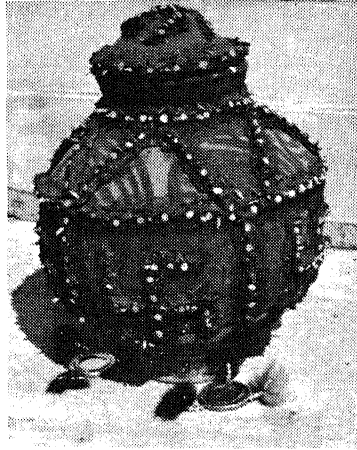
चरूआ

चरूआ रखने से पूर्व बुलावा लगाया जाता है। सभी महिलायें एकत्रित होकर मंगलगीत गाती हैं। यदि लड़का होता है तो सात कन्यायें चरूआ का पूजन कर आग पर चढ़ाती हैं। यदि लड़की का जन्म हुआ हो तो पाँच कन्यायें चरूआ पूजन करती हैं। चरूआ का विधिवत पूजन होता है। सास हल्दी अक्षत तथा दूर्बा लगाकर चरूआ–पूजन करती हैं, फिर चूल्हे की आग पर कन्यायें चरूआ रख देती हैं। कन्याओं को गुड़ या बताशे दिये जाते हैं। प्रसूता सास को 'नेग' (धन या वस्तु) देती है। चरूआ का मुंह मलिया (मिट्टी के ढक्कन) से बंद कर दिया जाता है। जब पानी पक कर आधा रह जाता है तब जड़ी बूटियों का रस भली प्रकार पानी में उतर आता है। चरूआ का जल औषधि रूप में परिवर्तित हो जाता है। उसे प्रतिदिन प्रसूता को पिलाना आवश्यक होता है। लोक–विधान के अनुसार पहले दिन चरूआ का पानी चार अंगुल तक पिलाना चाहिये। दूसरे दिन पका हुआ पानी आधा रह जाना चाहिये। इस प्रकार से जब एक चरूआ का पानी समाप्त हो जाये तब दूसरा पानी भरकर तैयार कर लिया जाता है। यह पानी प्रसूता लगभग चालीस दिन तक पीती है। इससे प्रसव से आई शरीर की कमजोरी दूर होती है एवं शीघ्र स्वास्थ्य लाभ होता है।

ओक–दुआस

भाद्रपद शुक्ल पक्ष की द्वादशी पर गाय–बछड़े की पूजा की जाती है जिसे बुन्देली में

'ओक–दुआस' कहते हैं। गो–धूलि की बेला में साक्षात गाय–बछड़े की पूजा की जाती है पूजा में विशेष रूप से सात उरई की सीकें, पीले कपड़े में बाँध कर गाय के सींग में बाँधकर स्त्रियाँ गाय के कान में कहती हैं – "तुमाओ रोये, हमाओ हँसे" इसका तात्पर्य यह लगता है कि सींग में सात सींक सात वचन के समान है जो पीले कपड़े में इस विश्वास के साथ बाँधी जाती है कि– हे गाय माता आप अपने पुत्र (बछड़े) के हिस्से का दूध मेरे बच्चे को प्रदान करे जिससे वह स्वस्थ रहे। यह उल्लेखनीय है कि गाय का दूध बच्चों के लिये पौष्टिक होता है।

जब साक्षात गाय–बछड़ा नहीं मिलता तब सूप पर हल्दी से गाय–बछड़ा चित्रित कर पूजने की परम्परा है।

बुन्देलखण्ड में त्योहार तो लगभग सभी मनाये जाते हैं। किन्तु यहाँ उल्लेख केवल उन्हीं त्योहारों और संस्कारों का किया है, जिन पर लोक–चित्र बनाये जाते हैं।

अन्य त्योहार भी बहुत उल्लास से मनाये जाते हैं। गणगौर, गणेश चौथ, राम नवमीं, अक्षय तृतीया, वट सावित्री व्रत, महालक्ष्मी, होली, बसंत पंचमी, मकर संक्रांति आदि अनेक त्योहार हैं, किन्तु उनमें मूर्ति रख कर या विशेष विधान अनुसार पूजन किया जाता है। विषयान्तरस्वरूप उनका वर्णन उपयुक्त न होता।

गोदना

बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला में गोदना का वर्णन न हो तो बात अधूरी सी प्रतीत होती है। गोदना अंग–रेखांकन है, जो आदिवासी और जन जातियों में अधिक प्रचलित है। व्यक्ति की कलाप्रियता की चरम सीमा गोदना है। शारीरिक सौंदर्य को बढ़ाने के लिये सुई की चुभन सहन करना गोदना का महत्व दर्शाते हैं। स्त्रियों की आभूषण प्रियता ही गोदना गुदवाने की प्रेरणा है।

पौराणिक ऐतिहासिक तथा धार्मिक सम्बंधों से जुड़ी गोदना प्रक्रिया के साथ अनेक लोक–विश्वास जुड़े हैं। गोदना गुदवाने की सुदीर्घ एवं अविच्छिन्न परम्परा रही है। प्रकृति के प्रारम्भ में मानव ने गुहा चित्रों एवं शैल चित्रों का निर्माण किया किन्तु कालान्तर में शरीर के किसी अंग पर खुरचने या चुभने से लगने वाले चिन्हों से शरीर चित्रण का विचार मन में आया। गोदना परा शक्तियों के प्रभाव को क्षीण या समाप्त करने के उद्देश्य से बनाये गये। स्त्रियां ही अधिकतर गोदना गुदवाती हैं। पुरूष तो केवल अपना नाम, फूल या देवता की आकृति चित्रित करवाते हैं। स्त्रियाँ शरीर अलंकरण, जादू टोने की सुरक्षात्मक जादुई लिपि या प्रजनन शक्ति को जागृत कर मातृत्व के भाव को उत्पन्न करने हेतु गुदवाती है।

गोदना के चिन्ह, काल के साथ विकसित होते गये। प्राचीन काल में सूर्य, चन्द्रमा गोदे जाते थे। कृषि युग में पदार्पण के बाद कुंआ, चूल्हा, टोकरी, चावल, अन्न के दाने, आम, सुपारी, ताड़ आदि के वृक्ष चित्रित किये जाते थे। स्थापत्य कला के विकास के साथ गोदना का भी विकास हुआ उसमें मंदिर, कलश, गुम्बद आदि भी बनने लगे। वर्तमान में एक्यूपंचर चिकित्सा पद्वति से इसका गहन सम्बन्ध है।

'मिथ्स ऑफ मिडिल इण्डिया' में वेरियर एल्विन के अनुसार – गौंड़ जनजाति में प्रचलित एक पौराणिक कथा से गोदने की उत्पत्ति ज्ञात होती है। महादेव शंकर ने एक बार सभी देवताओं को भोज पर आमंत्रित किया। भोज में एक गोंड देवता भी अपनी पत्नी सहित गये। सभी देवियाँ एक स्थान पर बैठी थीं। जब गोंड देवता जाने लगे तब अपनी पत्नी समझ देवी पार्वती के कंधे पर हाथ रख कर चलने को कहा। उनकी इस भूल से देवी पार्वती क्रोधित हो गईं। महादेव शंकर इस भूल को जान गये थे इस कारण हँसने लगे। किन्तु पार्वती जी का क्रोध शान्त नहीं हुआ अन्त में उन्होंने युक्ति सोची कि यह भूल दोबारा न हो। पार्वती जी ने प्रत्येक जाति के लिये पृथक–पृथक गोदना अभिप्राय निर्धारित किये। इन अभिप्रायों को देवियों के अंगों पर गुदवाया जिससे उनकी पृथक पहचान हो सके। तभी से सभी जाति की देवियाँ गोदना गुदवाने लगीं। इस प्रकार संसार में गोदने का प्रचलन हुआ।

जन जातियों में यह विश्वास है कि संसार नश्वर है। मृत्यु के पश्चात् समस्त भौतिक वस्तुयें यहीं रह जाती हैं। केवल गोदना अलंकरण ही उसके साथ परलोक जाता है।

गोदना लिखने के लिये जिन वस्तुओं का प्रयोग किया जाता है उनमें से प्रथम संकेत दूधी पौधे के दूध का प्रयोग गोदना में किया जाता है। सरई के वृक्ष के काले गोंद से भी गोदना लिखने के प्रमाण मिलते हैं। इस प्रकार प्रारम्भिक गुदने अस्थाई प्राकृतिक साधनों से शुरू हुये। बाद में दूधी, आकोय, तोरिया, बियां, भिलवां काजल आदि के रसायन को सुइयों के माध्यम से त्वचा की प्रथम सतह के नीचे तक प्रवेश कराने की क्रिया का अविष्कार हुआ। गुदना शरीर के खुले भाग में गुदवाये जाते हैं। कपड़े से ढके भागों में गोदना गुदवाना निषेध है। गोदना गोदने वाली को 'गुदनारी' कहते हैं। कई गुदने ऐसे हैं जिन्हें सभी जाति और जन–जातियों में गोदवाया जाता है। गुदनों की सत्ता सदैव से रही है। इसके पीछे अनेक धारणायें रही हैं। मनुष्य सदैव कोई न कोई इच्छा रखता है। उस इच्छा की पूर्ति के साधन वह ढूंढता रहता है। गोदना भी उसी इच्छा का प्रतिरूप है। गोदना स्थायी अलंकरण है, सामाजिक प्रतिष्ठा बढ़ाने वाले, पराशक्तियों से सुरक्षित रखने वाले, सौंदर्यवर्द्धक, काया को निरोगी रखने वाले, प्रजनन व कामेच्छा वर्द्धित तथा प्रकृति और मानव के मिथकीय संबंधों को

प्रदर्शित करने वाले होते हैं।
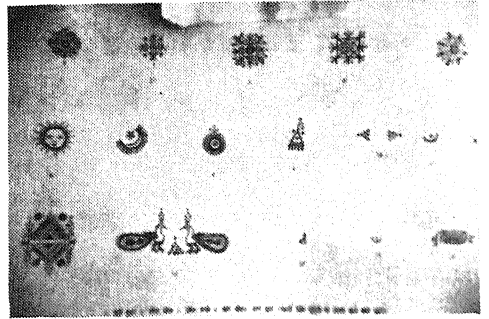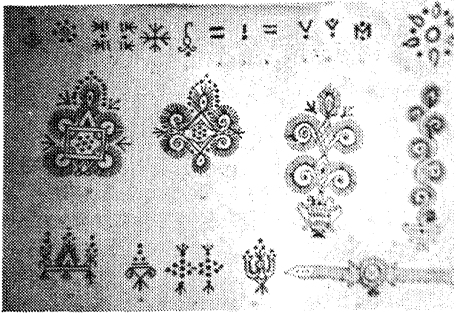
गोदना

लक्ष्य, प्रतीक और उपादान

लक्ष्य

लोक–चित्रण मूलतः प्रतीकात्मक होता है। उसके लक्ष्य, अवसर तथा सम्बंधित कथा के आधार पर निर्धारित होते हैं। लोक–चित्र जीवन के सुखद क्षणों के साक्षी होते हैं। शुभ अवसरों पर भूमि और भित्ति चित्रांकन वातावरण को रोचकता तथा मौलिकता प्रदान करते हैं। प्रत्येक क्षेत्र की अपनी पहचान होती है। वह लोक चित्रों में परिलक्षित होती है। लोक–चित्रों में धार्मिकता की भावना केन्द्र बिन्दु होती है। किन्तु सामान्यतः सम्बंधों की उष्णता भी देखने का मिलती है। जन्म और विवाह संस्कार में होने वाले चित्रांकनों को बनाने वाले परिवार के सदस्य होते हैं। अवसर पर चित्रांकन करना उनका सामाजिक धर्म है जिसका निर्वाह लोक चित्रों के माध्यम से होता है। पारिवारिक व सामाजिक सम्बंध निर्वाह इन्हीं के साथ प्रवाहमान रहते हैं। जन्म पर सास चरूआ सज्जा करेगी ननंद सांतियाँ रखेगी यह सामाजिक नियम परिवार व्यवस्था को सुदृढ़ता प्रदान करते हैं। शुभ अवसर पर बनाये गये चित्र मंगल कामना का चित्रित रूप होते हैं। अवसर विशेष पर सबका मान–सम्मान रखना नेग–निछावर, उपहार आदि देने–लेने का प्रावधान आपसी सद्भाव बनाता है। परिवार में वरिष्ठ महिला द्वारा कई चित्रांकन किये जाते हैं, जो पारिवारिक व्यवस्था को गरिमा प्रदान करते हैं। कुनघुसूं पूने, हरियाली अमावस्या, मांय के पट की पूजा में भी वरिष्ठ महिला व पुरूष की मुख्य भूमिका रहती है। इस प्रकार पारिवारिक पूजा में लोक चित्रों के लक्ष्य सम्बंधों को जोड़ते भी हैं। परिवार में ही नहीं बल्कि समाज के सभी वर्गों को जोड़ने का कार्य भी लोक–चित्र करते हैं। विवाह के अवसर पर चितैरे भित्ति चित्रांकन करेंगे और पंडित चौक पूरेगा, इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी समाज के सभी वर्ग के व्यक्तियों को जोड़े रखने का लक्ष्य लोक

चित्रों में पाया जाता है।

महिलाओं के लोक रंजन के माध्यम भी यह लोक–चित्र बन जाते हैं। भित्तिचित्र या भूमि चित्रांकन आपसी प्रतियोगात्मक भाव को बढ़ावा देते हैं। करवा चौथ, हरछठ कन्हैया आठें, देवठान आदि परम्परागत चित्र सुन्दरता की दृष्टि से भी आंके जाते हैं। यह लोक ज्ञान के रक्षक होते हैं। लोक–चित्रण का लक्ष्य सौंदर्यबोध, एकाग्रता तथा संलग्नता को बढ़ाना भी है। जब मन के भाव ईश्वर के प्रति आस्थावान हो जाते हैं तब लोक–चित्रों की रचना होती है। लोक चित्र आत्मा का विस्तार और सृष्टि का पर्याय हैं। इनका निश्छल स्वरूप आत्मा के कलुषित भावों को समाप्त कर परमात्मा से मिलन कराता है। साकार एवं निराकार तत्वों का चित्रांकन अत्यन्त सरल रेखाओं के माध्यम से इनमें किया जाता है। प्रदर्शन का विस्तृत भाव इनमें अनन्तता का समावेश करता है। ईश्वर की कृपा, जीवन की सार्थकता, मन की भावनायें, अवसर सम्बंधी विशेषतायें इन सभी का सम्यक प्रभाव लोक चित्रों में परिलक्षित होता है। ईश्वर निर्मित प्रकृति, प्राणी आदि मानव के लिये उपयोगी हैं पूजनीय हैं यह दर्शन भी लोक चित्रों के माध्यम से होता है।

लोक–चित्रों का मुख्य लक्ष्य समाज में नैतिकता का प्रचार–प्रसार करना है। चित्रित धार्मिक भाव सदैव ईश्वर की प्राप्ति के माध्यम बनते हैं। सम्बंधित कथायें अनैतिक कार्यों से विमुख करती हैं।

दैनिक कार्यों से सम्बंधित उपादानों को गुण के अनुसार उनका आदर व समर्पण लोक–चित्रों के माध्यम से ही होता है। लोक–चित्रण में गोबर, मिट्टी, अन्न, वृक्ष, पौधे, जल, जड़ी–बूटियों इत्यादि का प्रयोग जीवन में प्रत्येक वस्तु की उपयोगिता सिद्ध करता है।

लोक–चित्रण परम्परा का स्थायित्व ईश्वर के सानिध्य का सरल मार्ग है। चित्रण में प्राप्त आत्म संतुष्टि तथा चित्रांकन की पूजा आत्म–बल प्रदान करती है जो सफलता का प्रथम सोपान है। ईश्वर के अस्तित्व को जड़ चेतन में स्वीकार करने पर ही लोक–चित्रों की रचना सम्भव है। धार्मिकता का समावेश चित्रों को पवित्रता प्रदान करता है जो इनके माध्यम से हमारे घर आंगन में निवास करती है। परम्परायें पीढ़ी–दर–पीढ़ी किस तरह से हस्तांतरित होती हैं लोक चित्र इसके प्रत्यक्ष उदाहरण हैं। लोक–चित्रों की सामयिकता ही उनके लक्ष्य को निर्धारित करती है समाज की प्रत्येक समस्या का विश्लेषणात्मक सम–सामयिक विवेचन लोक–चित्रों के माध्यम से किया जा सकता है। प्रत्येक लोक–चित्र धार्मिक, सामाजिक, ऐतिहासिक, नैतिक तथा पारम्परिक भावों का दर्शनीय रूप है। लोकचित्रों से सुन्दर दर्पण कोई नहीं है। जो मानव की आत्मा का ईश्वर से साक्षात्कार कराता है। लोक चित्रों के लक्ष्य सदैव प्रभावकारी और निश्चित होते हैं चित्रांकन भी सदियों से समाज में प्रभावी व समरूप है। धनी हो या निर्धन लोक–चित्र सभी के घरों की भूमि और भित्ति को एक सा सजाते संवारते हैं।

प्रतीक

लोक चित्रकला का लोकत्व चित्रकार के मन में बैठकर में अनुभूति को लोकानुभूति में रूपांतरित कर देता है। वही लोकानुभूति, चित्र रचना को लोक चित्र रचना या लोक कृति में रूपायित कर देती है। उस रचना या कृति को लोक तभी ग्रहण करता है जब वह लोक के लिये उपयोगी हो तथा तत्कालीन लोक मानस से तादात्म्य स्थापित कर ले।

लोक चित्रों के प्रतीक लोकमन के विचार हैं जो वह चिन्तन मनन करता है प्रतीक उसी अन्तःक्रियाओं के प्रतिफलन है। वे सारगर्भित होते हैं।

प्रतीक के सम्बंध में डा0 जय प्रकाश शाक्य ने 'धर्म दर्शन की भूमिका' में लिखा है – "धर्म में धार्मिक प्रतीकों का केन्द्रीय स्थान है धर्म विषयक अनुभूति या विचारों की अभिव्यक्ति का प्रभावशील माध्यम प्रतीक है। धार्मिक प्रतीकों की रचना और प्रयोग मानव धार्मिक ज्ञान और धार्मिक चेतना के प्रारम्भ से ही करता आया है। ऋषि, मुनि, संत, महात्माओं ने अपने जीवन की साधना तथा आध्यात्मिक अनुभवों को प्रतीकों के माध्यम से व्यक्त किया है।"

डा0 राधाकृष्णन ने **Religion & Society** में लिखा है– "यथार्थ प्रतीक कोई स्वप्न या छाया नहीं है, वह अनन्त का जीवन्त साक्षात्कार है।"

'प्रतीकशास्त्र' में प्रतीकों की व्याख्या श्री परिपूर्णानन्द ने कई प्रकार से की है – "प्रतीक मन तथा बुद्धि की वस्तु है। प्रतीक उस चिरन्तन सत्य का प्रतीक है। प्रतीक से परमात्मा का बोध होता है।" वे लिखते हैं – प्रतीकवाद धर्म की पौराणिकता का दार्शनिक विवेचन है। प्रतीक सभ्यता की सबसे बड़ी देन है।

Encyclopedia of Religion & Ethics में प्रो0 गार्डनर के विचार से– "हर एक प्रतीक का अपना संचरणशीलता तथा शक्तिशाली अर्थ होता है।" पी0 गार्डनर ने ही प्रतीक की व्याख्या करते हुये कहा है – "प्रतीक उसे कहते हैं जो देखने या सुनने में किसी विचार, भावना या अनुभव को व्यक्त करता है।" धार्मिक दृष्टिकोण से प्रतीकों का बहुत महत्व होता है धर्म के आदर्शों का पालन सदैव संकल्प से होता है व्यक्ति अपनी मर्यादाओं में रहते हुये व्यक्तिगत, पारिवारिक व सामाजिक दायित्वों का निर्वाह करता रहता है। नैतिक तथा आध्यात्मिक भावनाओं को व्यक्त करने में उसे प्रतीकों का आश्रय लेना पड़ता है। बुन्देलखण्ड की संस्कृति व कला में प्रतीकों का महत्वपूर्ण स्थान रहा है। प्रतीकों की महत्ता इससे और बढ़ जाती है कि जब वे व्यापक व्याख्या को संक्षिप्त रूप प्रदान करते हैं। प्रतीकों की विशेषता यह होती है कि उनके अनेकार्थ होते हैं जो समाज के प्रत्येक वर्ग एवं विचारों में घुल–मिल जाते हैं। प्रतीकों के चित्रांकन में वाणी के प्रयोग के बिना ही जीवनोपयोगी तत्वों का विवेचन सरलता से हो जाता है।

प्राचीन ऋषि मुनियों तथा आध्यात्म से जुड़ी विभूतियों ने अपने मन–मानस और ज्ञान के अपरिमित भंडार से प्रतीकों के मोती संसार में बिखेरे, जिनका प्रयोग आध्यात्मिकता को आश्रय देता है। प्रतीक ज्ञात की ओर जाने का सबल माध्यम हैं।

व्याकरण की दृष्टि से प्रतीक शब्द की रचना दो शब्दों से मिलकर हुई है– प्रति+इक, इसमें 'प्रति' का अर्थ है अपनी ओर तथा 'इक' का अर्थ है झुका हुआ। जो अपनी ओर झुका है अर्थात जो अर्न्तभावों को व्यक्त करने की क्षमता रखता हो वही प्रतीक है, और उसका सम्बंध स्वयं से हो।

कला को प्रतीकों की जननी कहा गया है। लोक–चित्रकला के प्रतीकों का विवेचन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में करना आवश्यक है। जिससे वह निरन्तरता की ओर अग्रसर हो। प्रतीकों की समग्र दृष्टि ही विस्तृता की संभावनाओं को व्यक्त करती है। बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला में अनेक प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है जिनका अर्थ धार्मिक, आध्यात्मिक तो है ही, साथ ही उनमें सम–सामयिकता भी है। प्रतीकों के माध्यम से ही लोक–चित्रकला के आत्मिक सौंदर्य के दर्शन होते हैं।

लोक–चित्रों में पूरा स्थान भरा रहता है किन्तु प्रतीकों के माध्यम से बँटा भी रहता है। प्रतीकों के मध्य में कोई विभाजन रेखा न होते हुये भी उनके अर्थ भिन्न होते हैं चित्र के विभिन्न दार्शनिक आयामों को प्रदर्शित करने में प्रतीकों का महत्व है।

आकार

लोक–चित्रकला चित्रण में प्रमुख अवधारणा 'घर' (आकार) की होती है। इसी कारण भित्ति व भूमि चित्रण अधिकतर चौकोर आकृति में मिलते हैं। यह चौकोर आकृति बाहय संसार की सीमा रेखा है। उसके भीतर बनी संरचनायें घर–परिवार की वस्तुयें होती हैं। गोल आकृति भीतर का संसार होती हैं जिसमें आस–पास की और घरेलू वस्तुओं का चित्रण होता है।

गणेश

प्रतीकों में प्रमुख मंगलकारी विघ्न विनाशक गणेश हैं। विवाहादि कार्य में प्रमुख द्वार के ऊपर की ओर गणेश का चित्रांकन किया जाता है। 'शिव–पुराण' में शिवजी द्वारा पार्वती पुत्र के कटे शीश के स्थान पर नवजात गजशिशु का सिर लगाकर पुर्नजीवित करने का आख्यान है। जिसके अनुसार उन्हें देवताओं में सर्वप्रथम पूजे जाने का वरदान प्राप्त हुआ था। साथ में श्री गणेश की पत्नी सदृश दो शक्तियाँ ऋद्धि–सिद्धि भी चित्रित की जाती हैं। इसके चित्रण में यह भाव उत्पन्न होता है कि शुभ कार्य बिना किसी विघ्न बाधा के सम्पन्न हो।

घटधारिणी स्त्रियाँ

इनका चित्रांकन सौभाग्य सूचक होता है। समृद्धि वाहक देवी में रूप में वे परिवार में सुख–समृद्धि एवं घट जीवन की पूर्णता का प्रतीक है। ऋग्वेद में इन्हें 'उदय कुम्भनी' कहा गया है। बौद्ध ग्रन्थ 'ललित–विस्तार' में बुद्ध की माता महारानी महामाया की उद्यान यात्रा के समय पूर्ण कुम्भ कन्या का उल्लेख मिलता है। घटधारिणी स्त्रियाँ बौद्धकला में साँची, सारनाथ, मथुरा, अमरावती आदि स्थानों पर भी देखने को मिलती है। 'वाल्मीकि रामायण' में रावण के साथ आठ कन्याओं, राम के अभिषेक के समय सोलह कन्याओं का उल्लेख मिलता है। दही की मटकी लिये ग्वालिन शुभ–शकुन एवं समृद्धि की आकांक्षा से बनती है।

कलश

'ऋग्वेद' व 'अर्थववेद' में सोम तथा घृत से पूर्ण घटों का वर्णन है। यह सम्पन्नता के प्रतीक माने जाते हैं। धार्मिक पूजा में पूर्णघट का चित्रांकन 'त्रिदेव' (ब्रहमा, विष्णु, महेश) का प्रतीक माना जाता है। घट पर रखे आम्र–पत्र और पुष्प जीवन के नानाविध आनन्द व उपभोग हैं। उस पर रखा नारियल शास्त्रों के अनुसार साक्षात गणेश स्वरूप होता है।

गज

गज ऐश्वर्य का प्रतीक है। चित्रांकित गज को ऐरावत हाथी के समान माना जाता है। श्रीमद् भागवत पुराण, विष्णु पुराण, विष्णु धर्मोत्तर पुराण के अनुसार समुद्र मंथन के समय निकले हुये चौदह रत्नों में से एक गज भी था। गज पर आरूढ़ व्यक्ति राजा या समृद्धशाली देव–पुरूष माना जाता है।

अश्व

अश्व शक्ति के प्रतीक होते हैं। अश्वारूढ़ शक्तिशाली एवं सामर्थ्यवान वीर पुरूष होते हैं। अश्व गतिशीलता का द्योतक है।

कमल

कमल देवी लक्ष्मी के आसन रूप में चित्रित किया जाता है। चित्रांकन में लक्ष्मी का चित्र यदि नहीं हो केवल कमल का फूल भी देवी लक्ष्मी का स्वरूप होता है। उसकी उपस्थित लक्ष्मी आगमन का संकेत है। कमल नाल जल में रहकर भी अपनी जड़ जमीन में रखती है यह जल से निर्लिप्तता का भाव जगाती है।

स्वास्तिक

'हलायुध कोश' में स्वास्तिक को अर्थ चतुष्पद या चौराहा बताया है। यह भारतीय संस्कृति का सबसे पवित्र प्रतीक चिन्ह है। घर के द्वार पर भूमि पर या भित्ति पर बना स्वास्तिक – धन, यश एवं दीर्घायु का प्रतीक माना जाता है। पुराणों के अनुसार स्वास्तिक का आकार धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष को परिभाषित करता है। स्वास्तिक का ऊपरी खुला भाग 'मोक्ष' का प्रतीक है, अर्थात प्रभु भक्ति से ही मोक्ष प्राप्ति सम्भव है। नाग के मस्तक पर चित्रित श्वेत चिन्ह वेदों के अनुसार स्वास्तिक ही है जो महा पुरूषत्व को सूचित करता है। यजुर्वेद के अनुसार – सूर्यमण्डल के चार विद्युत केन्द्र हैं जिनमें पूर्व में वृद्धश्रवाइन्द्र, पश्चिम में पूषाविश्ववेदाइन्द्र, उत्तर में स्ताक्षप अरिष्टनेमि इन्द्र और दक्षिण में बृहस्पति इन्द्र हैं। इन चारों से घिरे स्थान का नाम वेदों में कल्याणवाची स्वास्तिक मण्डल माना गया है।

शंख

यह पाप नाशक, पवित्रता एवं ज्ञान का प्रतीक है। उसका स्वर मानव के लिये चेतना का उद्घोष है। शंख की उत्पत्ति अथर्ववेद के अनुसार – वायु, अन्तरिक्ष, विद्युत, तारा समूह तथा सूर्य से हुई है।

सूर्य–चन्द्र

लगभग सभी लोक–चित्रों से बनने वाले सूर्य–चन्द्र दिन व रात के प्रतीक हैं। सूर्य संसार का बाहय प्रकाश है जो तेज प्रदान करता है तथा जीवन रक्षक है। चन्द्रमा मन का प्रकाश है जो शीतलता देता है। ये जीवन की शाश्वतता के प्रतीक हैं।

चक्रकार साँतिया

व्यष्टि से समष्टि की ओर सतत प्रवाहमान होते हैं। बुन्देलखण्ड संस्कृति में जैन, बौद्ध तथा हिन्दू मूर्तियों में इसका प्रयोग पाया जाता है। मानव शरीर में सात चक्रों की कल्पना की गई है। क्रमशः गुदा में मूलाधार चक्र, लिंग मूल में स्वाधिष्ठान चक्र, नाभि में माणिपूर चक्र, हृदय में अनाहत चक्र, कण्ठ में विशुद्ध चक्र, भूमध्य में आज्ञा चक्र, मस्तिष्क में सहस्त्रार चक्र माने गये हैं। इन चक्रों के आधार पर ही मानव शरीर में क्रमशः गणेश, ब्रम्हा, सावित्री, विष्णु, लक्ष्मी, शिव, शक्ति, जीव, ज्योति तथा सदाशिव का प्रतीकात्मक निवास माना गया है। लोक–संस्कृति में भये के सांतिया इन्ही सात चक्रों का प्रतीक है।

देवी देवता

ब्रह्मा उत्पत्ति के, विष्णु पालक, के तथा शिव संहारक शक्तियों के प्रतीक हैं। भगवान विष्णु साक्षात परम ब्रम्ह हैं। सरस्वती विद्यादायिनी, पार्वती सौभाग्य दायिनी, लक्ष्मी सम्पत्ति एवं वैभव का प्रतीक

हैं। शिव का त्रिशूल परा, अपरा और पराङपरा तीनों का प्रतीक है। विष्णु का चक्र सात्विक अहंकार का, गदा बुद्धि का तथा कमल सृष्टि का प्रतीक है। चित्र में देवी की उपस्थिति उदारता, करूणा एवं विराटता का पर्याय है। राधा–कृष्ण प्रेम के उदात्त स्वरूप के प्रतीक हैं। बलराम–कृष्ण भ्रात–प्रेम के प्रतीक हैं।

फूल–पत्ती

चित्रों के चारों ओर या चित्रण में सौंदर्य वृद्धि के उद्देश्य से बनाई गई बेलें परस्पर सम्बद्धता तथा सहयोग की प्रतीक होती है। कमल के फूल की बेल बनाकर वंश वृद्धि की आकांक्षा प्रदर्शित करते हैं। फूल जीवन में कोमलता, सुगन्ध तथा प्रेम के प्रतीक हैं। पत्ती सहयोगी और परोपकारी भावना का पर्याय है। वैज्ञानिक तथ्यानुसार पत्तियाँ पौधे के लिये भोजन तैयार करती हैं।

पुतरियां

बुन्देलखण्ड में चित्रांकन का प्रमुख पात्र पुतरियां ही होती हैं। जिनकी मुखाकृति अस्पष्ट भावहीन या निर्लिप्त भाव लिये होती हैं। पैर चलने की मुद्रा में तथा हाथ ऊपर की ओर कर्म करने हेतु उद्यत रहते हैं। पुतरियां मानव को कार्य करने की प्रेरणा देती है। वे आदि–मानव की काल्पनिक देव शक्ति का हस्तांतरित रूप प्रतीत होती है।

नाग

सर्प काल के प्रतीक स्वरूप होते हैं वे अनंतकाल हैं। क्योंकि शेषनाग को अनंत माना गया है। नाग संस्कृति सदैव से बुन्देलखण्ड में पूजनीय है। नाग काम के प्रतीक होते हैं। नाग–भय से मुक्ति पाने हेतु भी चित्रित कर पूजे जाते हैं। काल की शाश्वतता दर्शाते हैं कि हमें में जीवन काल को नहीं भूलना चाहिये।

फलदार वृक्ष

लोक–चित्रों में फलदायक वृक्ष का चित्रण कर पूजना जीवन में फलदायी हो इस विश्वास का प्रतीक है। आम, केला आदि चित्रण में तो फलदायी है साथ ही उनके पत्ते पूजा में प्रयोग करना शुभ माना जाता है। वट–वृक्ष, पीपल, आंवला, तुलसी इत्यादि का चित्रण कर पूजना इनके गुणों की पूजा है जो मानव जीवन के लिये लाभकारी है।

अन्य प्रतीक

बुन्देलखण्ड में भक्ति का स्त्रोत गौड़ों के समय से प्रवाहित है। वे चंदा, सूरज, गंगा, अन्न,

शारदा माई, शीतला माई, मरई माता, रात माई आदि का पूजन करते थे। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रकृतिपरक देवी–देवताओं की पूजा यहाँ प्राचीन काल से होती चली आ रही है। इसी प्रकार समृद्धि के प्रतीक लोक–देवता – कुबेर, लक्ष्मी, गणेश आदि की पूजा भी की जाती रही है।

लोक–चित्रों में वर्ग व चर्तुर्भुज शुभ फलदायक देव मण्डल का, त्रिभुज शक्ति का, खाने या विभाजित खंड समृद्धि के भंडार और, दीपक ज्ञान का, डबुलियां, घट या कुठला धन–धान्य के प्रतीक होती है। कमल चौक कमलासन अर्थात लक्ष्मी का आसन, श्री यंत्र पराशक्तियों का प्रतीक, शिवलिंग सृष्टि का बीज तथा सर्प काल का प्रतीक है। मछली शुभ–शकुन के रूप में चित्रित की जाती है जो आत्मिक प्रेम दर्शाती है। मीन का जल से विलग होना मृत्यु है।

सुराती–सुरेता के चित्रों में मुख चतुर्भज या वर्ग फलदायक देव मण्डल के स्वरूप होते हैं। चित्रांकन में प्रयुक्त बिन्दु शिव और शक्ति का प्रतीक तथा सृष्टि का प्रारम्भ माना जाता है। रेखायें भी अपना महत्व रखती हैं। सीधी रेखा–स्पष्टता तथा सरलता का बोध कराती हैं। वलयाकार– गतिशीलता तथा प्रवाह की द्योतक है। एक दूसरे को काटती निषेधात्मक तथा ऊँची–नीची पहाड़ की चोटी जैसी– जीवन के उतार चढ़ाव प्रदर्शित करती है। त्रिकोण शक्ति का प्रतीक हैं उदाहरणार्थ– पुतरियां का चित्रांकन कोणों से ही होता है। बुन्देलखण्ड में प्रागैतिहासिक काल से वर्तमान तक शक्ति का पूजन होता आ रहा है। शक्ति चित्रांकन में हो या जड़ तथा चेतन में हो समान रूप से पूजी जाती है।

वर्ण प्रतीक

पूजा में वर्ण प्रतीकों का भी अत्यंत महत्व होता है। इसमें अक्षरों का प्रयोग प्रतीकात्मक रूप से होता है। वर्ण प्रतीकों का प्रयोग अक्षरों तथा मंत्रों के रूप में स्थापित कर दिया गया। परमेश्वर की तीन शक्तियाँ प्रमुख मानी जाती हैं – अनुंतर, इच्छा और उन्मेष। अनुन्तर का 'अ', इच्छा का 'इ', उन्मेष का 'उ' का मेल 'ऊँ' का निर्माण करता है। भारतीय संस्कृति का प्रथम परमब्रम्ह वर्ण 'ऊँ' हैं। जिसका प्रयोग लगभग सभी धार्मिक चित्रणों में, ग्रन्थों में, मंत्रों में अवश्य किया जाता है। 'ऊँ' भारतीय संस्कृति का श्रेष्ठ वर्ण प्रतीक है। 'अ' ब्रह्मा 'ई' जीव और 'म' प्रकृति का भी प्रतीक माना जाता है।

अंक प्रतीक

लोक–चित्रों में शून्य को ब्रम्ह का प्रतीक, एक को परम सत् का प्रतीक मानते हैं। लोक–चित्रों में अधिकतर जोड़े में चित्रण किया जाता है। नर–नारी, दो पक्षी, (चिड़िया–चिरौटा), भाई–बहन, देवरानी–जेठानी आदि बनाये जाते हैं। यह दो अंकों के उदाहरण हैं। अंक तीन ब्रम्हा–विष्णु–महेश को प्रदर्शित करता है। लोक चित्र तथा लोक साहित्य में त्रिदेव, त्रिमूर्ति, त्रिवेणी, त्रिकाल, त्रिधारा, त्रिशूल

का वर्णन मिलता है। चतुर्भज, चौक, अंक चार के प्रतीक हैं। तीज–त्योहार मनाने में भी प्रतिपदा, दूज, तीज, चौथ, पंचमी, षष्ठी आदि का महत्व है। लोक–चित्रों में सात का महत्व बहुत होता है। सम्बंधित कथाओं में सात, भाई, बहन, भौजाई आदि वर्णित किये जाते हैं और उन्हीं का चित्रांकन भी होता है। लोक जीवन में भी सात अंकों का महत्व है जैसे सप्त मातृकायें, सप्तऋषि, सात समुद्र, सात दिन (सप्ताह) सप्तपदी, सात नदियाँ आदि।

इसी प्रकार अष्टमी, अष्टद्रव्य, अंक आठ तथा नवमीं और नवग्रह, नवदुर्गा, अंक नौ आदि लोक चित्रण में महत्व रखते हैं नौ पूर्णांक है वह पूर्णता का प्रतीक है। दशहरा, देवठान, ग्यारस, ओक दुआस (द्वादशी), धनतेरस, अनन्त चतुर्दशी अमावस्या और पूर्णिमा जो पन्द्रह अंक की पर्याय है।

उपादान

बुन्देलखण्ड में लोक–चित्रण के उपादान सर्वसुलभ एवं मानव जीवन के उपयोगी तत्व हैं। प्रत्येक लोक–चित्र बनाने में विशेष तौर से जो उपादान प्रयोग होते हैं, वे लोक चित्रकला की महत्ता को बढ़ाते हैं।

खनिज रंग

लोक चित्रण में खनिज रंगों का प्रयोग बहुत किया जाता है। प्रकृति के प्रारम्भ से ही आदि मानव ने अपने आस–पास जिन वस्तुओं को देखा वही उसके लिये कला अभिव्यक्ति के उपादान बने। उनमें प्रमुख है– गेरू, चूना। इन खनिज रंगों की अमिट छाप आज तक गुहा चित्रों में प्राप्त हो रही है। गेरू एक ऐसा खनिज है जो चूने से पुती सफेद भित्तियों पर सुन्दर लाल–भूरे रंग की रेखायें बनाता है। गेरू से बने चित्र सहज रूप से आकर्षित करते हैं। जैसे– गेरू से चित्रित दिवारी मुख्य द्वार पर चित्रित आरते–मौरते आदि। लोक चित्रण में इसी कारण गेरू का महत्व है क्योंकि वह सर्व सुलभ है, चित्रण टिकाऊ रहता है। लाल रंग शुभ व मंगल का प्रतीक भी होता है। चूने में प्राकृतिक तथा अप्राकृतिक रंग मिलाकर रंगीन बना दिया जाता है। उससे अनेक भित्तिचित्र बनाये जाते हैं, जैसे– चितैरी कला के चित्र।

प्राकृतिक

यह उपादान मिट्टी तथा गोबर है। बुन्देलखण्ड के लगभग सभी लोक चित्रों में प्रयुक्त होते हैं। इसका प्रमुख कारण कृषि की प्रधानता है। कृषि कार्यों में संलग्न यहाँ के निवासी पृथ्वी की उर्वरा शक्ति से सदैव प्रभावित रहे है। पृथ्वी उसे अन्न देती है। जिससे सुख समृद्धि जीवन व स्वास्थ्य प्राप्त होता है। पृथ्वी की उर्वरा शक्ति को द्विगुणित करने में उपजाऊ मिट्टी और उर्वरक के रूप में गोबर सहायक

होता है। ग्रामीण क्षेत्रों में मिट्टी को शीतल माना गया है। काली मिट्टी रोग नाशक तथा मुलतानी मिट्टी सौन्दर्य वर्धक मानी जाती है।

इसी प्रकार आयुर्वेदिक दृष्टिकोण से गोबर कीटाणुनाशक होता है। चर्म रोग में गोबर का लेपन शरीर पर कर स्नान करने से व्याधि दूर हो जाती है। वातावरण शुद्ध करता है, प्रदूषण नाशक है। सूखे गोबर (कंडे) को जलाने से वातावरण में व्याप्त लघुकीट समाप्त हो जाते हैं।

हल्दी

चित्रण में हल्दी का प्रयोग अत्यन्त शुभ माना जाता है। सभी परिवारों में आसानी से प्राप्त होने वाला पदार्थ है। चित्रण के समय गीली हल्दी प्रयुक्त की जाती है किन्तु सूखने पर वह भित्ति पर अपना रंग बनाये रखती है। हल्दी चूने से पुती भित्ति पर प्रयुक्त होने के बाद लाल रंग में परिवर्तित हो जाती है। हल्दी प्रेम का प्रतीक है। हल्दी में अनेक औषधीय गुण भी होते हैं – वह रोग प्रतिरोधी क्षमता रखती है। शोथ को समाप्त करती है। घाव को शीघ्र भरने में, रक्त शोधन कार्य में, पाचन शक्ति बढ़ाने में सहायक है। सौंदर्य वर्धक घरेलू प्रसाधन है। विवाह में वर–वधू को हल्दी चढ़ाना सौंदर्य वर्धन का उदाहरण है।

चंदन

चंदन से चित्रण अत्यन्त शुभ माना जाता है। संभवतः जीवन की कठिनाइयों में चंदन से चित्रण शीतलता तथा सुगंध भर देता है जिससे मानव सुख, शान्ति पाता है। चंदन का तिलक लगाना उसे शिरोधार्य करना है। महान ऋषि, मुनि, पंडित तथा ज्ञानी चंदन का त्रिपुण्ड लगाते हैं। चंदन मस्तिष्क की उत्तेजना का नाशक तथा शान्ति देने वाला है। मस्तिष्क समस्त शारीरिक तंत्रिका तंत्र का संचालक है। चंदन की शीतलता मस्तक से सम्पूर्ण शरीर को प्रभावित करती है।

चंदन के गुण विशेष होते हैं जैसे– शीतल, विष हरने वाला, शारीरिक व मानसिक दाह को शान्त करने वाला है चंदन शरीर की आन्तरिक व्याधियों में प्रयुक्त औषधि निर्माण में भी सहायक है।

अनाज

समस्त अनाज, बलवर्द्धक, पौष्टिक तथा जीवनदायक होते हैं। पूजा में चावल अक्षत के रूप में जाना जाता है। चित्रण में चावल को पीस कर प्रयुक्त करते हैं। गोबर से लिपी भित्ति पर पिसे चावल का घोल जब सुन्दर लोक–चित्रण का माध्यम बनता है तो सुन्दरता निरखते ही बनती है। खेतों में उपजा धान उससे बना चावल मानव के श्रम का फल है जिससे आराध्य देव का चित्रण करना वास्तव

में प्रभु को श्रम का फल अपर्ण करना है। गेहूँ का आटा भी चौक पूरने का प्रमुख उपादान है। वह भ प्रभु से आत्मिक प्रेम और आकार प्रदर्शित करता है। भूमि से उत्पन्न अन्न भूमि चित्रांकन हेतु प्रयुक्त कर मानव कृतार्थ हो जाता है।

शिशु जन्म के समय 'भये के सांतिया' और चरूआ पर चने की दाल तथा जौ के सुसज्जित दाने अपने गुणों के कारण शोभायमान होते हैं। चने की दाल मधुर, पौष्टिक व बलवर्द्धक होती है। जौ के गुण पथ्य, कुपचन दूर करने वाले तथा ठंडक देने वाले होते हैं। यदि हम चने की दाल और जौ के गुणों का विवेचन समयानुकूल करें तो सार्थकता स्पष्ट दिखाई देगी। इस प्रकार प्रसूता और नवजात शिशु के स्वास्थ्य की कामना धान्य के माध्यम से भी की जातीं है।

श्रृंगारिक

सौभाग्यशाली स्त्री के सोलह श्रृंगार सर्वविदित हैं। अपने सुख–सौभाग्य पर गौरवान्वित नारी पूजा के माध्यम से सुहाग चिन्ह देवी–देवताओं को अर्पण करती है। जिससे उसका सुहाग अमर हो। बुन्देलखण्ड की नारी सिंदूर तथा महावर को लोक चित्रण में प्रयुक्त करती है। दोनों सौभाग्य के प्रतीक हैं। 'सुहागिलों' में बनने वाली 'पुतरियाँ' सिंदूर से ही बनती हैं। रोली का प्रयोग भी श्रीवृद्धि हेतु किया जाता है। सिंदूर तथा रोली को पूजन के बाद मस्तक पर लगाना सौभाग्य सूचक माना जाता है।

उपयोगी

'आसमाई' तथा 'ऋषि पंचमी' पर पान के पत्ते पर हल्दी से चित्रण किया जाता है। पान समाज में सर्वप्रिय पवित्र पत्र है। आपसी प्रेम और सौहार्द बढ़ाता है। 'दसरये को पान' (दशहरे का पान) बहुत प्रसिद्ध है। प्रिय तथा सगे–सम्बंधियों को दशहरे पर पान खिलाना आपसी प्रेम बढ़ाने का प्रतीक माना जाता है। संभवतः पान अपने गुणों के कारण पूजनीय है। पान उष्ण, पाचक, घावों को ठीक करने वाला है। पान कृमि नाशक भी है इस कारण बच्चों को पान के पत्ते की घूंटी दी जाती है। पान के साथ प्रयुक्त सुपारी भी गुणकारी तथा मांगलिक मानी जाती है। पूजा में उसे श्री गणेश के समान स्थान प्राप्त है। पूजन में प्रयुक्त अन्य सामग्रियां जैसे– दूर्बा, तुलसी, दूध, घी, फूल, जल, कपूर, हवन सामग्री इत्यादि भी प्रकृति की अनुपम भेंट है जो जीवनोपयोगी तथा फलदायी है।

बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला अत्यन्त समृद्ध और प्रभावशाली है। उससे सम्बंधित कथायें नैतिक संदेश तथा मानवीय संवेदनाओं को प्रस्तुत करने में सक्षम है। भूमि तथा भित्ति चित्रण अवसर के अनुकूल अपना सौंदर्य बिखेरते हैं। जन–सामान्य की सरल भावनायें लोक–चित्रण के माध्यम से प्रगट

होती हैं। लोक भावनाओं का निर्झर प्रतीकों के अनुसार चित्रण में समाहित रहता हैं। इनमें जीवनोपयोगी तत्वों का समावेश ईश्वरीय शक्ति की उपासना है। मानव जन्म की सार्थकता, जीवन का लक्ष्य और प्रतीकों के रहस्यात्मक संकेत सभी समग्र रूप से लोक–चित्रण में प्रगट होते है। इन लोक चित्रों में बुन्देलखण्ड की संस्कृति, मान्यतायें तथा जन विश्वास के मूर्त रूप में दर्शन होते हैं। लोक चित्रों के प्रदर्शन से समाज में सामूहिक चेतना जागृत होती है। अवसर अनुकूल उत्साह होने से मनोरंजन और उल्लास स्वतः स्फूर्त होता है। लोक चित्र हमारे जीवन में प्रेरक का कार्य करते हैं जिससे परस्परता और सहयोग की भावना पनपती है। वे हमारी अन्तश्चेतना है। प्रत्येक युग में समसामयिक होने के कारण हमें सह–जीवन की प्रेरणा देते हैं।
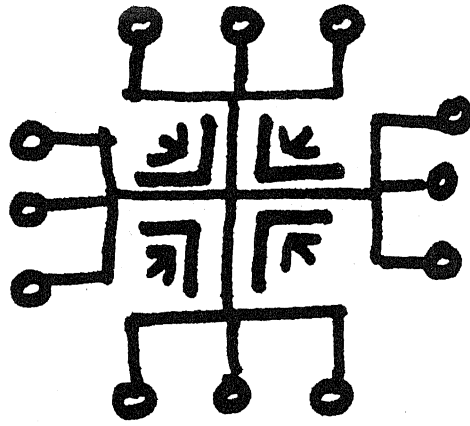
अध्याय–6

चित्रकला में बुन्देलखण्ड का योगदान

भारतीय चित्रकला में क्षेत्रीय लोक–चित्रकला सदैव सम्बद्ध रही है। क्षेत्रीय कला, भारतीय चित्रकला को विश्रृंखलित होने से बचाती है। शास्त्रीय चित्र परम्परायें स्थानीय, जातीय और क्षेत्रीय लोक चित्र परम्पराओं के सह अस्तित्व से जीवित रहती है। चित्रकला का इतिहास बहुत प्राचीन है। इसे आदिम विद्या से जोड़ा जाता है। आद्य मिथक के रूप में शास्त्रीय से पूर्व प्रागैतिहासिक कला बिना किसी नियम या विशिष्ट साधनों के स्मृति के आधार पर जीवित थी। समय के प्रवाह में लिपि, साहित्य–संस्कृति के ज्ञान के साथ वेद–पुराण रचे गये। विभिन्न विचार प्रणालियाँ तथा दार्शनिक विचार धाराएं उत्पन्न हुईं। इनकी उत्पत्ति लोक दर्शन से ही हुईं दार्शनिक और शास्त्रीय सिद्धान्तों के उपयोगी तत्व सदैव लोक में विद्यमान रहते हैं। इस प्रकार शास्त्र में प्रतिष्ठित सिद्धांत और लोक में प्रतिष्ठित जीवन आदर्श दोनों एक दूसरे के पर्याय हैं। लोक चित्रकला का सामान्य जीवन में बहुत महत्व है। इसमें लोक मन की स्मृतियों की अभिव्यंजना होती है। इन्ही का रस और माधुर्य लेकर शास्त्रीय चित्रकला को विस्तृत कार्य क्षेत्र प्राप्त होता है।

लोक–चित्रकला की उत्पत्ति हृदय की भावना है। लोक जीवन में उसका विशेष स्थान है। मानव अपने हृदय के स्वाभाविक आनन्द को तूलिका द्वारा प्रभावोत्पादक शैली में प्रदर्शित करता है। भारत की चित्रकला का स्थान विश्व की चित्रकला में अत्यन्त महत्वपूर्ण है। यहां का अध्यात्म, दर्शन सदैव से विश्व–पटल पर आदरणीय रहा है। भारत की चित्रकला की चित्र शैलियां निरन्तर विकासशील रही है। भारतीय चित्रकला के आकार, रंग–विधान आदि विश्व को मानवीय–सत्य से परिचित कराते हैं। भारत की चित्रकला में बुन्देलखण्ड का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

विकास

बुन्देलखण्ड के मंदिर और दुर्ग में चित्रकला का प्रयोग मिलता है। यहां के शासक कला प्रिय

थे। इसका प्रमाण है शुंगकाल में निर्मित साँची के स्तूप, गुप्तकाल में देवगढ़ का दशावतार मंदिर 9वीं तथा 10 वीं शताब्दी में प्रतिहारों का जराय मठ जो बरूआ सागर में स्थित है। टीकमगढ़ में मडखेड़ा और उमरी में स्थित सूर्य मंदिर भी प्रतिहारों के कला प्रेम को प्रदर्शित करता है। उत्तर गुप्त कालीन देवगढ़ के मंदिर अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। चंदेल कालीन खजुराहो और गैराहा का शिव मंदिर विदेशी पर्यटकों के लिये आकर्षण का केन्द्र है। ओरछा और दतिया की चित्रकला को तो विश्व की चित्रकला में भी स्थान दिया गया है।

ओरछा, दतिया तथा झाँसी, ग्वालियर, समथर, पन्ना तथा मदनपुर के मंदिर तथा राज भवन में बुन्देली चित्र शैली के चित्रों की उपस्थिति इस बात को दर्शाती है कि चित्रकला का प्रयोग तथा प्रदर्शन प्रत्येक युग में बुन्देलखण्ड में उपस्थित था।

शैल चित्र

पुस्तक के अध्याय–दो में उल्लेख है कि नर्मदाघाटी की सभ्यता सबसे पुरानी है यहां जो शैल चित्र पाये गये हैं। उन्हें सभ्यता और कला के विकास क्रम का प्रथम सोपान माना जाता है। झाँसी के निकट चिरगाँव से लगभग 5–6 कि0मी0 दूर बाघाट में प्राचीन चित्रकला के चिन्ह पहाड़ी गुफाओं में प्राप्त होते हैं। पौराणिक इतिहास के आधार पर महाभारत कालीन बाकाट (बाघाट) गुरू द्रोण का जन्म स्थान है। पुरातत्व–वेत्ताओं और इतिहासकारों के अनुसार – बाघाट की पहाड़ियों पर बने चित्रों में जो लाल रंग प्रयुक्त हुआ है उसी रंग से बने चित्र केवल होशंगाबाद, चीन तथा स्पेन में पाये गये हैं। यही रंग फ्रांस के दक्षिण में पिरेनीज और चीन के गौबी जंगलों में पाये जाने वाले चित्रों में प्राप्त होता है। बाघाट की पहाड़ियों में 'स्वास्तिक' प्रतीक चिन्ह भी पाया गया है, जो लोक–चित्रकला में विशेष महत्त्व रखता है। इतिहास वेत्ताओं के अनुसार – आद्य ऐतिहासिक युग में विश्व के जिन क्षेत्रों में सभ्यता का मुख्य रूप से विकास हुआ वे मिस्र, मेसोपोटामिया, भारत और चीन है।

इसी आधार पर निरन्तर शैल चित्रों की खोज होती रही क्योंकि यही शैल चित्र भविष्य में शोध विषय में परिवर्तित होते हैं। इस प्रकार की खोज में सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड के साथ भारत के चित्रकला विशेषज्ञों एवं इतिहासकारों को नवीन दिशा मिलती है। श्री एन0 पी0 गुप्ता के अनुसार–

"बुन्देलखण्ड क्षेत्र में कुछ अन्य चित्रित शैलाश्रय खोज निकाले गये हैं। 1962 में श्री के0 पी0 जडिया ने पन्ना के पास बृहस्पति कुण्ड के शैल चित्र खोजे। सागर विश्वविद्यालय के डा0 श्याम कुमार पाण्डेय को 1970 में छतरपुर जिले में देवरा पहाड़ी पर लाल गेरू रंग से निर्मित दो फुट लम्बी मछली का चित्र प्राप्त हुआ था। पन्ना से दक्षिण में चौदह किलोमीटर दूर पन्ना–गुन्नौर मार्ग पर बराछ नामक

ग्राम के समी[illegible] वाले नाले के किनारे अनेक चित्रित शैलाश्रय स्थित हैं। वहां एक खुले छत्ते के आकार [illegible]ाश्रय 'पण्डवन' है। इसकी दीवारों तथा छत पर लाल गैरिक रंग से अनेक चित्र बने हैं। कहीं–कहीं सफेद और काले रंग का प्रयोग भी किया गया है। अनेक स्थान पर पहले बने चित्रों पर दूसरे चित्रों का प्रक्षेपण किया गया है। एक फुट लम्बा लाल रंग का जंगली भैंसे का चित्र सबसे प्रभावशाली है। उसके ऊपर दूसरी चित्र शैली में बनाया गया भागते सांभरो का चित्र है। इनके शरीर की बाह्य रेखायें लाल रंग से बनाई गई हैं। अन्दर का भाग आड़ी–तिरछी लाल रंग की रेखाओं के द्वारा बनाया गया है। इसी शैलाश्रय में घुड़सवार योद्धाओं के अनेक चित्र भी बने हैं। योद्धा के एक हाथ में घोड़े की लगाम तथा चंद्राकार ढ़ाल है तथा दूसरे हाथ में दुधारी तलवार है। पूरा शरीर लाल रंग का है तथा बालों की लहरदार खड़ी रेखाओं से योद्धा कोध तथा युद्धोन्माद में प्रतीत होता है। यह गतिशील चित्र हैं। इसी प्रकार हाथी पर सवार योद्धा, बैल, हिरण, बगुला तथा पहाड़ी पर चन्द्र आदि चित्र हैं। इसी शैलाश्रय के समीप एक अन्य शैलाश्रय में योद्धा, बैल और मनुष्य का चित्रण मिलता है।''

पन्ना से लगभग 20 मील दूर पन्ना पहाड़ी खेड़ा मार्ग पर इटवा ग्राम के सामने पहाड़ी पर स्थित है। चट्टानों पर चित्र बने हैं उसमें लाल रंग के खजूर वृक्ष उखाड़ते हुये एक हाथी, काले रंग से बना कुत्ता, अठारह शलाका मानव समूह नृत्य में भाग लेते हुये आदि प्रमुख हैं। इस स्थान को लाल पुतरिया के नाम से जाना जाता है। पन्ना से 2 किमी. दूरी पर कुंजवन नामक ग्राम के पीछे दो चित्रित शैलाश्रय पाये गये हे जिसमें पहला मझपहरा तथा दूसरे का नाम टपकनिया है मझपहरा आकार में बहुत बड़ा है उसकी छत बाहर की ओर निकली है किन्तु इसमें चित्रों की संख्या कम है। लाल गैरिक रंग से हिरण, सांभर, बन्दर एवं बैल आदि छोटे जानवरों के चित्र है। चित्रों के साथ 14 वीं शताब्दी की देवनागरी लिपि में गोंड़ आदिवासी लेख भी है जिसमें विक्रम संवत 1369 का उल्लेख है।

टपकनियां में सफेद रंग से एक जंगली सुअर ज्यामितीय रेखाओं से चित्रित है। सांभर तथा यात्रा जुलूस का सुन्दर चित्र भी है जिसमें तीन व्यक्ति हाथी पर सवार हैं जिसके आगे कुछ लोग नृत्य करते और देहाती बीन बजाते जा रहे हैं। एक व्यक्ति कांवर में जल लेकर चल रहा है। इसका सम्बन्ध तीर्थ यात्रा से प्रतीत होता है।

पन्ना से दक्षिण में रमपुरा ग्राम के समीप बहने वाले धवारी नाले के मध्य एक बहुत गहरा कुण्ड है जिसके समीप एक शैलाश्रय है इस पर युद्ध दृश्य का बहुत ही सुन्दर चित्रण किया गया है। इस चित्र में पैदल चलते योद्धाओ की तीन पंक्तियाँ हैं। ऊपरी पंक्ति में तेरह पैदल योद्धा एक हाथ में चन्द्राकार ढ़ाल लिये तथा दूसरे हाथ में दोधारी सीधी तलवार लेकर अत्याधिक गति से दौड़ रहे हैं। दूसरी दो पंक्तियों के योद्धाओं के पास ढ़ाल तलवार या भाला धनुष आदि है। कुछ व्यक्तियों को दूर से इन पर

धनुष–बाण से वार करते दिखाया गया है। पंक्तियों के मध्य सफेद रंग से एक घुड़सवार चित्रित है जो काठी पर बैठा है। वह युद्ध का सेनापति या सरदार लग रहा है। घोड़े की गर्दन बहुत लम्बी बनी है जिससे वह जिराफ प्रतीत होता है। घुड़सवार के पीछे एक व्यक्ति ऊंचे डंडे में बंधें हुये मोर पंख वाला राजदण्ड लेकर चल रहा है। एक दूसरे चित्र में सफेद रंग की नृत्य करती हुई स्त्री है, जिसका शरीर लम्बा और आयताकार है। यहीं अनेक स्थानों पर कूबड़दार बैल भी बने हैं।

पन्ना से ही दक्षिण में 37 किमी0 दूर रामपुर ग्राम के समीप पन्ना–कटनी रोड पर स्थित अमान गंज नामक कस्बे से रास्ता जाता है वहां पुतरिहाऊ घाटी स्थित है। यह शैलाश्रय म0प्र0 शासन द्वारा विकसित किये गये गंगऊ राष्ट्रीय उद्यान में हैं। शैलाश्रय बहुत लम्बा है उस पर कई बार चित्रों का आक्षेपण किया गया है। लाल गैरिक रंग से लम्बी आयताकार शरीर वाली मानवाकृतियां चित्रित है जिन्हें लहरदार खड़ी रेखाओं से चित्रित किया गया है। इसमें अनेक जंगली जानवरों के युद्ध दृश्यों में तथा शिकार दृश्य भी बने हैं। मुख्य शैलाश्रय के आस–पास अन्य शैलाश्रय भी हैं। जिनमें ठाढ़ापाथर नामक शैलाश्रय पर सामूहिक नृत्य दृश्यों की अधिकता है।

कल्याणपुर–बिलाड़ी नामक पर्वत पर एक शैलाश्रय पर चित्र पाये गये हैं। यह स्थान पन्ना के उत्तर में अजयगढ़–धरमपुर मार्ग में कल्याणपुर ग्राम के समीप है। यह शैलाश्रय जमीन से लगभग तीन सौ फुट ऊपर घने वन में स्थित है। लगभग सौ फुट लम्बे और पचास फुट चौड़े इस शैलाश्रय की दीवार पर अनेक वन–मानव आकृतियाँ, सांभर, बैल तथा बंदर आदि चित्रित हैं। इन चित्रों में गैरिक और सफेद रंग का प्रयोग हुआ है। आकृतियों का निर्माण लहरदार तथा आयताकार आकारों से किया गया है तथा शरीर को तिरछी रेखाओं से भरा गया है। प्रत्येक रेखा से छोटी–छोटी रेखाओं की शाखा निकाली गई है।

छतरपुर जिले में जटाशंकर क्षेत्र एक धार्मिक स्थल है। यहां मंदिर के ठीक ऊपर लगभग एक फर्लांग तक उभरी छत वाले शैलाश्रय फैले हुये हैं इसकी चट्टानें बहुत भुरभुरी हैं जिसके कारण चित्र नष्ट हो गये हैं। कुछ जानवरों और मानवाकृतियों के चित्र दिखते हैं। जिनमें पूंछ ऊपर उठाये बंदरों की पंक्ति उल्लेखनीय है। जिला छतरपुर में ही देवरा ग्राम के समीप पहाड़ी गुफा में दो फीट लम्बी मछली का सुन्दर चित्र प्राप्त हुआ है। जो लाल गैरिक रंग से बना है। छतरपुर के भौंरीगाँव की दो पहाड़ियों के मध्य गुफानुमां शिलाओं पर गेरुये रंग से बनो 25–30 शैल चित्र प्राप्त हुये जिनमें शिकार के दृश्य प्रमुख हैं। मानवाकृतियाँ हाथों में पत्थर और उससे बने औजार लिये भैंसा और अन्य जानवरों का पीछा करते नजर आती हैं।

झांसी–दतिया मार्ग से लगभग 22 किमी0 दूरी पर स्थित ग्राम फुलेरा में शैल चित्र पाये गयें हैं। वहाँ 'सिद्धन की टोरिया' नामक शैलाश्रयों की भित्तियों पर लाल गेरू से विभिन्न आकृतियाँ चित्रित है।

इन चित्रों में [illegible] का दृश्य चित्रित था जो समय के साथ धूमिल हो गया है।

इसी प्रकार बुन्देलखण्ड में अन्य स्थानों पर भी शैल चित्र पाये गये हैं जिसमें होशंगाबाद जनपद में आदमगढ़, बरखेड़ा, पंचमढ़ी आदि सीहोर में कठौनियाँ, करड आदि पन्ना जनपद में भीम बैठका, उदय गिरि, रामछज्जा की गुफायें, बृहस्पति नर्मदा घाटी में पुतली खोह आदि प्रमुख हैं। इसी प्रकार उत्तर प्रदेश स्थित बाँदा जनपद में मानिकपुर आदि स्थानों में पर्वतीय गुफाओं के सहस्त्रों चित्र प्राचीनतम लोक–कला के उदाहरण हैं। इन शैल चित्रों के विषय अधिकांशतया प्रागैतिहासिक मानव जीवन पर आधारित है। मुख्यतया बैल, साँड, साँभर, हिरण, चीतल, घोड़े, बाघ, हाथी, मोर, नील गाय आदि चित्रित हैं। कहीं पर हाथियों का युद्ध, नील गायों के साथ पुरूष समूह, शिकार करता मानव समूह इत्यादि चित्रित किये गये हैं। सामाजिक चित्रों में माँ–पुत्र, योद्धागण, सामूहिक नृत्य करते स्त्री–पुरूष आदि प्रमुख हैं। इन चित्रों से आदि मानव सभ्यता ज्ञात होती है। शैल–चित्रों में गेरू, काला रंग, सफेद रंगों का अधिक प्रयोग हुआ है। कहीं–कहीं हरे, पीले, लाल रंग का प्रयोग भी देखने को मिलता है।

उपरोक्त सभी शैल चित्र बुन्देली लोक–कला के आधार है जो वर्तमान में भी घरों में बनाये जाते हैं। पुतरियाँ, आरते–मौरते तथा पशु–आकृतियाँ आदि बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला के अभिन्न अंग हैं। उनका रेखांकन लगभग शैल चित्रों के समान है। समयान्तर से थोड़ा बहुत परिवर्तन हुआ है।

लोक चित्रों के रंगों में गेरू, कोयला, छुई तथा चूने आदि की प्रमुखता वर्तमान में भी है।

स्थापत्य में चित्रकला

आदि काल के पश्चात् चित्रकला का विकास अजन्ता युग में हुआ। उसकी भाव व्यंजना, रहस्यात्मकता तथा मानव जीवन की आदर्श रूपता का प्रभाव बुन्देलखण्ड की चित्रकला में परिलक्षित हुआ। बुन्देली चित्रकला का विकास चंदेलों के समय से माना जाता है। इसका उदाहरण मदनपुर के विष्णु मंदिर में मिलता है। यह चंदेल राजा मर्दनवर्मा (1130–65 ई0) के समय के हैं। यह चित्र मंदिर की छत की निचली सतह पर बनाये गये हैं। इनकी पृष्ठ भूमि चूना और तेल मिलाकर उसमें भूरे, नीले या अम्बर के पलस्तर को पीट–पीट कर तैयार की गई लगती है। इन पर चित्र बनाने के लिये चित्रों की आकृतियों की बाहरी रूपरेखा जले कोयले या गेरू से खींच ली जाती थी। फिर इस रूपरेखा के बीच में विभिन्न रंग भर दिये जाते थे। इस प्रकार बने चित्र प्रायः सपाट होते है और उनमें विशेष प्रकाश छाया चित्रण नही होता है।

मदनपुर के विष्णु मंदिर में इसी प्रकार के चित्र उपलब्ध हैं। इन चित्रों में गंधर्व, देवी–देवता, महिला, पुरूष, पशु–पक्षी, साँप, दैनिक जीवन के पहलू आदि चित्रित हैं। कुछ पंच तंत्र की कहानियों

को प्रदर्शित करते हैं। यह विष्णु मंदिर (मदनपुर) ललितपुर से 39 मील दक्षिण पूर्व में स्थित है।

सिकंदर लोदी के काल (1488–1517 ई0) में मानसिंह तोमर (1486–1516 ई0) ग्वालियर का शासक था। सिकंदर लोदी कला प्रेमी था उसका प्रभाव सम्पूर्ण भारत में था। बुन्देलखण्ड में उस समय बुन्देलों का प्रवेश हो चुका था। ग्वालियर में कला का विकास तीव्रगति से हो रहा था। वहां के चित्रों को 'ग्वालियरी चित्रों' के नाम से ख्याति मिलने लगी थी। सन् 1518 ई0 में लोदियों ने ग्वालियर पर विजय प्राप्त की। वहां के कलाकार तितर–बितर होकर आस–पास के क्षेत्रों में चले गये। तब तक कला–साधना एक स्थान पर हो रही थी, किन्तु फिर सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में स्वतंत्र ईकाईयों के रूप में चित्र बनने लगे। यहां उल्लेखनीय है कि तोमरों से पूर्व ग्वालियर पर चंदेलों का शासन था। जिस कारण चंदेलों और तोमरों की मिली जुली परम्पराओं से बुन्देली चित्रकला का स्वरूप बना। उसके बाद बुन्देली चित्रों पर मुगल चित्रकला तथा राजपूत चित्रकला का प्रभाव पड़ा। इसके उदाहरण–ओरछा का राज मंदिर, जहाँगीर महल, प्रवीण राय का महल और दतिया का सतखंडा महल और तालबेहट के नृसिंह मंदिर आदि है।

प्रभाव

बुन्देली चित्रों पर मुगल शैली तथा राजस्थानी शैली का प्रभाव परिलक्षित हुआ इसके लिये मुगल शैली तथा राजस्थानी शैली का उदभव विकास तथा विशेषतायें जानना आवश्यक है।

मुगल शैली

भारत में मुगलों के सभी पूर्वज चित्रकला प्रेमी थे। वे मध्य एशिया के तुर्की, मंगोली और निकटवर्ती चीनी राजवंशों से सम्बद्ध थे। सुप्रसिद्ध चित्रकार बिजहाद हुसैन उनके संरक्षण में था। अकबर के पिता हुमायूँ को जब शेरशाह ने भारत से खदेड़ दिया तब उसने अपने प्रवास के वर्ष (1543–44 ई0) ईरान में व्यतीत किये। वहीं वह ईरानी चित्रकारों के संपर्क में आया। उसके भारत लौटने तक बिजहाद की मृत्यु हो चुकी थी। हुमायूँ बिजहाद के दो शिष्यों तब्रेजी मीर सैयद अली और शीराजी ख्वाजा अब्दुस्समद को अपने साथ लेता आया। इन्ही दोनों चित्रकारों ने भारतीय चित्रकारों के साथ मिलकर चित्र तैयार किये। वे चित्र चीनी, मंगोली, मध्य एशिया, ईरानी और भारतीय शैली के मिले जुले रूप थे।

इसके पश्चात् अकबर मुगल शैली के भारतीय रूप के प्रमुख संरक्षक माने जाते हैं। वे सर्वधर्म सम्भाव के प्रणेता थे। उसी भावना के अर्न्तगत उन्होंने ईरानी और भारतीय कलाकारों को सम्मिलित कर चित्रों की रचना करवाईं

वे चित्र, समकालीन ग्रन्थों हम्जानामा, रज्मनामा (महाभारत) वाक्यात बाबरी (बाबर की आत्म

कथा) अकबर नामा, अयारदानिश, रामायण, कालिया दमन आदि के लिये तैयार किये गये थे। चित्रों में एक चश्म चेहरे आकृतियों की सुंदर गढ़न, प्राकृतिक दृश्य, पशु–पक्षी आदि का अद्‌भुत चित्रण किया गया है। उनमें सिंदूर, नील, प्योरी, हिंगुल, गुलाली, गेरू, हिरोंजी, रामरज और सफेदा आदि रंगों का प्रयोग किया गया। अकबर के बाद जहाँगीर ने चित्रकला परम्परा में रूचि ली तथा उसमें वृद्धि भी की। उसने अपनी सचित्र आत्म कथा "तुज़के–जहाँगीर" तैयार करवाईं जहाँगीर चित्रकला का प्रशंसक, ज्ञानी, संग्रहकर्ता तथा आलोचक था।

जहाँगीर के बाद शाहजहाँ के शासन काल में चित्रकला की प्रगति लगभग रूक गई, उसे स्थापत्य में विशेष रूचि थी। दरबार में कम चित्र थे। उसने पादशाहनामा की सुसज्जित प्रति तैयार करवाईं उनमें भड़कीले रंग तथा सुनहरी सजावट को प्रमुखता दी गईं शाहजहाँ की चित्रकला विमुखता तथा शाही संरक्षण के अभाव के कारण चित्रकार आश्रय हेतु राजस्थान, बुन्देलखण्ड और हिमालय की तराई के राजे–रजवाड़ों में चले गये।

मुगल काल में चित्रकला पर से अजन्ता शैली का प्रभाव लगभग समाप्त हो गया था। आदर्श, धार्मिकता तथा आध्यात्मिकता से चित्रकार का सम्बन्ध टूट गया था। ईश्वरीय रूप के स्थान पर बादशाहों के चित्र बनाये जाने लगे। अजन्ता की चित्रकला की विशालता तथा रेखाओं का महत्व समाप्त होकर लघु रूप में परिवर्तित हो गया। रंगों का प्रभाव, बारीकी और नफासत बढ़ गईं

राजस्थानी शैली

मुगल काल के समकक्ष राजस्थानी शैली का विकास हुआ। 16वीं सदी से 18वीं सदी के मध्य राजस्थानी शैली के चित्रों का निर्माण हुआ। इस पर मुगल शैली का प्रभाव भी पड़ा। इसका महत्वपूर्ण कारण यह भी रहा, कि शाहजहाँ के दरबारी चित्रकारों ने राजस्थान में शरण ली।

चित्रों के विषय मध्य कालीन साहित्य, कृष्ण लीला, रामायण, महाभारत, हम्मीर–हठ, नल–दमयंती, रूप–चित्र, बारहमासा, रागमाला आदि थे। चित्रों के रंग चटकीले रहते थे। जो लेप (टेम्परा) से जमा दिये जाते थे। इन चित्रों में प्रेमरत स्त्री–पुरूष, पशु–पक्षी, प्राकृतिक दृश्य राजभवन व अट्‌टालिकायें इत्यादि प्रमुख हैं।

मुगल शैली और राजस्थानी शैली के समन्वय से सम्पूर्ण भारत में भारतीय राष्ट्रीय हिन्दू मुगल **(Indo-Mugal)** चित्र शैली का विकास हुआ।

बुन्देली चित्रकला पर भारतीय हिन्दू मुगल शैली का प्रभाव

बुन्देलखण्ड के चित्रकार अधिकांशतया छतरपुरी कागज का प्रयोग करते थे जिसे 'ठर्रा–कागज'

भी कहते थे। तूलिका वे स्वयं तैयार करते थे। जिससे कला की बारीकी को चित्रित किया जा सके। चित्रकारी के लिये कागज को कड़ा किया जाता था। उसकी दो या तीन पर्तें चिपका कर मोटा कागज तैयार किया जाता था। चित्रकारी के लिये सतह का चिकना होना आवश्यक होता है। इस कारण वह सफेदा से पृष्ठ आलेपन कर देता था। बहुत अधिक संख्या में रंगों का प्रयोग नही किया जाता था। विशेष रूप से गेरू, रामरज, नील, सिंदूर, ईंगुर, प्योरी आदि प्रयुक्त किये जाते हैं।

यह रंग देशी तथा स्वयं के तैयार किये होते थे। इनका प्रभाव चित्रों के माध्यम से प्रगट होता है। प्राकृतिक तथा खनिज रंगों की आयु भी अधिक होती है। रंगों को पक्का करने के उद्देश्य से उनमें गोंद, सरेस इत्यादि पकाकर मिला दी जाती थी। उसके रंगों की जमावट सर्वत्र एक सी प्रतीत होती है। कहीं भी खुरदुरापन या भद्दापन दृष्टिगत नही होता। मानव नख–शिख, प्रकृति चित्रण में भी स्पष्टता है जिसमें सूक्ष्मता भी प्रदर्शित की गई है। बुन्देलखण्ड के चित्रों में आश्रयदाताओं तथा देवी–देवताओं का वर्चस्व है। प्रकृति दृश्य अधिक नही है। प्राकृतिक दृश्य में पेड़, बादल आदि भी बनाये गये हैं। किन्तु वे केवल स्थानापूर्ति के उद्देश्य से बने हैं। मुख्य पात्र ही चित्र की शोभा होता है। चित्र में स्त्री–पुरूष एक चश्मी (एक पार्श्व) तथा कहीं कहीं डेढ़–चश्मी (डेढ़ पार्श्व) भी होते हैं। चित्रित स्त्री–पुरूष युवा ही अधिक प्रदर्शित किये गये हैं। वृद्ध या बाल्यावस्था बहुत कम दिखाई गई है। संभवतः वीर–भूमि बुन्देलखण्ड ओज और वीरता के लिये सदा से प्रसिद्ध रही है, इस कारण चित्रों में यौवन है, वीरता है तथा सौंदर्य है। दूसरा कारण यह प्रतीत होता है कि, चित्रकला के माध्यम से शासकों को प्रसन्न करना और पुरूस्कार प्राप्त करना भी रहा होगा। बुन्देली कलम राज भवनों और मंदिरों में अधिक चली है इसी कारण चित्रण में राजसी वैभव तथा देवी–देवता का प्रभाव अधिक पड़ा है।

यहां का चित्रकार वास्तविक रूप बनाने में उतना चतुर नही प्रतीत होता है, किन्तु वेशभूषा पर उसकी तूलिका अवश्य सराहनीय है। वेशभूषा से वह चित्रण का अभीष्ट सिद्ध करने में सफल हुआ है। चित्रों में कतैया, ग़रगा, विशाल कटिवस्त्र, मराठी धोती, पाग, साफा, सेला, मण्डील, पुन्नेरी, पागोटे, पगड़ी, शिशुपाली पनैंइया, पिस्सोरी जूते आदि प्रदर्शित किये गये हैं।

मानवाकृति के नैन–नक्श विशिष्टता रखते हैं। उसकी भृकुटी सदैव तनी रहती है। आँख खुली हुई, छाती फूली, शरीर में ओजपूर्ण तनाव चित्रित किया जाता है। कहीं–कहीं पुरुष के चेहरे पर गलमुच्छे भी बनाये जाते हैं। सामूहिक दृश्यों में मुख्य पात्र का चेहरा प्रमुखता लिये होता है। युद्ध दृश्यों में पशुओं की साज–सज्जा तथा अस्त्र–शस्त्र चित्रण में चित्रकार ने विशेष ध्यान दिया है। बुन्देली शैली के कागज पर बने यह चित्र वर्तमान में भी संग्रहालयों तथा व्यक्तिगत रूप से संग्रहीत है। बुन्देली शैली के चित्र राजमहल तथा मंदिर की भित्तियों पर भी चित्रित किये गये हैं। इनमें दतिया तथा ओरछा प्रमुख हैं।

जिला ललितपुर में स्थित मदनपुर चन्देल राजा मर्दन वर्मा (1130–65 ई0) की राजधानी थी। यहाँ मदन सागर के समीप स्थित छोटी–कचहरी के मंडप की छत तथा शिला पट्ट पर गन्धर्वों का जोड़ा और पंच–तंत्र सम्बन्धी चित्र बने थे।

मदनपुर के भित्ति चित्र मध्यकाल (1100–1500 ई0) या सुल्तान कालीन भारत में एक मात्र ऐतिहासिक उपलब्धि है। बुन्देली चित्रकला का उन्नत स्वरूप देखने को मिलता है।

डा0 शुभेष के शोधग्रन्थ (अप्र0) "बुन्देलखण्ड की चित्र साधना" के अनुसार मदनपुर के भित्ति चित्रण की विशेषतायें निम्न लिखित है –

1. यह भित्ति चित्र बुन्देली चित्रकला के प्राचीनतम उदाहरणों ओरछा (1554–92 ई0) तथा तालबेहट (1612–30 ई0) के मध्य का एक मात्र भित्ति चित्रण है, जो विन्ध्योत्तर भारत में हैं।
2. आकृतियाँ मांसल और कोमल है।
3. हाथ एवं पैरों की अंगुलियाँ क्रमशः आगे की ओर पतली होती हुई स्निग्ध कोमल तथा सुन्दर हस्त मुद्रा वाली है।
4. गंधर्वों की नासिकायें लोचदार तथा आगे को कुछ झुकी हुई हैं।
5. सर्प एवं मयूर की आकृतियाँ अलंकारिक एवं आर्कषण है।
6. आकृतियों की रेखाओं में गति है।
7. इनकी रंगयोजना साधारण है, जो बुन्देली चित्रकला का लक्षण है। रंगों में नारंगी (रामरज तथा हिरमिजी का मिश्रण) श्वेत, कत्थई एवं काला रंग प्रयोग किये गये हैं।
8. काले रंग की रेखाओं का प्रयोग आकारों को स्पष्ट करने में हुआ है इन रेखाओं को हल्के नारंगी रंग की रेखाओं के ऊपर बनाया गया है।
9. इस चित्रण में सपाट एवं छाया प्रकाश वाले रंगों की शैलियों का मिश्रित प्रयोग है।
10. छत के केन्द्र में बना पुष्प तीन अर्न्तवृत्तों एवं अठारह पंखुड़ियों पर आधारित है जो जहाँगीर महल आगरा (1605–15 ई0) जहाँगीर महल, ओरछा तथा पुराना महल, दतिया (1618 ई0) में बने क्रमशः 16, 18, 18 पंखुड़ियों का प्रेरणास्त्रोत है।
11. मदनपुर की चित्रण की रेखायें बहुत ही गतिपूर्ण तथा एक ही मोटाई की है।
12. गंधर्वों को कच्छा पहने दिखाया गया है, जो बुन्देली चित्रकला में बहुतायत में मिलता है।

मदनपुर के चित्र अपभ्रंश शैली के अत्यन्त समकक्ष है। बुन्देली चित्रकला की पृष्ठभूमि मदनपुर की चित्रकला तथा खजुराहों के शिल्प का महत्वपूर्ण योगदान है।

ग्वालियर शैली

वाचस्पति गैरोला की 'भारतीय चित्रकला' के अनुसार– "महाराज धंग के शिलालेख आठ के श्लोक संख्या 45 में भेलसा, चंदेरी के साथ गोपगिरि (ग्वालियर) के किले का चतुर्दिशि प्रदेश को धंग की राज्य सीमा कहा गया है।" गैरोला का ही मत है कि– "ग्वालियरी शैली का विशेष महत्व यह भी है कि उसके द्वारा मुगल संस्कृति एवं कला को प्रोत्साहन मिला।" ग्वालियर के राजा मानसिंह तोमर काल (1486–1518 ई0) में भित्ति चित्रण तथा खजुराहो के शिल्प ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई

सन् 1518 ई0 में सिकन्दर लोधी की ग्वालियर–विजय से राजा मानसिंह के दरबारी चित्रकार निराश्रित होकर ही, 1526 ई0 में मुगलों की राजधानी दिल्ली पहुँचे। 1531 ई0 में ओरछा राजधानी बनने पर कुछ कलाकार वापस लौट आये। उन्हें बुन्देलखण्ड के कलाप्रेमी शासक राजा भारती चन्द्र तथा ओरछा के राजा मधुकर शाह प्रथम का संरक्षण मिला। गैरोला के अनुसार – "ग्वालियरी शैली का विशेष महत्व यह भी है कि उसके द्वारा मुगल–संस्कृति एवं कला को प्रोत्साहन मिला।" ग्वालियर शैली के चित्रकारों ने बुन्देलखण्ड की चित्रकला को विदेशी प्रभाव से मुक्त कराया।

ग्वालियर की चित्रकला में मानसिंह को 'कतैया' (ऊर्ध्व वस्त्र) तथा गरगा (अधोवस्त्र) पहने दिखाया गया है। ऊर्ध्व वस्त्र की बाँहें खुली तथा ऊपर को मुड़ी हुई हैं। पृष्ठ भूमि में दरबार का भवन–खण्ड इस प्रकार बनाया गया है कि तीन बरामदे उनके ऊपर लिपटे हुये द्वार आवरण दिखाई देते हैं। बुन्देली चित्रकला में ऊर्ध्व वस्त्र 'कतैया' ही सर्वप्रिय परिधान है। अधोवस्त्र 'गरगा' अनवरत रूप से कलाकार बनाते रहे।

खजुराहो की शिल्प कला में शरीर रचना पर विशेष ध्यान दिया गया। शास्त्र वर्णित पाँच प्रकार के पुरूष एवं स्त्रियों की शरीर रचनाओं में से यहाँ के चित्रकारों ने सिर से छः गुना लम्बाई वाली शरीर रचना को चुना।

दर्शनीय बुन्देली चित्रकला

इस प्रकार मदनपुर में अपभ्रंश शैली के पुनरूत्थान से बुन्देली चित्रकला का जन्म हुआ। अकबर का संरक्षण पाकर मुगल–कला में मिश्रित हो गई तथा पुनः ग्वालियर शैली से मिलकर ओरछा में अपने सम्पूर्ण सौन्दर्य के साथ प्रदर्शित हुईं ओरछा और दतिया की बुन्देली चित्रकला के सम्बन्ध में "मुगलों के अर्न्तगत बुन्देलखण्ड का सामाजिक, आर्थिक और सांस्कृतिक इतिहास (1531–1731 ई0) ले0 – डा0

भगवान दास गुप्ता, अध्याय 8 'बुन्देली स्थापत्य और चित्रकला' के अनुसार – ओड़छे के किले में स्थित राज मंदिर के दरबार हाल और भीतर के कक्षों में जो भित्ति चित्र हैं उन्हें बनाने से पहले उनकी दीवालों की सतह तेल मिले चूने को पीट–पीट कर समतल कर ली जाती थी। ऐसा इसलिये किया जाता था, ताकि चूना रंगों को न सोख ले। ओड़छे के राज मंदिर के दरबार हाल की छत और खम्भों के बीच के चित्र पानी, सरेस, गोंद और रंग पीस कर बनाये गये थे। उनमें चिकनाहट देने के लिये मोम का भी प्रयोग किया गया था, राज मंदिर के भीतर की ओर जहाँगीरी महल के कक्षों के चित्र बनाने में इसी विधि से काम लिया गया था। इन चित्रों में प्राकृतिक और स्थानीय वस्तुओं से तैयार किये गये रंगों का प्रयोग होता था जैसे दुद्घी, मिट्टी के रंग, खपड़े चील बटा, जला कोयला, लोहे पर लगी जंग, कारोंटा (बुन्देलखण्डी स्त्रियों के पैरों के आभूषण पैंजना में भरी जाने वाली काली मिट्टी के रंग), धुयें की कारोंच या कालोंच, धाऊ, रामरज, गेरू, पेड़ों की छाल, खैर, गजरां (गाजर के फूल), छेवले के फूल, हल्दी, नील और आल आदि। कुछ अन्य रंग इन्ही के तथा अन्य वस्तुओं के मिश्रण से तैयार कर लिये जाते थे। उदाहरण के लिये कोंकीस महुआ और लोहे की जंग को पंद्रह दिन तक पानी में रखकर फिर उसके धपरे जमा लिये जाते थे और इन धपरों को पीस कर कोंकीस रंग बना लिया जाता था। मेंहदी रंग के लिये कोंकीस पीसकर पानी में घोल कर उसमें सोडा मिला देते थे। पीले केसरिया रंग को हल्दी पीसकर चूना मिला कर बना लेते थे। हर्र और कोंकीस को पीसकर उसके घोल से काला पक्का रंग बन जाता था। हर्र, कोंकीस और लाल रंग या आल मिला देने से कत्थई रंग तैयार हो जाता था। इसी प्रकार मोतिया प्याजी के लिये छेवले के फूलों को एक रात पानी में भिगोकर उसमें अर्क और चूना मिला दिया जाता था। नांरगी रंग बनाने की विधि में छेवले के फूलों खाने के चूने और कच्चे सुर्ख या आल रंग का इस्तेमाल किया जाता था। इस प्रकार मुगल–कालीन बुन्देलखण्ड के भित्ति चित्रों और वस्लियों में प्राकृतिक रंगों और दीर्घ कालीन अनुभवों पर आधारित रंगों के मिश्रणों का प्रयोग किया जाता था। बुंदेली चित्रकारों को ये अनुभव विरासत में मिले थे। कुछ उन्होनें स्थानीय उपलब्ध सामग्री से अपनी व्यक्तिगत सूझ–बूझ से प्राप्त किये थे और बहुत कुछ राजस्थानी तथा मुगल राजधानियों आगरा–दिल्ली के चित्रकारों के संपर्कों से सीखे थे।

मुगल चित्रकला बादशाह अकबर और जहाँगीर के समय में उन्नत अवस्था में थी। ओरछे के शासक मधुकर शाह और वीरसिंहदेव जहाँगीर के सम्पर्क में आये थे। 1554–1627 ई0 के मध्य ओरछा का किला, राज मंदिर और जहाँगीर महल के भित्ति चित्र बनाये गये। ओरछा के शासकों और जहाँगीर की मित्रता का प्रत्यक्ष उदाहरण जहाँगीर महल है। उसके स्थापत्य और चित्रकला में मुगल शैली का प्रभाव है।

ओरछा का राजमंदिर बुन्देली चित्रकला के सौंदर्य को प्रदर्शित करने में सक्षम है। राज मंदिर के कक्षों में राज दरबार, दशावतार, कृष्णलीला और दैनिक जीवन के दृश्य युद्धरत, राजपूत योद्धा, शिकार के दृश्य, वन्यपशु, हाथी पर सवार महावत, पेड़, गुलदस्ते, नारी–कुंजर, मृदंगों से बना हाथी आदि चित्रित किये गये हैं। भक्तिभाव मय चित्रों राम दरबार में राम–सीता सिंहासन पर विराजमान हैं शेष तीनों भाई क्रमशः लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न तीर–कमानों से सुसज्जित पीछे खड़े हैं। हनुमान श्री राम के चरणों के समीप सेवा में बैठे हैं। बाल कृष्ण की लीलाओं का सुन्दर चित्रण भित्तियों पर है। कृष्ण को दूध पिलाती यशोदा, पूतना वध, कालिया–दमन, दधि–चोरी, छीकें से कृष्ण का मक्खन चुराना, कदंब के नीचे रास लीला, गोपियों व गायों के मध्य वंशी बजाते कृष्ण का भी चित्रण किया गया है। विष्णु के दशावतार चतुर्भुजी, शेषशायी विष्णु, नृसिंह, वामन, कच्छप, मत्स्य, वाराह और कल्कि अवतारों का चित्रण भी मिलता है। इसके अतिरिक्त ब्रम्हा, गणेश, दुर्गा, रथ पर विराजमान सूर्य, शंकर आदि देवगण भी चित्रों में हैं। पौराणिक घटनाओं को भी चित्रों में स्थान दिया गया है। उसमें प्रमुख है – अमृत मंथन, परशुराम और सहस्त्रबाहु युद्ध, परशुराम और राम लक्ष्मण संवाद, पेड़ हिलाकर कौरवों को पटकते भीम इत्यादि दर्शनीय है। इन चित्रों की शैली प्रौढ़ और विकसित है। चित्रों की पुनरावृत्ति भी की गई है। श्री लक्ष्मी नारायण के मंदिर में भी भक्ति भाव पूर्ण चित्र भित्तियों पर सुसज्जित हैं। धार्मिक चित्रों में देवताओं के रंग लाल, पीले और गुलाबी हैं तथाा दानवों के रंग नीले रखे गये हैं। विष्णु का सन्मुखी चित्र है। शेष सभी चित्र एक–चश्मी हैं। देव चित्रों के वस्त्र तथा आभूषण अत्यन्त मनोहारी हैं। देवता शीश पर पाँच कँगूरों का मुकुट धारण किये हुये हैं। कृष्ण का मोरपंखी मुकुट है। देवता के अधोवस्त्र तिन्नीदार धोती है। जिनके रंग लाल, पीले तथा बसंती हैं। धोतियाँ किनारदार हैं ब्राम्हणों को प्रदर्शित करने के लिये उनके सिर पर चोटी चित्रित की गई है। उनके कंधों पर लाल या नीले अंग वस्त्र हैं। स्त्री आकृतियाँ घाघरा, चोली पहने और ओढ़नी ओढ़े हैं। इनके रंग दो या तीन हैं विविधता हेतु उनकी पुनरावृत्ति की गई है। मुख्यतया नीला, बंसती तथा लाल रंग प्रयोग किया गया है। आकृतियां सामान्य आभूषण धारण किये हैं। वस्त्रों पर सिलवटें दिखाने के लिये विपरीत रंगों या काले रंगों की महीन धारियाँ डाली गई हैं। राजसी तथा देव वस्त्रों में सुनहरे रंग की धारियाँ भी डाली गईं हैं।

राजमंदिर की नीचे की पहली मंजिल पर कुछ ऐसे चित्र प्राप्त होते हैं जो बुन्देलखण्डी चित्रकला पर ईरानी तथा मुगल प्रभाव प्रदर्शित करते हैं। यहाँ पशु–पक्षी, शिकारी आदि अधिक हैं। ऊपरी बार्डर पर अरबी घोड़ों पर सवारों की पंक्तियाँ, बंदूकधारी और तीरंदाज पशुओं का निशाना बनाते शिकारी, शिकारी से बचते भयभीत हिरण, सुअर आदि चित्रित हैं। चीते द्वारा हिरण का शिकार दृश्य, मस्त हाथी, बंदर, हंस, मोर, तोता आदि भी हैं। फलदार पेड़ और गुलदस्ते खाली स्थान को भरने के उद्देश्य से चित्रित किये गये हैं।

राजमंदिर के पहली मंजिल के कक्षों में बुंदेला राजा–रानी और उनसे सम्बन्धित कुछ भित्ति चित्र भी मिलते हैं। इन चित्रों में वेशभूषा मुगल और राजस्थानी मिली–जुली हैं। राजा–रानी दोनों मुगल पगड़ी धारण किये हैं। राजा पीला–लाल बगल वाले गले का अंगरखा धारण किये हैं। रानी के वस्त्र बंसती रंग के हैं। राजा–रानी के समक्ष दाढ़ी वाला मुगल सामंत सिरपेंच मुगल पगड़ी धारण किये हाथी पर आरूढ़ हैं।

राजा के अकेले अनेक चित्र हैं जिसमें वह मुगल पगड़ी, अंगरखा और फेंटाधारी पहने, मधुकर शाही तिलक लगाये हाथ में फूल लिये खड़े हैं। मुगल पगड़ी और अंगरखा के साथ बंद मुहरी का चूड़ीदार पायजामा अवश्य चित्रित किया जाता है। एक चित्र में राजा हाथी पर अंकुश लिये बैठे हैं। उसके सामने त्रिशूल धारण किये कोई संत या नागा साधु बैठा है जिसका घोड़ा राजा के हाथी के दांतों के मध्य फँसा है।

उस काल में राजा–महाराजा साधुओं का बहुत सम्मान करते थे इस बात का पता राजमंदिर की भित्ति चित्रों से ज्ञात होता है। एक चित्र में बुंदेला राजा को साधु तिलक कर आर्शीवाद दे रहा है। दूसरे चित्र में लंगोटी लगाये संत के पीछे बुंदेला राजा खड़े हैं। तीन साधु संत और चित्रित हैं उनमें से एक की दाढ़ी व बाल काले हैं। दूसरे के बाल और दाढ़ी सफेद हैं वह उन्हें पीछे की ओर बाँधें हैं। तीसरे संत के लंबी दाढ़ी व जटायें हैं वह थैली में हाथ डालकर माला जप रहा है। उसके पीछे लंगोटी पहने और साधु भी हैं।

रानी के चित्रण में आमोद–प्रमोद की अधिकता हैं। अकेली रानी के चित्रों में वे पलंग पर विश्रामवस्था में हैं सेविका पाँव दबा रही है। झूला–झूलती रानी और उन्हें झुलाती सेविकायें हैं। स्त्री चित्रों में आभूषण एवं वस्त्रों पर विशेष ध्यान दिया गया है। स्त्रियाँ घांघरा, चोली, कंचुकी और ओढ़नी धारण किये हैं। वस्त्रों के रंग, लाल, पीले, नीले, बंसती, सफेद, छींटदार और सुनहरी नीली–पीले धारीदार हैं। अधिकांश वस्त्रों में विपरीत रंग की धारियां है। किनारियां कहीं–कहीं हरी है। श्रृंगार में माथे पर बेंदा, बिंदिया, गले में हार, हाथों में चूड़ियां, कंगन, नाक में मोती, पाँव में महावर आदि चित्रित किया गया है।

राजमंदिर के चित्रों में साधारण मनुष्य के जीवन को भी उचित स्थान दिया गया है। एक चित्र में मुसलमान मदारी बंदर नचा रहा है वह गेंद भी उछाल रहा है। उसके वस्त्र आम मदारियों जैसे ही है। वह गंजा दाढ़ी युक्त है तथा ऊँचा पायजामा पहने हैं। एक अन्य चित्र में मस्त बिगडैल हाथी को वश में करने के लिये बल्लमधारी मल्ल चित्रित है। मुगल वेशधारी हाथी पर आरूढ़ महावत हाथ में अंकुश लिये है अन्य चित्र में जंजीर से हाथी का पैर बंधा है और शेर से बुंदेला राजा लड़ रहा है। स्त्रियों

के दैनिक जीवन के कार्य कलापों के अन्य चित्र भी हैं – गाती–बजाती नर्तकियाँ, पनिहारिनें, मृदंग और झांझर युक्त नर्तकियाँ, कोर्निश करती दासियाँ, बाजार में बच्चों सहित खरीददारी करती स्त्रियाँ रानी का मनोरंजन करती, प्रणामकरती, बातें करतीं, तोता–मोर लिये आदि।

राज मंदिर की दूसरी मंजिल पर दो बैठके बनी हैं। दोनों एक–दूसरे के सामने हैं। एक जहाँगीर महल तथा शीशमहल की ओर हैं, जबकि दूसरी बैठक चतुर्भुज मंदिर की ओर है। पहली बैठक में चौगान खेलने के भी चित्र हैं। किसी चित्र में छः खिलाड़ी है तो किसी में चार। खिलाड़ियों की मुखमुद्रा दर्शनीय है। स्त्रियाँ, घोड़े पर सवार चौगान खेलती हुई प्रदर्शित की गई हैं। नौका बिहार का एक मनोरम चित्र उल्लेखनीय है। इसमें राजा–रानी नौका में बैठे हैं ऊपर छतरी तनी हैं। सेविका नाव खे रही है नौका की आकृति मोर के समान है। सरोवर में कमल हंस तथा मगर तैरते हुये चित्रित किये गये हैं। रिक्त स्थानों की पूर्ति के उद्देश्य से मुगल शैली के बेल बूटे चित्रित किये गये हैं। इससे चित्रों की आपसी सम्बद्धता बनी हुई है।

दूसरी बैठक के चित्रों के रंग फीके और रेखायें धुंधली हो गई हैं। यहाँ के चित्रों में हाथी और घोड़ों पर सवार योद्धा बने हैं उनकी वेशभूषा से प्रतीत होता है कि वे हिन्दू तथा मुसलमान है। हथियारों में बल्लम प्रमुख हैं। चित्रों में राजपूती मूँछे, गलमुच्छे और मुस्लिम दाढ़ी युक्त मुगल पगड़ी धारी योद्धा बनाये गये हैं। ऊपर की छत के नीचे एक युवती झुककर पैरों के पास के पक्षी को पकड़ने का प्रयत्न कर रही हैं। भित्तियों पर मुगलशैली के बेल–बूटे, पेड़ आदि चित्रित हैं। पेड़ों पर काले मुंह के लंगूर विशेष हैं।

राजमंदिर से लगे हुये दरबार हाल के स्तम्भों तथा डाटदार छतों के नीचे के बार्डर युक्त वर्गाकार और आयताकार चौखटों में बहुत ही सुन्दर आनुपातिक चित्रकारी है। इन चित्रों में पशु–पक्षी, बेल–बूटे, गुलदस्ते, कालीन की डिजाइन इत्यादि चित्रित किये गये हैं। पक्षियों में तोते, कबूतर, मोर, बटेर, बाज तथा पशुओं से लड़ते हुये हाथी के चित्र मेढ़ों, हिरणों के जोड़े, शेर, बंदर आदि को विभिन्न रंगों के प्रयोग से चित्रित किया गया है। रागनी टोड़ी पर आधारित चित्र भी यहाँ है। भित्तियों पर कृष्ण–लीला के चित्र हैं।

जहाँगीर महल के रनिवास की दूसरी मंजिल के कक्षों में फूल–पत्तियों का चित्रण मिलता है। ऊपरी कक्ष में ही कदम्ब वृक्ष के नीचे वंशी बजाते कृष्ण और दो गोपियाँ खड़ी हैं। वे घांघरा, चोली तथा ओढ़नी धारण किये हैं। कृष्ण के शरीर पर पीताम्बर तथा आभूषण हैं वे मोर मुकुट धारण किये हैं। इन चित्रों में राजस्थानी प्रभाव हैं। आकृतियाँ एक चश्मी हैं।

ओरछा किले से बाहर, जहाँगीर प्रवीण राय के महल की दूसरी मंजिल में बीच की बैठक में

काले और मुश्की घोड़े पर सवार दो युवतियाँ चित्रित हैं। मुश्की घोड़े पर सवार युवती मैरून रंग की धारीदार पोशाक पहने हैं। काले घोड़े पर सवार महिला काले रंग की धारीदार पोशाक पहने है। अन्य चित्र प्रवीण राय के श्रृंगार से सम्बन्धित है। प्रवीण राय अन्य आभूषणों के साथ भुजबंद भी पहने हैं। दूसरे चित्र में स्नान करती चोली पहने और प्रसाधन की सामग्री लिये घाँघरा चोली पहने दासी है। तीसरे चित्र में प्रवीण राय घाँघरा चोली पहने और ओढ़नी ओढ़े हैं। वह आभूषण भी धारण किये हुये हैं। दासी कुछ देती हुई लहरियादार घाँघरा, चोली आदि के साथ कुछ आभूषण भी पहने है। इस चित्र में प्रवीणराय की आँखों के भाव गहराई लिये हुये है। उसकी ओढ़नी के नीचे घुंघराले बालों का जूड़ा दिखाई पड़ता है, नाक के नक मोती का आभास सा है और दोनों हाथों में चूड़ियाँ व कंकण हैं। ओढ़नी में छींट की बुंदकियाँ और सुनहरी सी किनारी है। प्रवीण राय और उसकी सेविका दोनों के ही चित्र एक चश्मी हैं।

दतिया की चित्रशैली

दतिया में राजा वीरसिंह देव द्वारा निर्मित सतखंडा महल के अधिकांश भित्ति चित्र नष्ट हो चुके हैं। ओरछा के समकालीन तथा एक ही वंश परंपरा के चित्र दतिया में प्राप्त होते हैं। चित्रकला विशेषज्ञ रायकृष्ण दास का कथन है – "दतिया में चित्रकला राजा शत्रुजीत (1761–1801 ई0) के राज्यकाल में अपनी पूर्णता पर पहुँच गई थी।"

दतिया राज्य स्वतंत्र ईकाई के रूप में स्थापना से पूर्व अनेक शासक हुये क्रमशः महाराजा रूद्र प्रताप महाराज भारती चन्द्र (1531–54 ई0) मधुकरशाह (1554–92 ई0) के शासन काल में दतिया बड़ौनी जागीर का भाग था तथा यह वीर सिंह जू देव के अधिपत्य में था जो ओरछा राज्य के आधीन था।

दतिया राज्य को स्वतंत्र ईकाई 1626 ई0 में महाराजा रूद्र प्रताप ने अपने पुत्र दुर्गादास को दुर्गापुर (दतिया में) की जागीर प्रदान कर दी थी।

दतिया 16वीं शती का निर्मित भरतगढ़ का राजप्रसाद और किला है जिसमें गुम्बद की छत में मोर का जोड़ा बना है। नीचे चाँचर खेलते हुये स्त्री–पुरुष बनें है। सभी आकृतियाँ पार्श्वमुखी है। उनमें हिरमिजी और रामरज रंगो का प्रयोग किया गया है।

दतिया के राज प्रसाद वीरसिंह जू देव प्रथम द्वारा बनवाया गया था इसे 'वीरसिंह पैलेस', 'पुराना महल' और 'सतखंडा महल' के नामों से भी जाना जाता है। इसमें बहुत बारीक रेखाओं से चित्रण किया गया हे रंगों के संतुलन का भी ध्यान रखा गया है। इस महल के प्रथम खण्ड में उत्कीर्ण अलंकरण ओरछा के राजमहल के अलंकरण से मिलता जुलता हैं द्वितीय और तृतीय खण्ड में चित्रित छत है जो समय के साथ टूट–फूट कर नष्ट होती जा रही है। तृतीय खण्ड में छज्जे के निकट वर्गाकार छत की

गुम्बद को उकेरा गया है। इस उकेरी में सम्मुख हस्त गुम्फित आकृतियाँ बनीं है जो रास–लीला का रूप है। जिसके रंग हल्के पड़ गये है। निचले भाग में हिरमिजी, काला तथा सफेद रंग करके आलेखन चित्रित किये गये है। आकृतियाँ बुन्देली परिधान पाग, कतैया और गरगा धारण किये हैं।

महल के चतुर्थ खण्ड में सबसे अधिक चित्रकारी है। पूर्व में यह खण्ड पूर्ण चित्रित रहा होगा किन्तु वर्तमान में चित्र धूमिल हो गये हैं। पुष्प पात्रों और अलंकारिक पौधों में हिरमिजी, सफेद रंगों का अधिक प्रयोग किया गया लगता हैं। हिरणों के चित्र में काजल का प्रयोग किया गया हैं। कृष्ण–लीला के चित्रों में तथा चित्रित आलेखनों में रामरज, हरा हिरमिजी और काजल के रंग प्रयोग किया गया है। यह चित्रण छिलाई शैली से किया गया है। चूने के लेप के ऊपर दो या तीन मिमी0 मोटा संगमरमर के चूने का पलस्तर लगया गया है इस लेप के ऊपर हिरमिजी का लेप लगा कर 'नहल्ला' नामक यंत्र से रेखांकन करने के बाद चित्र के अनुसार खुरच कर आकृति उकेर दी गई है। इसी प्रकार अन्य रंगों का प्रयोग करके चित्र उकेरे गये है। लेप छील कर बनाये गये चित्र मुगल स्मारकों में की गई पच्चीकरी के समान ही लगते हैं। इस कक्ष के मध्य–प्रवेश द्वार के ऊपर सुरापात्रों के साथ पक्षियों की प्रवृत्तियों का सुन्दर चित्रण है। कक्ष का पिछला भगा हिरमिजी रंग प्रधान और मध्य भाग रामरज प्रधान हैं। आठ और बारह पंखुड़ियों के पुष्प अलंकरण में बनाये गये हैं। रंगीन वज्रलेपों के रंगों का वर्षा के जल से धुल जाना उसकी घुलनशीलता बताता है।

महल का पंचम खण्ड की पूर्णतया चित्रित होगा ऐसा लगता है। गुम्बदों का बाह्य भाग गहरी नीली हरी, नींबुई रंगों से रंजित वर्गाकार तथा आयताकार पकी मिट्टी से बने धरातलों से सज्जित है। इन पकी मिट्टी के धरातलों पर ग्वालियर के गूजरी महल और मान–मंदिर का प्रभाव है। ग्वालियर में सिकन्दर लोदी की विजय से वहीं के कलाकार अकबरकाल में दिल्ली तथा महाराज मधुकारशाह काल में ओरछा में आ गये थे। सन् 1607 ई0 में कलाकार दतिया आ गये। उस समय महाराजा वीरसिंह जू देव का शासन था। पंचम खण्ड के सूर्य की उकेरी भी बनी हैं।

छठवें खण्ड के कक्ष और दालानों की प्राचीरें, कमल तथा ज्यामितीय आकारों पर आधारित उकेरी से पूर्ण है– इनमें हिरमजी तथा काजल का प्रयोग किया गया है। महल के सातवें खण्ड में वर्गाकार कक्ष की प्राचीर के बाहरी भाग पर अनेक आलेखन काट कर बनाये गये हैं। गुम्बद की छत में मोर शिशु–मयूरों को चुगाते हुये बनें हैं।

दतिया की प्राचीन छतरियाँ

दतिया में महाराजा शुभकरन ने प्राची दिशा में "करनसागर" नामक सरोवर बनवाया। जिसके

पश्चिमी तट पर दिवंगत राज–परिवार के स्मारक है जिनमें से कुछ तो उचित देखभाल न होने के कारण नष्ट हो गईं है। महाराजा पारीछत के स्मारक में उकेरा गया आलेखन तथा छिलाई शैली के अलंकरण का सुन्दर चित्रण किया हुआ है। चित्रण राम और कृष्ण के जीवन पर आधारित है। जिसमें चीरहरण, राधा कृष्ण की होली, राधा–कृष्ण का हिंडोला, कृष्ण गोपियों के नृत्य और वादन दृश्य प्रमुखता से बनाये गये हैं। दूसरी भित्ति पर महाराजा पारीछत का दरबार कृष्ण जन्मोत्सव तथा मध्य में श्री गणेश बने हैं मुनि शुकदेव राजा पारीछत को भागवत सुनाते हुये चित्रित किये गये है।

सभी चित्र दो तथा पौने दो चश्म तथा पार्श्वागत मुख वाले है। चित्रों की आकृतियाँ सिर पर पाग या पगड़ियाँ पहने दिखाई गई है। कतैया और भारी अधिक लम्बे कटि वस्त्र बनाये गये हैं। अधोवस्त्रों में गरगा तथा कृष्ण और ग्वालों की आकृतियों में घुटनों तक कच्छा या ऊँची धोती चित्रित की गई है। पारीछत दरबार के चित्र को छोड़कर सभी चित्रों की पृष्ठभूमि सपाट है उसमें टीलों का प्रदर्शन है। वृक्ष की शाखायें पतली बनाकर फिर पत्तियाँ बनाई गई हैं। पत्तियाँ गहरे रंग की बनाकर उन पर हल्के रंग से लकीरे बनाकर अलंकृत किया गया है ताड़, खजूर, आम और केले के वृक्षों को बहुत बनाया गया है। दतिया के राज प्रसादों और स्मारकों में बनाये गये चित्र ओरछा और मुगल चित्रकारी के समकक्ष है। इसी प्रकार झांसी के रानी महल प्राचीन मंदिरों तथा भवनों की भित्ति पर चित्र बनाये गये। जो समकालीन कला विशेषताओं को प्रदर्शित करते हैं। रानी महल के दरबार हॉल में अनेक चित्र दर्शनीय है। उनमें फूल–पत्ती, गुलदस्ते, पक्षी प्रमुख हैं।

झांसी तथा दतिया राज्यों में जन्म कुण्डिलयों को चित्रित किया जाता था। उन पर राजाओं के जीवन से सम्बन्धित भविष्यवाणी लिखी जाती थी। राजा गंगाधर राव के पूर्व राजा रामचन्द्र राव की जन्मकुण्ली 30 वर्षों तक सतत परिश्रम करके दतिया स्थित बिहारी जू के मंदिर के पुजारी श्री छोटेलाल गोस्वामी ने तैयार की थी। इसमें राशियों और श्रीगणेश के चित्र बनाये गये हैं।

दतिया शैली के लघु–चित्र अवश्य उपलब्ध हैं, जो देश–विदेश के विभिन्न संग्रहालयों को शोभायमान कर रहे हैं।

तालबेहट का नृसिंह मंदिर

झाँसी से 45 कि0मी0 दक्षिण तालबेहट का किले में नृसिंह मंदिर में बुंदेली चित्रकला के नमूने मिलते हैं यह मंदिर चन्देरी के राजा देवी सिंह बुन्देला (1634–82 ई0) ने बनवाया था। वह कलाप्रेमी थे। उन्होंने ओरछा की चित्रकला से प्रभावित होकर नृसिंह मंदिर में भी उसी प्रकार की चित्रकारी करवाई

नृसिंह मंदिर में राम—कृष्ण से सम्बंधित घटनायें, विष्णु, दशावतार, सूर्य, परशुराम, सहस्त्रबाहु, राम रावण युद्ध, महादेव—पार्वती, राम की बारात, दुर्गा, गणेश, शेषनाग, गरूण, कामधेनु गाय, नृसिंह अवतार, गोवर्धन धारी कृष्ण, हनुमान, नर्तक, वादक, क्रीड़ा—मग्न लोग, कंस—वध, फूल—पत्ती, बेल—बूटे, फलदार वृक्ष, राजसी दृश्य आदि चित्रित किये गये हैं। चित्रण में मुगल शैली का प्रभाव दिखता है।

बुन्देली चित्रकला की विशेषताओं की तुलना राजस्थानी शैली से श्री अम्बिका प्रसाद वर्मा 'दिव्य' ने की है— "राजपूत कलम में रंग की तथा आउट लाइंस की सफाई पर विशेष ध्यान दिया जाता था। क्या मजाल कि रेखाएँ कहीं मोटी—पतली हो जायें या रंग हल्का—गहरा हो जाय। शेडिंग काले रंग से प्रायः इतनी हल्की दी जाती थी कि वह नाम मात्र को ही रहती थी। स्त्री—पुरूष के चेहरे एक बगली ही रहते थे। उन पर प्रायः भावों का अभाव सा रहता था। हर एक अवस्था में एक सी ही आँख, एक सी ही भौंह, एक सी ही मुख मुद्रा देखने को मिलती है। कोमलता राजपूत कलम की विशेष आभूषण सी प्रतीत होती है। न रंगों में न अंगों में कहीं भी नाम की कठोरता देखने को नही मिलती। चित्रों के श्रृंगार में राजपूत चित्रकार को आलस्य ही नही प्रतीत होता। वह श्रृंगार की एक—एक चीज और चीज के एक—एक अंग को दिखलाने में उतना ही ध्यान देता था, जितना कि चित्र की आँख—नाक में। राजपूत चित्रकार इसी सजावट से ही दर्शक को आकर्षित करता है।"

भित्ति चित्रों के अतिरिक्त व्यक्ति चित्रण भी किया गया है। किन्तु बुन्देली चित्रकार को उसमें सफलता नही मिली। इस सम्बन्ध में श्री एन0 सी0 मेहता का विचार है— "सादृश्य चित्र नही हैं, प्रजा के आदर्श व्यक्तियों के एक किस्म के खाके हैं। उनमें परिचित लक्षणों का सूचन है, व्यक्ति विशेषों का चित्रण नही है।" चित्रों में व्यक्ति सादृश्यता से अधिक वेश—भूषा, अस्त्र—शस्त्र, राजभवन, पेड़—पौधे इत्यादि के चित्रण पर अधिक ध्यान दिया गया है। इसी कारण किसी भी राजा—रानी का वास्तविक चित्र उपलब्ध नही है। वे राजा रानी के चित्र में राजसी वस्त्र—आभूषण बुन्देली शैली के बनाते थे। दास—दासी मामूली वस्त्र पहने तथा सेवा करते, सिर झुकाये या स्वामी की ओर निहारते चित्रित किये गये थे। बुन्देली चितैरों ने भक्ति—भाव के चित्र अधिक बनाये, जिससे राधा—कृष्ण, सीता—राम, शंकर—पार्वती, गणेश आदि प्रमुख थे। रागमाला और बारहमासा का चित्रण भी बहुत हुआ किन्तु वर्तमान में वे उपलब्ध नही हैं। वे चित्र राष्ट्रीय तथा अर्न्तराष्ट्रीय संग्रहालयों में संग्रहीत है। कुछ चित्र राजघरानों के पास भी है।

बुन्देला उत्थान के साथ चित्रों की रचना पर भी प्रभाव पड़ा। बुन्देलखण्ड वीर—भूमि है बुन्देला शासकों के पराक्रम तथा वीरोचित व्यवहार के कारण चित्र भी इसी भाव के बनाये जाने लगे। बुन्देलखण्ड वासी मुगलों को विदेशी मानते थे इस कारण बुंदेला शासकों के आने से हिन्दू संस्कृति का प्रचार—प्रसार अधिकता से हुआ। चित्रों में मुगल शैली का प्रभाव कम होने लगा। राजपूत चित्रकला का

प्रभाव अवश्य प्रभावी रहा। राजस्थानी शैली में रागमाला तथा कृष्ण–लीलाओं का चित्रण किया जाने लगा।

उस समय के चित्रों के बारे में श्री रायकृष्ण का कथन है – ''इन चित्रों में बहुत ही कम कारीगरी है। लिखाई बड़ी भद्दी है तथा रंग इतने मोटे और कम गोंद लगे हैं कि झड़े पड़ते हैं।'' श्री ए0 के0 स्वामी का मत है– ''रागमाला सीरीज के चित्र वास्तव में बुन्देलखण्डी चित्रकला के सुंदरतम नमूने हैं।'' बुंदेली चित्रों के सम्बन्ध में इन कथनों का समर्थन सुप्रसिद्ध कला विशेषज्ञ डगलस बैरिट और बेसिल ग्रे ने भी किया। उनका मानना था कि– ''तथाकथित मालवा शैली वास्तव में बुन्देलखण्ड के नगर दुर्गों में पनपी थी।''

रागमाला श्रृंखला के चित्र म्यूजियम ऑफ फाइन आर्ट्स बोस्टन, अमेरिका तथा रामायण पर आधारित श्रृंखला के चित्र राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में प्रदर्शित हैं। उपरोक्त श्रृंखला के चित्रों पर बुन्देलखण्डी अभिलेख भी हैं। रागमाला के चित्रों में श्रृंगार तथा वियोग रसों को ऋतु के अनुकूल चित्रित किया गया है। रागमाला चित्र पन्द्रहवीं शती के बाद बनना प्रारम्भ हुये तथा सत्रहवीं से अठाहरवीं शती तक बनते रहे। इन चित्रों के नायक–नायिका राधा–कृष्ण होते हैं। इन चित्रों में रस, काव्य, संगीत व्याप्त होता है। मुख्य छैः राग और उनकी पाँच–पाँच रागनियाँ (तीस रागनियाँ) इन सभी के भाव तथा गायन काल के अनुसार चित्रण का विधान था।

चूँकि पुस्तक की विषय वस्तु 'बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला' है इस कारण यहाँ शास्त्रीय शैलियों पर अधिक चर्चा न करते हुये लोक–चित्रकला के प्रभाव पर व्याख्या करना सार्थक होगा।

लोक चित्रकार तथा संरक्षक

बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला को अनवरत प्रवाहित करने का श्रेय सुखलाल को जाता है। उन्हें रानी लक्ष्मी बाई के समय झाँसी में राजाश्रय प्राप्त था। "बुन्देलखण्ड के अन्य चित्रकारों की भाँति सुखलाल भी काले रंग से रेखांकन करते थे। उनकी रेखायें प्रवाहपूर्ण, सूक्ष्म तथा शक्तिशाली रहती थीं।" सुखलाल को चित्रकारी में सिद्धहस्तता थी वे कहीं भी रेखाओं को ठीक करने के लिये बहुत कम दुहराया करते थे।

सुखलाल के चित्रों में आकृतियों का संयोजन इस प्रकार होता है कि दर्शक मुख्य आकृति की ओर स्वतः आकर्षित हो जाता है। चित्रों की अग्रभूमि तथा सरल रेखाऐं दर्शक की दृष्टि को चित्र के बाहर नही जाने देती है। वे दूरस्थ वस्तुओं को छोटा तथा निकटस्थ वस्तुओं को बड़ा चित्रित करते थे। सुखलाल के चित्रों में पुरूष 'कतैया' (ऊर्ध्व वस्त्र) धारण करते हैं तथा स्त्रियाँ धोती पहने दिखाई जाती हैं। उन्होंने रानी लक्ष्मीबाई के शीर्ष पर मुड़ासा अधिक बनाया है।

उनके चित्रों की पृष्ठ भूमि में बुन्देली शैली के भवन, गुम्बद आदि ऊपरी भाग में बने हैं। चित्रों में बादल के वृत्तों का आधार सरल रेखा रहती है। उन्होंने चटकीले रंगों का प्रयोग किया हैं। आकृतियाँ लावण्यपूर्ण तथा स्निग्धता युक्त होती हैं।

लोक–चित्रकार मगन के चित्रों में लावण्य में कमी है तथा आकारों में कठोरता है। रानी लक्ष्मीबाई के चित्रों में मगन ने सुखलाल का अनुसरण किया है। उनके चित्रों में आकृतियाँ बिखरी रहती हैं। मगन बादलों का चित्रण करते समय बड़े–बड़े चाप खण्डों को उनका आधार बनाते हैं। वस्त्रों के चित्रण में सुखलाल का प्रभाव दिखता है, किन्तु कोमलता का अभाव रहता है। मुखाकृति कुछ गोल तथा कठोर होती है।

एक अन्य चित्रकार परम लश्करी के लोक चित्र भी मिलते है। वे सुखलाल के प्रपौत्र थे उनके चित्रों में आकृतियाँ अल्प संख्या में होती है। किन्तु वे स्थान अधिक घेरती हैं। अनेक चित्रों में असन्तुलन भी पाया जाता है। उदाहरणार्थ – 'सीता त्याग' चित्र में प्रधान घटना चित्र कोने में चित्रित होने से चित्र का शेष भाग रिक्त सा लगता है। चित्रों में अंलकारिकता अधिक है। कभी–कभी आकृति की बनावट में कठोरता दिखती है। आकृतियाँ वर्गाकार तथा सपाट रहती है। परम के चित्रों में बनाये गये मेघों का आधार सुखलाल के समान ही रहता है। साथ ही उन्होंने दतिया शाही साफे तथा शिन्देशाही पगड़ी भी चित्रित की है। बुन्देली लोक–शैली चित्रों के अन्य चित्रकार जवाहर तथा गिरधारी प्रमुख थे। राजा गंगाधर राव स्वयं कला–प्रेमी थे, उनके शासन काल में नृत्य संगीत तथा चित्रकला तीनों को आश्रय मिला किन्तु रानी लक्ष्मी बाई ने स्वतंत्रता प्राप्ति को लक्ष्य बनाया जिससे चित्रकला कुछ कलाकारों तक ही सीमित हो गई सुखलाल के अतिरिक्त भीखम खाँ का पुत्र रमजानी रानी का प्रिय चित्रकार था। अन्य चित्रकला प्रेमी भी इस समय चित्र रचना करते रहे। तोपची खुदाबख्श तथा मंटू अवकाश के समय में चित्र बनाया करते थे।

सुखलाल तथा रमजानी के वंशज भी चित्रकारी का काम करते थे। उन सभी की तूलिका एक सी चित्र रचना नही करती थी। जिससे प्रमुख चित्रकारों के चित्रों जैसा सौन्दर्य व गुण उनमें नही पाया जाता था। उन्होने संभवतः चित्र रचना राज्याश्रय, धन तथा सम्मान पाने हेतु की, ऐसा किया प्रतीत होता है।

बुन्देलखण्ड के अन्य स्थानों बिजावर, अजयगढ़, पन्ना, आलीपुरा, कालपी, छतरपुर, बिजना आदि स्थानों में भी चित्रकला का कार्य हुआ है। उन चित्रों में भगवान, राजा–रानी तथा प्रकृति का ही चित्रण मिलता है। किन्तु वे चित्र राजभवन की शोभा बने जिससे प्रकाश में नही आये। वे चित्र समकालीन चित्र विशेषताओं युक्त बनाये गये थे। कलाकारों ने थोड़ा बहुत कल्पना या योग्यता के अनुसार अन्तर किया था। बुन्देली लोक–चित्रशैली का विकास 18 वीं से 19 वीं शती के मध्य हुआ। 19 वीं शती के बाद चित्रकला पर नये प्रभाव पड़े जिससे लोक–चित्र शैली का विकास रूक गया।

लोक चित्रकला "चितैरी" वर्तमान में भी बुन्देलखण्ड की भित्तियों पर जीवित हैं। जिसका वर्णन अध्याय–पांच में किया जा चुका है।

20वीं शती में परिवर्तन की लहर आई झाँसी के मास्टर रुद्र नारायण ने तैल रंगों से चित्र बनाये उनके शिष्य श्री कालीचरण वर्मा ने राजा रविवर्मा की चित्रकला से प्रभावित होकर चित्र बनाये। उनके चित्रों की वास्तविकता और स्पष्टता ने कला–पारखियों को प्रभावित किया, जिस कारण लोक–चित्र शैली के चित्रों की सरलता का प्रभाव फीका पड़ गया। वर्तमान में बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला के क्षेत्र में कोई स्थापित कलाकार नही आया। केवल व्यावसायिक तथा परम्परागत रूप में 'चितैरी कला' जीवित है।

रानी लक्ष्मी बाई के समय में भवनों तथा मंदिरों में बुन्देली चित्रकारी की गई है। जिसके अवशेष वर्तमान में भी कुछ स्थानों पर मिलते है। प्राप्ति के आधार पर रानी महल की कलात्मक चित्रकारी, पानी की धर्मशाला के शिवमंदिर के 'चतेउर', जैन दिगम्बर मंदिर गाँधीरोड में काँच पर पेंटिग, तेली के मंदिर बड़ागाँव गेट में विभिन्न राजाओं के चित्र तथा गुसाइयों के मंदिर आदि उल्लेखनीय है। झाँसी के निकट चिरगाँव में राष्ट्रकवि मैथलीशरणगुप्त की गढ़ी में धनुषधारी राम का सुन्दर चित्र बना है।

1963 ई0 में त्रि–पथगा, सूचना विभाग उ0प्र0 लखनऊ से प्रकाशित एक आलेख में डा0 महेन्द्र वर्मा ने उल्लेख किया है – "झाँसी के रघुनाथ जी के मन्दिर की सीलिंग में 4 चित्र हैं जो अयोध्या तथा जनकपुरी में घटित घटनाओं को प्रदर्शित करते हैं। गोपियों द्वारा निर्मित हाथी की आकृति पर कृष्ण का आरूढ़ होना विशेष चित्र है।"

बुन्देलखण्ड में चित्रण कम या अधिक लगातार होता रहा है। यहाँ राजनैतिक उथल–पुथल के कारण स्थायीत्व का अभाव रहा। जिससे कला व कलाकार उपेक्षित रहे। संरक्षकों की छाया में तथा उनकी अपेक्षाओं के अनुसार कलाकार चित्रण करता रहा। जिन चित्रकारों के नाम चित्रों पर मिलते हैं उन्हें तो अभिलेखों में स्थान प्राप्त हो गया कुछ नाम न लिखने के कारण पहचान न बना सके।

18वीं शती में ओरछा की प्रसिद्ध चित्रकला के चित्रकार भवानी तथा सुखदेव चित्री परगना वाले थे। 1874–1950 में रामदयाल खेरा का नाम विशेष है। 18वीं शती में दतिया के राज्य कलाकार पं0 केसरी सिंह दीवान तथा 19वीं शती में नन्हें मनमौजी भोले आदि प्रमुख थे। झाँसी में लोक शैली के चित्रकार सुखलाल, मंटू, मगनलाल परमलाल, भीखम खाँ, अजीम, खचोरे, गिरधारी, छज्जू आदि थे। बिजना जागीर के 'चितैरै' अर्थात चित्रकार रामबगस तथा गनेशजू थे जिन्हें लघु चित्रों में महारत थी।

बुन्देलखण्ड में कला प्रेमी व संरक्षक शासक भी हुए। ओरछा के मधुकर शाह (1554–92 ई0) कार्यवाहक राजा इन्द्रजीत सिंह जूदेव (1592–1605 ई0) महाराजा वीर सिंह जूदेव प्रथम (1606–27 ई0), महाराजा उदोत सिंह जूदेव (1689–1736 ई0), महाराजा विक्रम जीत सिंह जूदेव (1776–1817 ई0) महाराजा हम्मीर सिंह जूदेव (1854–74 ई0), तथा महाराजा प्रताप सिंह जूदेव (1874–1930 ई0)

कला को अनवरत संरक्षण देते रहे जिसका प्रमाण ओरछा की विश्व विख्यात चित्रकला है।

दतिया राज्य भी चित्रकला के लिये प्रसिद्ध रहा। वहाँ महाराजा दलपत राय (1683–1707 ई0), महाराजा इन्द्रजीत सिंह द्वितीय (1736–72 ई0), महाराजा शत्रुजीत (1772–1801 ई0), महाराजा पारीक्षत (1801–39 ई0), महाराजा विजय बहादुर (1839–57 ई0), महाराजा भवानी सिंह (1857–1907 ई0) तथा महाराजा गोविन्द सिंह (1907–48 ई0) हुए जिन्होंने कला को संरक्षण दिया।

समथर का भी चित्रकला में योगदान रहा। यह दतिया जागीर का भाग ही था यहाँ 1827–90 ई0 में हिन्दू पत तृतीय तथा 1890–96 ई0 में राजा चतुर सिंह ने कला को संरक्षण प्रदान किया।

बिजना एक छोटी जागीर थी किन्तु वहाँ दीवान राय सिंह जूदेव, दीवान सावंत सिंह जूदेव, दीवान अजीत सिंह जूदेव, दीवान धन सिंह जूदेव तथा विजय बहादुर जूदेव के संरक्षण में 16वीं ई0 से 18वीं ई0 तक चित्रकला फूली–फली।

बिजावर राज्य में महाराजा लछमन सिंह (1832–47 ई0) एवं महाराजा सावंत सिंह जूदेव (1899–1942 ई0) के शासनकाल में चित्रकला को निखरने का अवसर मिला।

पन्ना तथा छतरपुर में कला संरक्षक राजाओं में महाराजा छत्रसाल जूदेव (1662–1707), राजा हिरदेशाह (1731–39 ई0) के संरक्षण में चित्रकला का विकास हुआ।

अजयगढ़ में चित्रकला के संरक्षक महाराजा जगत राज (1731–59 ई0) महाराजा माधव सिंह जूदेव (1837–49 ई0) महीपत सिंह जूदेव (1849–53 ई0) थे।

बुन्देलखण्ड में मुगल तथा राजस्थानी चित्र शैली को आश्रय मिला। जिस कारण वह बुन्देली चित्र शैली में मिलकर सम्पूर्ण बुन्देलखण्ड में प्रसारित हुईं मुगलों के अंत के बाद भारतीय चित्रकला बुन्देलखण्ड के प्रमुख केन्द्रों में जीवित रही। जिसमें ओरछा प्रमुख है। बुन्देलखण्ड की चित्रकला 15वीं शती के मध्यकाल से 20वीं शती के मध्यकाल तक निरन्तर विकासशील रही। इस दीर्घकाल में उसने भारत की चित्रकला को अनेक भित्ति चित्र तथा लघुचित्र प्रदान किये। जो भारतीय चित्रकला इतिहास में विशेष स्थान रखते हैं। वे ऐतिहासिकता की महत्वपूर्ण कड़ी है, जिसके हट जाने से भारत की कला–श्रृंखला विश्रृंखलित हो जायेगी।
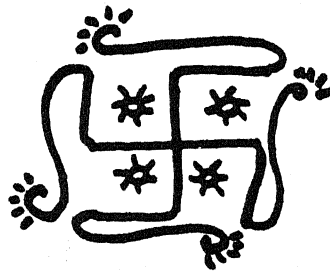
<u>अध्याय–7</u>

लोक–चित्रकला का भविष्य एवं उन्नयन

"साहित्य संगीत कला विहीनः साक्षात् पशुः पुच्छविषाणहीनः"

भृर्तहरि, नीतिशतक

वास्तव में साहित्य, संगीत तथा कला के बिना मनुष्य पशु के समान रहता है। चर–अचर सभी में सौन्दर्य की उद्भावना के फलस्वरूप ही लोक-चित्र कला का प्रतिफलन हुआ है। लोक–चित्रकला मानव तथा लोक संस्कृति के विकास के विभिन्न स्तरों का चित्रित स्वरूप है। लोक–चित्रकला जीवन के विविध पक्षों जीवन के विविध को उदघाटित करती है। जीवन के विभिन्न रंग इसमें बिखरे हैं। मनुष्य का सौन्दर्यबोध विराट है। वह सृष्टि को अपने विचारों और कार्यों में समेटना चाहता है। सृष्टि के सृष्टा की "एकोअहं बहुस्याम" इच्छा ही लोक–चित्रकला के माध्यम से अभिव्यक्त हुई है। लोक–जीवन का कला से सम्बन्ध अन्तरगुम्फित है। लोक भावना एवं सामुदायिक चेतना लोक चित्रकला का मन है। यह किसी से सम्बन्ध या व्यक्ति की थाती नहीं है, बल्कि समूह का विषय है। समूह के प्रत्येक व्यक्ति को इसकी जानकारी होती है, और वे थोड़े अन्तर से उनमें सहभागी बन जाते हैं।

लोक–चित्रकला का अटूट और आत्मीय सम्बन्ध उस जमीन और क्षेत्र से होता है, जहां वह जन्म लेती है। लोक–वातावरण में लोक मानस मे फलती–फूलती है। क्षेत्र विशेष की परम्परा, जीवन पद्धति और प्राकृतिक परिवेश सभी मिलकर लोक-कलाओं का स्वरूप निर्माण करते हैं। प्रकृति और मनुष्य का ताल–मेल से ही मानवीय मूल्य उत्पन्न होते हैं। प्रकृति की यही सामूहिक भावना मनुष्य ने देखी। श्री श्याम सुन्दर दुबे ने अपने आलेख "मानवीय मूल्य और लोक–साहित्य" में लिखा है–

"जंगल में एक साथ बसंत आता है, एक साथ पतझर, यह जंगल की सामूहिक चित्रवृत्ति का ही मनःकल्प है। वन, नदी, निर्झर और विस्तृत आकाश के सान्निध्य ने मनुष्य को सामाजिक उष्मा के अनुभव क्षण प्रदान किये। भू–धरों, नदियों, वृक्षों और फसलों की उदारता ने मनुष्य का परमार्थ की

उच्चतम संकल्प भावना प्रदान की। सूर्य के अनुशासन और तप ने उसे कठोर जीवन प्रणाली क सहजात गुण, श्रम–निष्ठा से परिपूर्ण किया। प्रकृति प्रदत्त मानवीय मूल्य क्षमा, करूणा, दया, परोपकार, प्रेम, शान्ति, धेर्य आदि मनुष्य के जीवन को भावात्मकता प्रदान करते हैं। इन्हीं मानवीय मूल्यों का समावेश लोकचित्रों से सम्बन्धित कथाओं में भी होता है। सामूहिक सम्वेदना तथा ईश्वर की महत्ता कथा कहानियों के मुख्य आधार हैं।"

लोक–चित्रकला अधिकतर जीवन में सहज प्रसन्नता लाती है। चित्रांकन पर्व, उत्सव व त्यौहारों का आगमन बदलती ऋतुओं और फसल की बनी, कटाई तथा भण्डारण आदि के साथ होता है। तब वह श्रम, पुरुषार्थ तथा ईश्वरीय आस्था की प्रतीक बन जाती है। वह जीवनी शक्ति का संचार करती है। लोक–चित्रों में संस्कृति के मूल–भूत स्पन्दनशील लोक–तत्व घुले मिले रहते हैं, जो कि न सिर्फ जीवित हैं, बल्कि वर्तमान में आत्मिक शक्ति का विकास भी कर रहें हैं।

लोक चित्रकला, लोक–संस्कृति के शताब्दियों के अनुभव रहन–सहन, हास–उल्लास, दुःख–व्यथा, रीति–रिवाज, विश्वास तथा मान्यताओं के साथ आगे बढ़ती आई है। संस्कृति में अनेक परिवर्तन हुए उसकी दशायें बदली, सांस्कृतिक परिवर्तनों में विश्वासों के रूप बदले, किन्तु वे टूटे नहीं, जिससे उन विभिन्न अवस्थाओं में भी तारतम्य बना रहा। विकासक्रम में जो अनावश्यक है, वह पुराने पत्ते की तरह अपने आप झड़ जाता है और नई कोपलें उगती है। जिस प्रकार राजा रघु के समय गन्ने के खेत में काम करने वाली स्त्रियाँ रघुवंश की कीर्ति के जो गीत गाती थीं उसी से प्रेरित होकर वाल्मीकि की रामकथा आगे बढ़ी। प्रागैतिहासिक काल की भावनायें, आस्थायें और कल्पना ही तो ऋग्वेद में संयोजित है। भारतीय संस्कृति ने आदिवासी रूप से शास्त्रीय रूप तक आते–आते एक बड़े अन्तराल का सहज और लम्बा मार्ग तय किया है। उसके परिवर्तन लोक–सहमति तथा स्वीकृति के आधार पर सर्वमान्य बने। केवल यह ध्यान रखा गया कि आरंभिक लक्षण और उनकी स्थापना से सामाजिक सन्तुलन में कोई अव्यवस्था न हो जाये। इसके लिये आवश्यकता होती है केवल सांस्कृतिक मूल्यों के पुर्न–जागरण और उनमें पुनः आस्था जगाने की। लोक चित्रकला सदैव जीवन्त रही। समाज में गहरे तक उसकी जड़ समाई है। आदिकाल से सहज प्रतीकों एवं बिम्बों के माध्यम से बुन्देलखण्डवासी परम्परागत लोक–चित्रों को पारम्परिक साधनों के साथ चित्रित करते आये हैं।

लोक–चित्रकला का सरल और स्वाभाविक रूप वास्तव में ग्रामीण क्षेत्रों में मिलता है। किन्तु वर्तमान में ग्रामीण जीवन का पुराना आधार तेजी से ह्रास हो रहा है। अब राजनैतिक और आर्थिक प्रभावों से गांव अछूते नहीं रहे हैं। ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा के प्रचार–प्रसार से जागरूकता आई है। शिक्षित होने

के कारण बाह्य आडम्बर तथा 'शहरी बाबू'' बनने की ललक ने उन्हें गांव की 'गैल' (रास्ता) भुला दी है।

इसी भावना ने सामान्य जन के जीवन जीने की पारम्परिक शैलियों की शक्ति की उपेक्षा और अवमूल्यन किया। जब हम लोक–चित्रकला के माध्यम से लोक मानस की गहराइयों में जाते हैं। तब हमें ऐसे अनेक तत्व मिलते हैं जो विभिन्न समुदायों के बीच विभाजन की रेखा खींचने के बदले मानव एकता की भावना को सुदृढ़ करते हैं।

ग्रामों में ही नहीं, वरन् शहरों में भी सदैव से एक बहुत बड़ा वर्ग लोक–चित्रकला का संवाहक रहा है। यदि हम प्राचीन काल से वर्तगान तक के लोक–चित्रकला इतिहास के बारे में सोचे तो वह सदैव परिवर्तनशील प्रतीत होगा। इसमें औद्योगीकरण और आधुनिकीकरण को प्रभाव से अनेक परिवर्तन हुए हैं। भित्ति चित्र दीवारों को गंदा करेंगे, श्रम लगेगा इस सोच ने उन्हें छपे हुए चित्रों में परिवर्तित कर दिया है जैसे– दीपावली, करवा चौथ, अहोई अष्टमी आदि। आधुनिक संस्कृति वर्तमान में अब जिन मूल्यों और जीवन दृष्टि से संचालित हो रही है वह परम्परागत लोक–संस्कृति में मेल नहीं खाते हैं। अतः दोनों के संघर्ष में लोक चित्रकला का ह्रास हो रहा है। इसी प्रकार आधुनिक सभ्यता और संस्कृति की विस्तार वादी प्रवृत्ति ने भी किया है। ऐसी स्थिति में लोक और अभिजात्य भावों के मध्य स्पष्ट भेद करना आवश्यक है। लोक–चित्रकला के भविष्य पर आधुनिक, सामाजिक तथा आर्थिक शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में ही विचार करना सार्थक है। अठारहवीं और उन्नीसवीं शताब्दी में आधुनिकीकरण की धारणा का प्रभाव लोक कला के लिये अत्यन्त घातक रहा। इन शताब्दियों में व्यक्तिवाद, प्रतिस्पर्धा और असीमित धनार्जन को आधुनिकता का अनिवार्य लक्षण माना जाता था इस कारण उस समय लोक चित्रकला को बिना किसी अपराध बोध के आधुनिकता के नाम पर नष्ट तथा विस्मृत कर दिया गया। किन्तु बीसवीं शताब्दी में मानव जीवन में व्याप्त आधुनिकता तथा प्राविधिक शक्तियों का मोह भंग हुआ। जिससे अठारहवीं ओर उन्नीसवीं शताब्दी के मूल्यों के प्रति आश्वस्त कम होने लगी धीरे–धीरे सामाजिक व्यवस्था को सामुदायिक हित परस्पर सहयोग और सुरक्षा की भावनाओं पर आधारित करने के प्रयास किये जा रहे हैं। इसके लिये हमें ग्रामत्व की अच्छाईयों से नागरिकता की अच्छाइयों को जोड़ना होगा। स्पष्ट है कि यदि हमारी लोक–जीवन के यथार्थ के प्रति समझ साफ है हमारे भीतर का उच्च होने का अहंकार नष्ट प्राय है, हमारी शक्ति का विभाजन करके राज करने की महत्वाकांक्षा बदल गई है, तभी हम लोक कला के व्यापक रूप को पहचान सकेंगे। किन्तु हमें यह विस्मृत नहीं करना है, कि विकास भावना के सहारे ही हमारी विश्व–बन्धुत्व भावना का विस्तार हुआ है। जिससे सम्पूर्ण विश्व एक दूसरे के समीप आ गया है। जिससे हमारी क्षमताओं का विकास हुआ है। हमें लोक कला से दूर रखने में महत्वपूर्ण भूमिका है,

आधुनिक जीवन पद्धति की। ऐसी स्थिति में सामुदायिक चेतना से अनुप्राणित लोक–कला के संरक्षण के प्रति हमें गंभीरता पूर्वक विचार करना है। इसके लिये सर्व प्रथम हम अपनी लोक–कला के प्रति हीन गंथि से ग्रसित न हों अपना दृष्टिकोण विकसित करें ताकि ग्रामीण व शहरी सभ्यता के मध्य सम्बन्ध स्थापित रहें। करेगा। हमारा स्वस्थ, आत्मीय और मानवीय दृष्टिकोण ही लोक–कला का भविष्य सुरक्षित करेगा। लोक–कला के प्रति हमारा अपनत्व बोध आवश्यक है। इसके साथ सांस्कृतिक मूल्यों के पुर्नजागरण की आवश्यकता भी है। उनके प्रति आस्था ही हमें उनके मूल स्वरूप से परिचित करायेगी जिससे उसके विशाल प्रेममयी एकरूपता के दर्शन होंगे। लोक–कला के विकास हेतु नवीन विकल्प खोजने होंगे। जीवन के बदलते आयाम इस दृष्टि में परिवर्तन ला रहे है। अभी लोक–कला का व्यवहारवादी पक्ष पूरी तरह विश्रृंखलित नहीं हुआ है। आवश्यकता है, सहृदयतापूर्वक उसे समेटने की संजोने की, अपनी सांस्कृतिक धरोहर के प्रति आत्मीयता और सम्मान का यह प्रथम चरण है जो भावना का उद्वेलन कर लोक–कला के भविष्य को तय करेगा।

सम्बन्धित अवसरों पर लोक चित्रकला की स्वतंत्र अभिव्यक्ति आवश्यक है। उन्हें प्रदर्शन और विकास के समान अवसर प्रदान किये जायें। प्रबुद्ध वर्ग और अभिजात्य वर्ग लोक–कलाओं का शोषण न कर बल्कि पोषण करने की प्रवृत्ति रखे। लोक कलाओं को क्षेत्र में विभक्त न करें, बल्कि अन्य क्षेत्रों की लोक–कलाओं से सम्बन्ध स्थापित कर उनमें राष्ट्रीय एकता तथा समरसता की भावना का उदय करने की आवश्यकता है।

वर्तमान में कुछ विद्वानों और विचारकों का मत है कि लोक–कला ज्यों की त्यों रहनी चाहिये उसे प्रचार–प्रसार तथा संचार माध्यमों की आवश्कता नहीं है, किन्तु यह सोच सही नहीं है। यह अकाट्य सत्य है कि अतीत को याद न करना या उस चर्चा न करना उसे पतन की गर्त में ले जाता है। लोक–कला का प्रचार–प्रसार उसे पीढ़ी–दर–पीढ़ी लोकप्रिय और व्यवहार रूप में लाने में सहायक होगा। तथा लोक–कलाकार भी अपने को विशिष्ट मान कर कला के प्रत्येक कोण को उजागर करने में सफल होंगे। लोक–कला से जुड़े पौराणिक आख्यान, आवश्यकतायें तथा कथायें महत्व सहित प्रकाश में आयेंगी।

लोक कलाकार तथा प्रबुद्ध वर्ग के मध्य लोककला से सम्बंधित संवाद होना भी आवश्यक है। संवाद की सार्थकता लोक–कला की विशद व्याख्या प्रस्तुत करेगी। संवाद का अभिलेखीकरण तथा समयान्तर में बार–बार पुर्नसंवाद विषय की महत्ता समान रूप से बनाये रखेगा। इन प्रयत्नों से समाज में व्याप्त विकृतियों एवं अर्थहीन पाश्चात्य अनुकरण समाप्त होकर सुमार्ग प्रशस्त होंगे।

लोक–कला में निहित नैतिक व सांस्कृतिक मूल्यों का जीवन शैली मे समावेश संस्कृति रक्षा में

सहायक होगा इससे हम संस्कृति मूलक भ्रम, उन्माद तथा वितण्डावाद जैसी व्यक्तिगत और सामाजिक बीज प्रश्नों से बचते हैं।

लोक–कला के माध्यम से हम अपनी महान सनातन लोक–संस्कृति को पहचानते हैं। हम अपनी परम्परा की नींव के सम्पर्क में रहकर अपनी जीवनी शक्ति को पहचानकर सांस्कृतिक और सामाजिक विसंगतियों को दूर रखने का प्रयास करते हैं। पाश्चात्य सभ्यता से प्रभावित विवेकहीन प्रश्नों के सार्थक तथा सारगर्भित उत्तर देने के स्थिति केवल भारतीय मूल संस्कृति तथा लोक कलाओं से ही संभव है। वर्तमान वातावरण में पाश्चात्य आधुनिकरण और उन्माद जैसी अनेक समस्यायें भी उत्पन्न हो रहीं हैं। हमारा अपनी संस्कृति तथा कलाओं के सम्बन्ध में उदासीनता और अल्पज्ञान ही समस्याओं का जनक है।

व्यक्ति को कला व संस्कृति से अपने को अलग नहीं समझना चाहिये। यदि हमारे व्यक्तित्व में इनका भाव और विशेषतायें नहीं होंगी तो हमारे व्यक्तित्व की पहचान समाप्त हो जायेगी। व्यक्ति का मन और तन दोनों की सामंजस्यता ही देशज कला संस्कृति का भविष्य तय करती है। हम जो हैं, वहीं विचार और कर्मों से लगें यहीं कला और संस्कृति के उज्जवल भविष्य के लिये आवश्यक है। लोक कलाओं के प्रति दुराग्रह एवं पूर्वाग्रह त्याग कर सामान्य दृष्टिकोण अपनायें। लोक कलाओं की विकास गति को अवरुद्ध न कर, उत्कर्ष के मार्ग प्रशस्त करें। हम सबका उत्तरदायित्व है।

आधुनिकीकरण के प्रबल आग्रह के बावजूद जातीय स्मृतियाँ सशक्त ढंग से उभर कर सामने आ रही हैं। जाति वैयक्तिकरण ने एक अजीब सी दिशाहीनता की स्थिति उत्पन्न कर दी है जो निजी एवं सामाजिक हितों पर हावी हो गयी हैं। लोक चित्रकला के जिस वैकल्पिक भविष्य की खोज हम सब कर रहे हैं उसके लिये अमानवीयकरण, औद्योगिक शक्ति और सामाजिक संबंधों का आधार बदलना होगा।

एक ओर हम अपनी संस्कृति पर गर्व करते हैं उसके संरक्षण की बात करते हैं। दूसरी ओर लोक–संस्कृति के संवाहक ग्राम तथा ग्रामवासियों के प्रति अपना संकुचित व्यक्तिगत दृष्टिकोण नहीं बदलते है। शिक्षित वर्ग लोक संस्कृति के भविष्य के प्रति केवल चिन्तित हैं, किन्तु क्रियान्वयन करने हेतु कोई निश्चित योजना उसके पास नहीं है। लेकिन वह इच्छा रखता है कि संस्कृति जीवित रहे। बिना किसी आश्रय या प्रोत्साहन के आज के अर्थिक युग में कला का जीवित रखना असम्भव है। ग्रामीण अपनी कठिन दिनचर्या, कठोर श्रम और आर्थिक तंगी से जूझते हुए लोक कला के सुन्दरतम रूप की रक्षा करने में सक्षम नहीं हैं। गांवों में लोक–कलाओं का महत्वपूर्ण आधार आर्थिक है। समूचा गांव एक

जैसी संस्कृति से बंधा रहता है। जिसके अन्तर्गत वे एक दूसरे को जीवन–यापन के साधन मुहैया कराते हैं। कुम्हार, बढ़ई, लुहार, चितैरे सभी एक दूसरे पर अर्थिक रूप से आश्रित रहते हैं। ग्रामीण अर्थ व्यवस्था का यही स्वरूप लोक–कलाओं को फलने–फूलने का अवसर प्रदान करता है। जीवन में समृद्धि, स्वास्थ्य और जीवन–यापन के भरपूर साधन होंगे तभी तीज–त्योहार तथा उत्सवों का आनन्द लिया जा सकेगा। क्योंकि विशेष अवसरों पर ही लोक–कला का वास्तविक रूप देखने को मिलता है।

ग्रामीण क्षेत्रों में शिक्षा प्रचार–प्रसार तथा सूचना प्रौद्योगिकी के विस्तार से जन जागरुकता आई। ग्रामवासी समझने लगे कि देश विकास कर रहा हे, किन्तु वास्तव में वे पुरातन परिस्थितियों में ही जी रहें हैं। इसी में उन्होंने अपने सुन्दर भविष्य के सपने संजोना प्रारम्भ कर दिया। उनकी सोच गलत भी नहीं है। यह उनका सामाजिक अधिकार है। किन्तु यह विचार–धारा लोक–कला के लिये हानिकारक सिद्ध हुई। क्योंकि उन्नति करने के लिये सर्वप्रथम ग्रामीणों ने अपनी वेशभूषा, बोली तथा पारंपरिक कलाओं का त्याग किया, वे उसे पिछड़ापन मानने लगे। अधिक धनोपार्जन करने हेतु नवीन उद्योग धन्धों में उनकी रूचि बढ़ गई। यह स्थिति लोक–कला विकास में घातक सिद्ध हो रही है। यहां उल्लेखनीय है कि वे विचारक जो विश्व पटल पर लोक संस्कृति तथा लोक–कला के महत्व को जानते हैं। वे यह नहीं चाहते कि लोक–कला को प्रदर्शनकारी या धनोपार्जन का साधन बनाया जाये। किन्तु वे यह अवश्य चाहते हैं कि वह जीवित रहे। उनका यह सोचना कि व्यावसायिकता या प्रदर्शन लोक–कला का पतन के कारण है गलत ही होगा, बल्कि वास्तविकता तो यह है कि परम्परागत कलायें जो मृत प्रायः स्थिति में हैं उनमें प्राण स्थापना एवं लोगों में उनके प्रति अभिरूचि जगाना उज्जवल भविष्य के लिये अत्यन्त आवश्यक है। कलाकार ही स्वयं अपनी कला का संरक्षक होता है। कला का संरक्षण या कलाकार को आर्थिक आधार देना दोनों समान बातें हैं। आज आर्थिक युग में कलाकार को सुविध ााओं से वंचित करना ठीक नहीं होगा। जब किसी विशिष्ट शिक्षा प्राप्त व्यक्ति, उसी शिक्षा को अपने जीवन यापन का साधन बनाता है जैसे– इंजीनियर, डाक्टर, शिक्षक, वकील आदि, तो एक लोक–कलाकार अपनी लोकविधा ज्ञान से धनोपार्जन करे तो विरोधाभास क्यों? कला पर ही जीवनयापन करते–करते वह कलामय संसार की रचनात्मकता में डूबता उतराता है। समाज में मान–सम्मान पाकर उसकी आत्म संतुष्टि होना स्वाभाविक है। वर्तमान में हम इस दृष्टि से देखें तो यही पाते हैं कि जिस कला को राज्य और राष्ट्रीय स्तर पर आश्रय तथा सम्मान प्राप्त हुआ तो उसका प्रदर्शन, प्रभाव और महत्व सभी ने जाना और सराहा। सम्बन्धित क्षेत्र के कलाकार प्रशंसा पाकर गौरवान्वित हुए, जिससे ग्राम्य चेतना का विकास हुआ। वे सामूहिक रूप से लोक–कला के संवर्द्धन में जुट गये। पुस्तक के अध्याय–6 में यह वर्णन है कि बुन्देलखण्ड में जब तक कला और कलाकारों को राज्याश्रय प्राप्त रहा तक तक लोक चित्र कला पुष्पित–पल्लिवित हुई।

अतः इसी तरह वर्तमान में भी उसके पुनरुत्थान हेतु संरक्षण आवश्यक है। लोक–कला का राष्ट्रीय स्तर शहरी ग्रामीण दोनों क्षेत्रों का प्रभावित करेगा। वह जन–जन की लोकप्रियता अर्जित करने की सामर्थ्य रखती है।

नई पीढ़ी अपनी लोक संस्कृति को पहचाने तथा उसमें भागीदारी बनाये इसके लिये जागरुकता की आवश्यकता है। क्षेत्रीय स्तर पर लोक–चित्रकला की प्रतियोगिता, कार्यशालायें आयोजित कर पारम्परिक चित्र बनाने वाले कलाकारों को प्रोत्साहित करने के उद्देश्य से पुरुस्कृत किया जाये। इस अवसर पर पुरूस्कृत चित्रों की सामूहिक प्रदर्शनी लगाना भी लोक–चित्रकला के हित में होगा।

प्रतिस्पर्धा की भावना से विलुप्तोन्मुख लोक–चित्रकला का सुन्दर–सहज स्वरूप आमने आयेगा और सभी को आनन्दित करेगा। जिससे सामूहिक–चेतना तथा कलाकार में आत्मविश्वास जागृत होगा।

लोक चित्रकला को सम–सामयिक बनाने के उद्देश्य से लोक–चित्रकला संगोष्ठियों का वृहद स्तर पर आयोजन किया जायें जिसमें युवा वर्ग सहभागी बने। विषय वस्तु के अनुसार लोक चित्रों की आकृति, उपादान, अवसर सम्बन्धित कथा–कहानी तथा उनके निहित नैतिक संदेश आदि सभी पक्षों पर सम–सामयिक दृष्टि से प्रकाश डाला जाये। वर्तमान वैज्ञानिक युग में विषय के वैज्ञानिक विश्लेषण की भी आवश्यकता है।

इस प्रकार की संगोष्ठियों का उद्देश्य भावी पीढ़ी के मन–मस्तिष्क में लोक–चित्रों के प्रति रूचि जागृत करना हो। इस अवसर पर लोक–चित्रकारों द्वारा चित्रों को बना कर प्रशिक्षण देना भी विषय–वस्तु को महत्व प्रदान करेगा। लोक–चित्रकार शिक्षक के समान लोक–चित्र बनाने की सही तकनीक बतायेगा। बुन्देलखण्ड की लोक–प्रियता को प्रचार–प्रसार तथा शासकीय संरक्षण की भी महती आवश्यकता है।

बुन्देलखण्ड की लोक–चित्रकला की प्राचीन स्थिति तो बहुत समृद्ध रही है, किन्तु वर्तमान में दुर्ग और मंदिरों की भित्ति पर बने अधिकांश चित्र समय के साथ धूमिल हो गये हैं। अधिकतर समाप्ति की कगार पर हैं। उन्हे संरक्षण की आवश्यकता है वर्तमान की भौतिकतावादी जीवन शैली में प्राचीन कला–संरक्षण की ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा है। यदि यही स्थिति रही तो आगामी समय में बुन्देलखण्ड की प्राचीन लोक चित्रकला का अस्तिव समाप्त हो जायेगा। चित्रों के संरक्षण हेतु शासन के साथ स्वयंसेवी संस्थायें भी आगे आयें। यहां एक समस्या यह है कि भित्ति का पलस्तर उखड़ जाने से चित्र नष्ट हो गये हैं। शासन द्वारा ऐसे चित्रों की अनुकृति बनवाई जा सकती है। इस कार्य में चित्रकार अवश्य रूचि लेंगे। अनुकृति हेतु कार्य करते समय उनमें प्राचीन बुन्देली शैली के और चित्र बनाने की प्रेरणा तथा रूचि जागृत की जा सकती है, जिससे कला संरक्षण के साथ बुन्देली कला का

उन्नयन भी संभव है। बुन्देली कलम के लघु चित्र वर्तमान में भी उपलब्ध हैं। उनके चित्र लक्षण, विध ाान तथा तत्वों का अध्ययन एवं विश्लेषण करने से बुन्देलखण्डी चित्रकला के सुप्त पड़े अध्याय का पुर्नजागरण अवश्यम्भावी है। बुन्देलखण्ड को राजस्थान, बिहार, दक्षिण, बंगाल, हिमाचल आदि की लोक चित्रकला से भी प्रेरणा लेना चाहिये, उन सभी क्षेत्रों की चित्रकला का प्राचीनकाल से आज तक निरन्तर संरक्षण, संवर्द्धन तथा प्रदर्शन होता रहा है। जिससे वे कला क्षेत्र में अपना महत्वपूर्ण पहचान और स्थान बनाये हुए हैं। यदि बुन्देलखण्डवासी तथा चित्रकार ही लोक–चित्रकला के पुनरुद्धार हेतु कटिबद्ध हो जाये तो तभी बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला का उन्नयन होगा और भविष्य उज्जवल बनेगा। तभी बुन्देलखण्ड की लोक चित्रकला चिरस्थायी होकर, समाज और संस्कृति का सचित्र रूप प्रस्तुत कर सकेगी।

।।इति शुभम्।।

संदर्भ ग्रंथ

रामायण - वाल्मीकि

महाभारत - वेदव्यास

रामचरित मानस - तुलसीदास

अग्नि पुराण

मार्कण्डेय पुराण

पद्म पुराण

मत्स्य पुराण

गरुण पुराण

विष्णु पुराण

वाराह पुराण

श्री मद् भागवत - वेद व्यास

ऋग्वेद

देवी भागवत

नाट्य शास्त्र - भरत मुनि

भारतीय चित्रकला - वाचस्पति गैरोला

कला के दार्शनिक तत्व - डॉ0 चिरंजीलाल झा

भारत की चित्रकला का संक्षिप्त इतिहास - श्री लोकेश चन्द्र शर्मा

बुन्देलखण्ड की संस्कृति और साहित्य - श्री रामचरण हयारण "मित्र"

मुगलों के अन्तर्गत बुन्देलखण्ड का सामाजिक
आर्थिक और सांस्कृतिक, इतिहास (1531-1731) - डॉ0 भगवानदास गुप्त

बांदा के नवाबों का इतिहास (1791-1857) - डॉ0 राजकुमार भाटिया

लोकाचरण - डॉ0 गनेशी लाल बुधौलिया

प्रतीक शास्त्र - श्री परिपूर्णानन्द

बुन्देलखण्ड की चित्र साधना (अप्रकाशित) - डॉ0 जी0पी0 शुभेष

बुन्देलखण्ड का इतिहास (प्रथम भाग) - दीवान प्रतिपाल सिंह

अंधकार युगीन भारत - डॉ0 काशी प्रसाद जायसवाल

मध्यदेश का इतिहास - डॉ0 हीरालाल

आल्ह खण्ड - महाकवि जगनिक

चंदेल और उनका राजत्व - केशव चन्द्र मिश्र

तिलक मंजरी - धनपाल

धर्म दर्शन की भूमिका - डॉ0 जयप्रकाश शाक्य

मध्य प्रदेश के पुरातत्व की रुपरेखा - श्री मोरेश्वर गंगाधर दीक्षित

मोस्ट प्रिमीटिव आर्ट - श्री एम0सी0 वर्किट

दि हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि इण्डियन पीपुल, वैदिक एज - श्री आ0सी0 मजूमदार

इन्साइक्लोपीडिया और रिलीजन एण्ड एथिक्स - प्रो0 पी0 गार्डनर

संदर्भ पत्रिकायें

मामुलिया (छतरपुर) — सम्पादक - डॉ0 नर्मदा प्रसाद गुप्त

चौमासा (भोपाल) — सम्पादक - डॉ0 कपिल तिवारी

भित्ति चित्र, लक्ष्मी मन्दिर, ओरछा

उत्कीर्ण (उकेरी) चित्र, सतखंडा महल
दतिया

समाधि स्थल, छतरी, दतिया
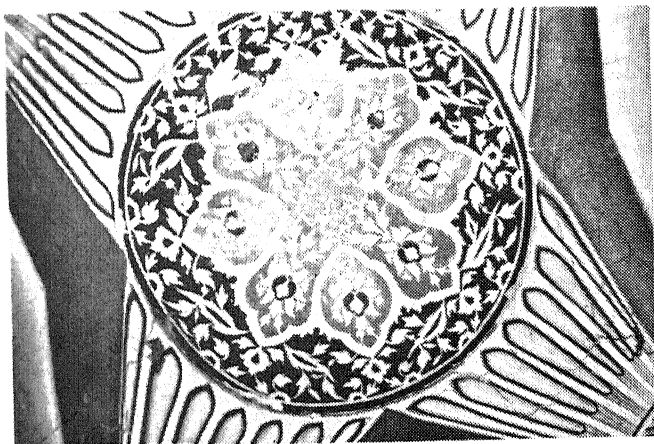
भित्ति चित्र, रानी महल, झाँसी

लघु चित्र, बुन्देली शैली
चित्रकार सुखलाल द्वारा बनाया।

भित्ति चित्र, रानी महल, झाँसी
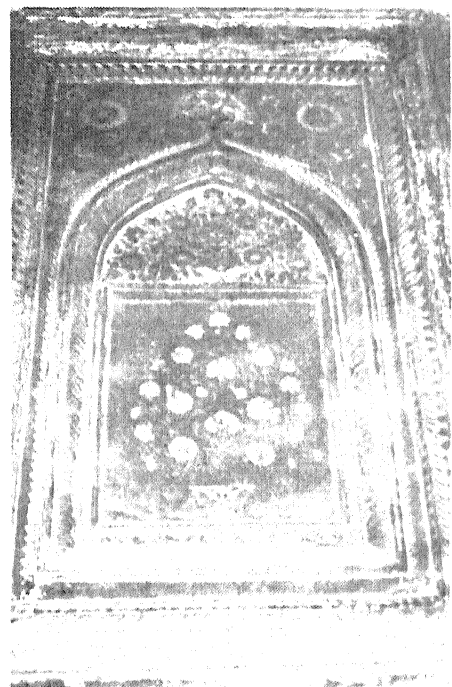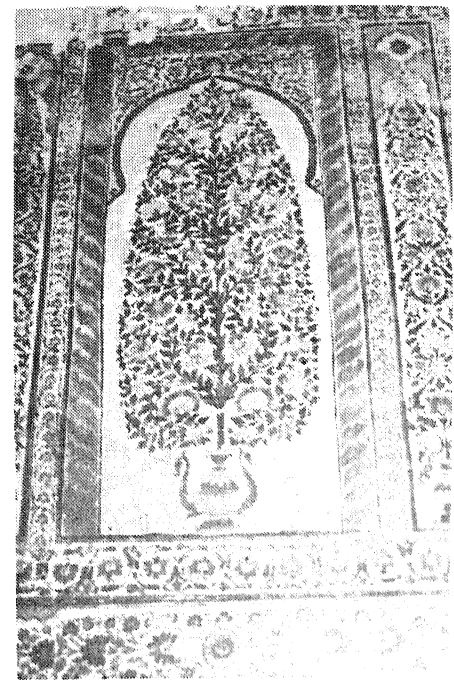
शुद्धि पत्र

पृष्ठ संख्या	पंक्ति संख्या	अशुद्ध	शुद्ध
प्राक्कथन	२	मूल्य	मूल
अनुक्रमणिका	अध्याय–१	की उत्पत्ति	का स्वरूप
1	13	यजुर्देद	यजुर्वेद
1	14	जैजाक भक्ति	जैजाक भुक्ति
3	12	बाराह	वाराह
4	25	धुंग देव	धंग देव
5	6	पराजित विजय	पराजित कर विजय
6	12	सोहन वाल	सोहन पाल
6	28	किंवदन्ति	किंवदन्ती
7	3	जहंगीर	जहाँगीर
7	10	का	को
7	19	पन्न	पन्ना
8	20	विन्ध्याक्षेत्र	विन्ध्यक्षेत्र
9	13	अंग्रजी	अंग्रेजी
17	3	पोषाक	पोषक
17	5	अर्थषास्त्र	अर्थशास्त्र
17	7	षब्दों	शब्दों
17	12	ही	हीं
17	19	शीष	शीश
21	10	उनका	उनके
32	27	उदान्त	उदात्त
43	8	या	तथा
43	17	का	को
43	20	सुना	सुनाये
48	18	करे	को
49	1	देवाः	देवी
50	9	घाट्टित	घट्टित
51	12	ज्ञात	ज्ञाता
51	18	रावण	लंका
52	19	अप्रभंश	अपभ्रंश
55	26	एंव	एवं
59	4	त्योंहारों	त्योहारों
61	6	गुल	शैल
61	6	गोहा	गुहा
61	17	कालाकार	कलाकार
65	1	प्रधाना	प्रधान
69	7	घथरांय	घहरांय

69	20	रचियता	रचयिता
70	6	चलाने	चलाते
70	7	कहरव	कहरवा
70	8	प्रशारित	प्रशस्ति
70	10	वाद्योां	वाद्यों
73	10	गई चित्तकर्षक	गई चित्रकारी चित्तकर्षक
74	5	अनुरजित	अनुरंजित
74	6	तथा एवं	तथा
80	20	हाता	होता
93	11	जात	जाता
102	14	षंडयन्त्र	षड्यन्त्र
119	18	ओर	और
120	19	मल्हाना	मल्हना
142	8	ननंद	ननद
146	8	अर्थववेद	अथर्ववेद
147	17	चक्रकार	चक्राकार
152	2	आकार	आभार
157	24	बनो	बने
158	4	बृहस्पति	बृहस्पति कुण्ड
162	15	आर्कषण	आकर्षक
166	18	विश्रामवस्था	विश्रामावस्था
167	7	बिहार	विहार
168	16	अधिपत्य	आधिपत्य
169	9	लगया	लगाया
169	13	भगा	भाग
169	16	की	भी
169	21	के	मे
176	1	पुच्छ विषाण ही न	पुच्छ विषाण हीनः
176	15	का	के
176	18	सनिध्य	सानिध्य
177	1	क	के
177	3	धेर्य	धैर्य
177	4	संम्वेदना	संवेदना
178	21	आश्वस्त	आश्वस्तता
179	4	करेगा।	–
180	7	आधुनिकरण	अंधानुकरण

पृष्ठ 161-162 के मध्य का चित्र पुस्तक के अन्त में संलग्न है।
पुस्तक के सभी चित्र डा० श्रीमती मधु श्रीवास्तव द्वारा निर्मित है।